

1756

चलें मन के पार

महोपाध्याय चन्द्रप्रभासागर

चलें, मन के पार

महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभ सागर

श्री जितयशाश्री फाउंडेशन, कलकत्ता

चलें, मन के पार :

श्री चन्द्रप्रभ

प्रकाशक :

प्रकाश दफ्तरी

श्री जितयशा श्री फाउंडेशन,

९ सी, एस्प्लानेड ईस्ट,

कलकत्ता - ७०००६९

प्रकाशन वर्ष : १९९३

मूल्य : ३० रुपये

आवरण :

ब्रेन डिजाइन & ग्राफिक, सूरत

मुद्रक :

नई दुनिया प्रेस, इन्दौर

गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी की प्रेरणा से अंचलगच्छीय साध्वीवर्या श्री महाप्रज्ञाश्रीजी, श्री विश्वदर्शनाश्रीजी के वर्षीतप पर श्रीमती रतन बहिन हीरजी वीरा, कच्छ निवासी/बम्बई के सौजन्य से प्रकाशित ।

प्रवेश

‘चलें, मन के पार’ महामना महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभ सागर का वह सृजन है, जो उस यात्रा के लिए संकेत दे रहा है, जहाँ एक भव्यता हमारी प्रतीक्षा कर रही है। पुस्तक का प्रत्येक लेख, पृष्ठ, पंक्ति, शब्द ठेठ मन के सागर को गहराई से निहारकर लिखा गया है। इसका लेखन बुद्धत्व और सिद्धत्व की दिशा में एक मनीषी का स्वस्थ संकेत है। इसलिए इन वचन-वक्तव्यों को स्वर्ण-सूत्र कहने की बजाय हीरक-सूत्र कहना सच्चाई के ज्यादा करीब है। हीरक-सूत्र सुनने और पढ़ने में भले ही कुछ लीक से हटकर लगें, पर ये बातें हीरों की हैं, हीरों के पारखियों के खातिर हैं।

महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभ सागर वे चिन्तन-मनीषी हैं, जिन्होंने ध्यान और साधना के मार्ग में दक्षिण की सलिल-तलहटी से उत्तर के हिम-शिखर तक सफर किया है। उन्होंने चैतन्य के सभी शिखर-पुरुषों की ध्यान-विधियों का रसास्वादन किया है, योग से परिचित हुए हैं, और मन में, मन के पार पहुँचे हैं। सांप्रदायिक बनाम वैचारिक संकीर्णताओं और कुंठित सीमाओं से हटकर श्री चन्द्रप्रभ सागर ने पतंजली, महावीर, बुद्ध से लेकर अरविंद और ओशो तक के अन्तर-विचारों को आत्मसात् किया है। ध्यान की व्याख्या करना तो शायद बहुतों के लिए संभावित है, लेकिन श्री चन्द्रप्रभजी ने ध्यान के अनंत आयामों की न केवल परिचर्चा की है, अपितु निजी जीवन में पल्लवित एवं पोषित भी किया है। उनके पाँव शिखर की ओर हैं और सिर शिखर के करीब। यह कोरी कथनी नहीं है, आमने-सामने की अनुभूति है।

निश्चित रूप से यह धरती का सौभाग्य है कि अस्तित्व के कुछ अनजाने इंतजामों के कारण भारत की मनीषा को और अधिक साफ-सुधरा करने के लिए एक मनीषी मिला है। इनका सामीप्य घुटन-भरी जिंदगी में शांति की तलाश है, वही इनके सानिध्य में ध्यान में डूबना, रमना, जीना मरुस्थल में मरुद्यान की संस्तुति एवं

अनुभूति है। देश-विदेश से आकर लोग उनसे जुड़ रहे हैं। अपनी जिज्ञासाओं की आपूर्ति कर रहे हैं, अध्यात्म में नए सिरे से प्रवेश पा रहे हैं। सचमुच चन्द्रप्रभजी की हार्दिकता का संस्पर्श दूर तक असर करने लगा है।

'चलें, मन के पार' पुस्तक में श्री चन्द्रप्रभजी ने मन की पर्वत-दर-पर्वत उघाड़ने की कोशिश की है। मन के विज्ञान से रू-ब-रू होने के लिए तीस निबंधों का यह अनमोल संग्रह सौ फीसदी उपयोगी है। मन की हर संभावना पर सर्वांगीण प्रकाश डालकर श्री चन्द्रप्रभजी ने मनुष्य के सम्पूर्ण मस्तिष्क का सर्वक्षण करा दिया है। हमारी ऊर्जा, जो मन के माध्यम से सौ भागों में बंटी हुई है, ध्यान का सहारा लेकर उसका एकत्रीकरण मन-से-मुक्ति-की-यात्रा है।

श्री चन्द्रप्रभजी ध्यान में स्वयं रमते हैं, जीते हैं। वैसे तो इनके जीवन का प्रत्येक क्षण ध्यान में ही है। वे जो कुछ करते हैं, ध्यान में, ध्यान से करते हैं। लेकिन सुबह-सौंझ जब वे 'ध्यानस्थ' होते हैं, ऐसा लगता है, अस्तित्व की आभा इनकी आँखों में आविष्ट हुई है। इस समय कुछ क्षण पास बैठने पर ऐसा अहसास होता है मानो बोधि-विहार की आबोहवा का अनूठा तिलस्म आस-पास है। उनका जो कुछ है ध्यान और मन की एकाग्रता के नतीजे के रूप में है। ध्यान से संबंधित उनकी अनेकानेक पुस्तकें देशभर में, बुक स्टॉलों में उपलब्ध हैं, वही स्तरीय सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख घर-घर में ध्यान के प्रति मानसिकता बनाने में कारगर हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में हम वाकिफ होंगे अपने उस मन से, जो दिन-रात ऊबाऊ पर्यटन करता रहता है, उस चित्त से जिसकी वृत्तियों और विकृतियों से हम परेशान हैं, अपनी उस आत्म-ऊर्जा से जो शिखर की बजाए तलहटी की ओर बह रही है। आखिर, हम क्या करें - प्रस्तुत पुस्तक में इसी का लेखा-जोखा है। कृपया पुस्तक को आप अपने ही विचार समझें; यह आपकी ही निधि है, और यों इसे सहज आत्मसात् हो लेने दें।

प्रकाश

अनुक्रम

१.	चलें, मन के पार	१
२.	अस्तित्व की जड़ों में	१०
३.	घुटन का आत्म-समर्पण	१५
४.	आइये, करें जीवन-कल्प	२२
५.	यह है विशुद्धि का राजमार्ग	३०
६.	वर्तमान की विपश्यना	३७
७.	चित्तवृत्तियों के आरपार	४४
८.	दृष्टाभाव : ध्यान की आत्मा	५२
९.	ऊर्जा का समीकरण	६३
१०.	दस्तक शून्य के द्वार पर	७६
११.	खोलें, अन्तर के पट	८५
१२.	जलती रहे मशाल	९४
१३.	वृत्ति : बोध और निरोध	१०५
१४.	चैतन्य-बोध : संसार से पुनर्वापसी	११४
१५.	संबोधि का कारण	१२२

१६.	चरैवेति-चरैवेति	१३०
१७.	ॐ : मंत्रों का मंत्र	१३८
१८.	सार्वभौम है ॐ	१४५
१९.	ध्यान : स्वयं के आर-पार	१५२
२०.	ध्यान : संकल्प और निष्ठा की पराकाष्ठा	१५८
२१.	समाधि का प्रवेश-द्वार	१६४
२२.	समाधि के चरण : एकान्त, मौन और ध्यान	१७५
२३.	ध्यान : प्रकृति और प्रयोग	१८४
२४.	ध्यान से सधती शान्ति, शक्ति, समाधि	१९३
२५.	श्वांस-संयम से ब्रह्म-विहार	२०१
२६.	षट् चक्रों में निर्भय विचरण	२१०
२७.	तुर्या : भेद-विज्ञान की पराकाष्ठा	२२०
२८.	चलें, बन्धन के पार	२२८
२९.	करें, चैतन्य-दर्शन	२३३
३०.	अन्तिम चरण - पूर्ण मुक्ति	२३९

चलें, मन के पार

चलें, मन-के-पार

अध्यात्म शरीर, वाणी और मन की प्रतिध्वनियों के पार है । शरीर और वाणी की कर्मठता सीधी और साफ है । बिना पैदे का लोटा तो मन है । घोड़े-की-तरह-खुंटी-करते-रहना मन की आदत है । अध्यात्म के साथ मन का कोई विनिमय-सम्बन्ध नहीं है । अध्यात्म विकल्प-मुक्ति है और मन विकल्प-युक्ति; अतः मन का अध्यात्म के साथ किसी भी प्रकार लेन-देन भला कैसे हो सकता है ? जीवन की सारी जीवन्तता और जिंदादिली यथार्थ के साक्षात्कार से जुड़ी है । मन का यथार्थता से भला क्या वास्ता ? जब उसके ही व्यक्तित्व की असलियत खतरे में है, तो सोने का सम्यक्त्व सही-सही कैसे आंका जा सकता है ?

मन यात्रालु है । परमात्मा को खोजने की बात भी वही कहता है और संसार का स्वाद चखने की प्रेरणा भी वही देता है । उसका काम है, व्यक्ति को शरीर और विचार से हटाकर कभी आराम-कुर्सी पर न बैठने देना । आठों याम भ्रमर-उड़ान भरना यात्रालु मन का स्वभाव है । वह कभी मरघट की यात्रा नहीं करता, उसकी सारी मुसाफिरी माटी-की-काया की जीवन्तता में है ।

मन तो चलनी है । बुद्ध या बुद्धिमान कहलाने वाला मनुष्य मन के आगे निरा बुद्धू है । मनुष्य अपने अखिल जीवन का जल मन की चलनी में से निरुद्देश्य बहाता रहता है । आशावाद जीने का आधार अवश्य है, पर उन आशाओं की कब्र कहां बनायी जाएगी, जिनके लिए व्यक्ति ने जीवन की बजाय श्मशान की यात्रा की ?

उमरे दराज मांग कर लाये थे चार दिन,
दो आरजू में कट गये, दो इंतजार में । - जफर

प्रवृत्ति जीवन के लिए कर्मठता का अवलम्ब जरूर है; किन्तु निवृत्ति का उपसंहार पढ़ना अपरिहार्य है। निवृत्ति इसलिये कि एक दिन मनुष्य को सब यहीं छोड़-छाड़ कर खालिस एकाकी जाना पड़ता है। रवानगी का टिकट मिलने के बाद जलाने वाला पूरा समाज-का-समाज होता है, मगर साथ जलने वाला सारे जहान का एक भी सदस्य नहीं होता। उसकी चिंता में रुपये-पैसे भी नहीं, मात्र थोड़ी-सी सूखी लकड़ियाँ ही जलती हैं -

चार जने मिलि खाट उठाये, रोवत ले चले डगर डगरिया।
कहे 'कबीर' सुनो भई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया ॥

जीवन में घटित होने वाली यह मृत्यु हकीकत नहीं, मात्र मन की आपाधापी का विराम है, उसकी व्यर्थता का बोध है। अगर किसी एक जन्म में आत्मा, परमात्मा या अध्यात्म को पहचान न पाया; परन्तु निरे मन का परिचय-पत्र भी बारीकी से पढ़-जाँच लिया, तो भी यह कहा जा सकेगा कि उसने मंजिल की ओर जाने वाली राह का एक बड़ा हिस्सा पार कर लिया।

व्यक्ति को शरीर और विचार की समझ तो पल्ले पड़ जाती है, पर वह मन की पूँछ को थाम नहीं पाता। दौड़ते चोर की चोटी पकड़नी भी फायदेमन्द होती है, पर पहले चोर की पदचाप तो सुनाई दे। ओर-छोर का पता नहीं और नापने बैठे हैं आसमान ?

मन तो चपल है पल-पल। यदि मन स्वयं ही जीवन हो, तो उसके पालन के लिए घर-बार और दुकानदारी की व्यवस्था की जानी चाहिए। अगर मन मुर्दा हो, तो उसे दफनाने के लिए सूखी लकड़ियाँ बीनने में संकोच कैसा ? चाहे पालना हो या दफनाना, उसकी वास्तविकता का बोध होना स्वयं के प्रति सजगता है।

मन की उपज शारीरिक रचना की अनोखी प्रस्तुति है। कई परमाणुओं के सहयोग और सहकार से शरीर का ढाँचा बनता है। मन उसमें ठीक वैसे ही मुखर होता है, जैसे शराब की निर्मिति से मदहोशी/नशा। जिन चिन्तकों ने जमीन-जल, पावक-पवन के समीकरण से उपजने वाले तत्त्व को जीवन-तत्त्व, आत्म-तत्त्व स्वीकार किया, वह वास्तव में जीवन या आत्म-तत्त्व

नहीं, वरन मनोतत्त्व है। मन का अपना मौखिक/मौलिक अस्तित्व नहीं है। वह बेसिर-पांव का तत्त्व है।

मनुष्य ने मन एवं मन-के-साथ नाना मुसीबतें पाल रखी हैं। वह दुनिया से अपना कोई पाप छिपा भी ले, पर मन से छिपाना उसके वश के बाहर है। वह दूसरों की, किसी तरह अपनी आँखों में भी धूल झोंक सकता है, पर मन सहस्राक्षी है। मन की हजार आँखें हैं। उसमें कुछ भी गोपनीय नहीं रखा जा सकता। जगत् की आपाधापी से तंग आकर मनुष्य चाहे जहां पलायन कर जाए, पर मन से बचकर कहां भागेगा ? बाहर की घुटन से मुक्त होने के लिए बातों-ही-बातों में प्रयास हो जाते हैं, पर भीतर की घुटन से छुटकारा पाने के लिए वह कोई भी मोर्चा तैयार नहीं कर पाता।

जनता की भीड़ से अधिक घातक, विचारों की भीड़ है। विचारों की भीड़ से मन का जी लगता भी है, तो घुटता भी है। मनुष्य को जो चिन्ता, तनाव और घुटन विचारों की भीड़ के कारण होती है, वह जनता की भीड़ में नहीं होती। जनता की भीड़ से बचने के लिए गुफा में एकान्तवास हो सकता है; किन्तु विचारों की भीड़-भड़क्के से बचने के लिए दुनिया में न कहीं कोई गुफा है, न एकान्त। जनता की गरद अपने आजू-बाजू रहे, तो कोई नुकसान नहीं है, पर विचारों की भरमार से घुटन-ही-घुटन है। विचारों की घुटन ही मानसिक तनाव की खास धमनी है।

स्वास्थ्य-लाभ के लिए मन को तनाव-मुक्त करना जरूरी है। स्वास्थ्य की पूर्णता शरीर के साथ-साथ मन की तनाव-मुक्ति से जुड़ी है। तनाव-मुक्त पुरुष स्वस्थ अध्यात्म-पथ का पथिक है। जो मन की परेशानी से जकड़ा हुआ है, वह तन से तन्दुरुस्त और निरोग भले ही हो, पर मानसिक रूप से अपने-आपको हर-हमेशा उखड़ा-उखड़ा-सा/उचटा-उचटा-सा महसूस करता है। दिलचस्प बातों में घड़ी-दो-घड़ी वह पच्चासन लगाये लगता है; किन्तु आम तौर पर वह लंगूर छाप जीवन बिताता है। एक ठाँव पर उसके पाँव टिके रहें, ऐसा मनुष्य को अपने अनुभवों की किताब में पढ़ने में नहीं आता।

मन व्यक्त भी रहता है और अव्यक्त भी । मन का अव्यक्त रूप ही चित्त है । मन का काम बाहरी जिन्दगी और तौर-तरीकों से जुड़ा रहता है । मन भविष्य के आकाश में ही कूद-फाँद करता है, जबकि चित्त अतीत से वर्तमान का साक्षात्कार है । पूर्व स्मृतियों और पूर्व संस्कारों के बीज चित्त की धरती पर ही रहते हैं । पूर्वजन्म के वृत्तान्त भी चित्त की मदद से ही आत्मसात् होते हैं ।

ध्यान की एकाग्रता जितनी गहरी होती चली जाएगी, अन्तर के पर्दे पर चित्त के सारे संस्कार चलचित्र की भांति साफ-साफ, दिखाई देने लग जाएँगे । स्वयं के पहले जन्म/जीवन की घटनाओं का दर्शन और कुछ नहीं, मात्र चित्त के संस्कारों का छायांकन है । 'जाति-स्मरण' अतीत के प्रति चित्त का गहराव है; किन्तु भविष्य का दर्शन चित्त के जरिये नहीं हो सकता । चित्त भविष्य या वर्तमान के दर्शन को अतीत की कड़ी बनाता है । भविष्य मन का परिसर है । मन की एकाग्रता सध जाए, तो व्यक्ति को अपने भविष्य के कुछ संकेत अग्रिम प्राप्त हो सकते हैं ।

ध्यान का सम्बन्ध चित्त की बजाय मानसिक क्रियाओं से ज्यादा है; इसलिये मन की शुद्धि ध्यान के लिए अनिवार्य है । मगर ध्यान की परिपूर्णता चित्त को संस्कार-शून्य करने में है । मन-रिक्त व्यक्ति अनिवार्यतः मुक्त पुरुष हो जाता है । चित्त-शून्यता से ही मन-मुक्तता की अनुभूति होती है; इसलिए मन-की-शुद्धि और चित्त-की-शुद्धि दोनों आवश्यक हैं समाधि और कैवल्य के द्वार पर दस्तक के लिए ।

ध्यान के क्षणों में जो मन की छितराहट दिखाई देती है, उससे व्यक्ति को न तो घबराना चाहिए और न ही उखड़ना चाहिए । उसे तो उससे जागना चाहिये । परम जागरण ही ध्यान-सिद्धि की आधार शिला है । ध्यान की घटिकाओं में होने वाली चंचलता व्यक्ति की ध्यान-दशा नहीं, अपितु स्वप्न-दशा है । चंचलता चाहे ध्यान में हो या स्वप्न के रूप में नींद में हो, वह फंतासी मन का ही फितूर है ।

मन द्वारा किया जाने वाला पर्यटन स्वप्न-दशा का ही रूपान्तरण है । फर्क मात्र इतना है कि पहले में शरीर और मन दोनों जाग्रत रहते

हैं और दूसरे में शरीर सोया रहता है, जबकि मन जाग्रत । अकेलापन तो दोनो में ही रहता है । रात को सोते समय भी व्यक्ति नींद में निपट अकेला होता है और ध्यान में भी वह कोरा अकेला रहता है । चाहे शयन-कक्ष में दसों लोग सोये हों और ध्यान-कक्ष में सैकड़ों लोग बैठे हों, तो भी उसका एकाकीपन तो एकान्तवासी ही होता है ।

ध्यान मन की चंचलता में नहीं, उसकी एकाग्रता या शून्यता में है । जैसे स्वप्न में हुई विचार-यात्रा मन की भगदड़ है, वैसे ही पद्मासन में हुई मन की हवाई उड़ान स्वयं की बैठक से च्युति को चुनौती है । जैसे स्वप्न के साथ रात भर सोना, सोना नहीं है, वैसे ही मन की भगदड़ के साथ ध्यान करना ध्यान नहीं है । वास्तव में व्यक्ति को ध्यान की घड़ियों में मन से जुड़ना नहीं चाहिये, बल्कि मन को परखना चाहिये । निर्विचार/ निर्विकल्प स्थिति बनाने के लिए मन में उभरने वाले विचारों/विकल्पों को तटस्थ होकर देखना अचूक फायदेमन्द है ।

ध्यान की एकाग्रता अक्षुण्ण बनाये रखने का मूल मंत्र है 'जो होता है, सो होने दो' तुम केवल उसके द्रष्टा बनकर होनहार का निरीक्षण करते चले जाओ । यदि मन ध्यान में नहीं टिका है तो एक बात दुपट्टे के पल्ले बाँध लो कि वह ध्यान के समय ध्यान से हटकर जहाँ भी जाएगा, वहाँ भी नहीं टिकेगा । वह टिकाऊ माल है भी नहीं । अध्यात्म में जीने के लिए मन का अलगाव सौ टके स्वीकार्य है ।

मन में जो कुछ आता है, आने दें । मात्र स्वयं की दोस्ती उससे न जोड़ें । मन के कहे मुताबिक जीवन की गतिविधियों को ढाल लेना ही अध्यात्म-च्युति है । जिन लोगों ने आत्म-च्युति को हू-ब-हू स्वीकार किया है, वे नश्वर के नाम पर अनश्वर को दौंव पर लगा रहे हैं ।

मन की संलग्नता आकर्षण और विकर्षण दोनों में है । दोनों मन के ही पालतू हैं । आकर्षण राग है, विकर्षण द्वेष है। मन चाहे राग से भरा हो या द्वेष से, है तो भरा हुआ ही । पात्र में पानी धौला हो या मटमैला, वह खाली तो कहलाएगा नहीं । पात्र की स्वच्छता पानी-मात्र से शून्य हो जाने में है । भरा मन व्यक्ति का शत्रु है और खाली मन

अमृत-मित्र । स्वयं को प्रकृति का सिर्फ उपकरण मानने वाला साधक आहिस्ता-आहिस्ता मन-मुक्त होता जाता है । वह हर उल्टी-सीधी परिस्थिति में भी तटस्थ और जागरूक रहता है । वीतरागता का घर मन-के-पार है । अध्यात्म मन की प्रत्येक सीमा-रेखा के पार है ।

मन के साथ जुदाई जरूरी है । पर यह बार-बार दुहराने की जरूरत नहीं है कि 'मैं मन नहीं हूँ; मैं मन नहीं हूँ' - यह भी मन की ही खटपट है । यह भी एक सोच ही है । समाधि निर्विकल्प दशा में है । 'मैं मन नहीं हूँ' - यह तो स्वयं मन का ही एक विकल्प है । ध्यान में हुई मन की हर सोच विकल्प को ही निमन्त्रण है । 'मैं मनुष्य हूँ' यह कहाँ कहना/जपना पड़ता है । 'मैं देह नहीं हूँ' यह भी बार-बार दोहराना देह का भुलावा नहीं, अपितु देह की स्मृति को तरोताजा करना है ।

साधकों ने 'मैं देह नहीं हूँ' इसे भी किसी मंत्र की तरह अपना लिया है । मैं ऐसे सैकड़ों साधकों के सम्पर्क में आया हूँ, जो 'देह नहीं हूँ', 'देह नहीं हूँ', कहते-कहते जीवन के सान्निध्य में प्रवेश कर गये हैं, फिर भी उनके देह-लगाव का तापमान घटा नहीं है । वास्तविकता तो यह है कि ध्यान गहरा हो जाने पर देहाभ्यास स्वयमेव न्यूनतर हो जाता है । खरगोश पर करुणा करने वाला हाथी तीन-तीन दिन तक एक टाँग पर खड़ा रह जाता है । उसे कहाँ अपने-आप से बार-बार बोलना पड़ा कि 'मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ' । लक्ष्य को जीवन का सर्वस्व मानने वाला अपने-आप मुक्त हो जाता है, स्वयं के लक्ष्य से भिन्न लक्ष्यों से । 'मैं देह नहीं हूँ' को हजारों बार बोल चुकने के बाद भी ध्यान में बैठा आदमी अपने शरीर पर मच्छर की काट भी सहन नहीं कर पाता । एक मच्छर की काट से बौखलाने वाले साधक की क्या कोई सहिष्णु-अस्मिता हो सकती है ? उपसर्गजयी /कष्टजयी कहलाने वाला साधक मच्छर से भी बिदक जाए, वह देहानुभूति-शून्यता नहीं है ।

जरा देखो, घर में खेल रहे उस बच्चे को । उसके हाथ पर पट्टी बंधी है । हाथ पर कोई घाव है, घाव से दर्द है, पर उसके चेहरे पर उभरती मुस्कराहट को देखकर क्या हम यह सम्बोधि प्राप्त नहीं कर सकते कि उसने देह से अलग रहकर जीने की कला हासिल कर ली है ? शरीर

में घाव और वेदना होते हुए भी उसे भूल बैठना भेद-विज्ञान की ही पहल है। रोजमर्रा की जिंदगी में भी जब देह-व्यथा से अतिरिक्त होकर जिया जा सकता है, तब क्या ध्यान की बैठक में स्वयं को देह/विचार/मन से ऊपर नहीं माना जा सकता ? तुम सम्राट् हो, सम्राट् बन कर रहो। यदि मन की खटपट और अशांति तुम्हारे सिर चढ़ी है तो तुम दर-दर भटकने वाले भिखमंगे हो।

एक आम आदमी मन के कहे में जिये, माना जा सकता है; किन्तु गृह-त्याग कर साधु-सन्त बनने वाला व्यक्ति भी यदि शान्त चित्त और मूक मन नहीं रह सकता, तो उसका गृह-त्याग अपने को ठगना ही हुआ। साधु-साध्वियाँ कहती हैं कि 'हम स्थित-प्रज्ञ नहीं हैं'। मन्दिर इत्यादि में ध्यान करने बैठते तो हैं, किन्तु मन मन्दिर से बाहर भी भटकता रहता है, मेरी समझ में मन की इस चंचलता का कारण संकल्प-शैथिल्य है। आवेश में आकर या किसी के उपदेश मात्र से प्रभावित होकर प्रव्रज्या लेने वाले समय की कुछ सीढ़ियों को पार करने के बाद वापस अपने अतीत की ओर आँख मारने लग जाते हैं। फिर संन्यास-जीवन स्वयं की वीतरागता में सजग न रह कर मात्र कथित अनुशासन या मर्यादाओं की औपचारिकताओं/व्यावहारिकताओं में ही रच-बस जाता है।

घर छोड़ना ही संन्यास है, ऐसा नहीं है। घर छोड़ना, वेश बदलना या अकेले रहना, इतने मात्र से संन्यास की पूरी परिभाषा नहीं हो जाती है। संन्यासी तो वह है, जिसके ममत्व की मृत्यु हो गयी है। आँखों में ध्यान और समाधि के भाव रमने के बाद तो व्यक्ति के लिए घर भी आश्रम और हिमालय हो जाता है; पर जिनकी आँखों में संसार की खुमारी है, उनके लिए आश्रम और हिमालय भी घर और बाजार हैं। घर में रहने वाला ही गृहस्थ हो, ऐसी बात नहीं है। गृहस्थ तो वह है जिसके मन में घर बसा है, परिवार रचा है, संसार का तूफां है। साधु तो अनगार होता है। अनगार यानि गृह-मुक्त, जिसके मन से बिसर चुके हैं घर-बार। मन से किया गया अभिनिष्क्रमण जीवन की अप्रतिम राह है। स्वकेन्द्र में स्थिति का उपनाम ही साधना है।

वीतरागता की उपलब्धि के लिए संकल्प सुदृढ़ हों, तो मन-मुक्ति

अनिवार्य है। यदि स्वयं में शक्तियों को जागृत और आमन्त्रित करना हो, तो मन की एकाग्रता प्राथमिक है। यदि मनोव्यक्तित्व प्रखर/प्रशान्त हो, तो अपने सप्राण शरीर में अन्य व्यक्तित्व का प्रवेश भी सम्भव है।

कई बार जब मेरे सामने बड़े टेढ़े-मेढ़े प्रश्न आ जाते हैं या लोगों द्वारा हाथों-हाथ चाहे गये विषयों पर मुझे घंटों प्रवचन देना पड़ता है तब अकस्मात् जैसे शिव के सिर पर गंगा उतर आये, मुझ में नये-नये तर्कों/विचारों की बाढ़ आती हुई लगती है। मैं स्वयं दंग रह जाता हूँ उस पर जो मैं कहता हूँ। मैं यह तो स्पष्ट नहीं कह सकता कि कोई अज्ञात शक्ति मुझ में प्रवेश कर लेती हो, पर एक बात तो पक्की है कि अतिरिक्त शक्ति अवश्य प्रकट होती है। मैं इसे चमत्कार नहीं, वरन् मनोव्यक्तित्व की एकाग्रता कहूँगा।

यदि हम अपने एकाकी क्षणों में एकाग्र मन रहें तो हमें आश्चर्य में डालने वाली कई ध्वनि-प्रतिध्वनियाँ, कहाँ-कहाँ की छाया-प्रतिच्छाया मानस-पटल पर आती-जाती लगेगी। दूसरों के मन की पर्यायों यों हमारे मन के आईने में उभरती लगेगी। वास्तव में अलौकिक चीजों का साक्षात्कार व्यक्ति द्वारा चेतन मन पर विजय प्राप्त करने के बाद अचेतन मन की आँख खुलने से ही संभव हो सकता है। जो लोग मात्र बाहरी सिद्धियों को ही सर्वस्व समझते हैं, वे मरीचिकाओं पर लुभा कर मूल तत्त्व से दूर खिसकते हैं। स्वयं के सम्पूर्ण अन्तर-व्यक्तित्व का निखार तो तब होता है, जब कामना की सौ फीसदी कटौती हो जाती है।

परसों (आबू) की बात है। मैं ध्यान से उठा ही था। साधक लोग मेरी अगल-बगल उपस्थित हुए, अध्यात्म चर्चा के लिए। सबकी अपनी-अपनी साधनापरक दिक्कतें थीं। चर्चा गहरी और अध्यात्म-एकाग्र हो गयी। अकस्मात् एक साधिका विशारदा (मूल नाम 'विनोद' ध्यान-दीक्षित नाम 'विशारदा') की देह में किसी अन्य व्यक्तित्व ने प्रवेश कर लिया। विशारदा की स्थिति तत्क्षण बदल गयी, बड़ी अजीबोगरीब। मैंने दो साधिकाओं - पार्श्वदा और योगमुद्रा को संकेत किया। उन्होंने विशारदा को संभाला। उसने थोड़ी देर में आँखें खोलीं। उसके अन्तर-प्रविष्ट व्यक्तित्व ने मुझसे बातचीत की। अन्त में वह उस शरीर से तभी बाहर

निकला, जब उसकी मुक्ति के लिए सहयोगी बनने हेतु मैं वचनबद्ध हुआ। वह व्यक्तित्व वास्तव में उसके मृत भाई चन्द्रसेन का प्राणतत्त्व था। मरते समय उसके मन में साधना के प्रति बेहद लगाव जगा था। बारीकियों को छूने के बाद मैंने पाया कि मनोव्यक्तित्व की एकाग्रता व्यक्ति के साथ किस प्रकार संबद्ध रहती है।

साधना की शुरुआत में शक्तिपात की उपयोगिता है; किन्तु मन से मुक्त होकर निर्विकल्प होने के लिए शक्तिपात के बजाय स्वयं का शक्ति-जागरण अधिक श्रेयस्कर है। शक्तिपात पर चलने की मैंने भी कोशिश की, पर मैंने स्वयं को उससे अतिशीघ्र मुक्त भी कर लिया। प्राप्त अनुभव यही बतलाता है कि शक्तिपात से मन केवल उसी को देखना चाहता है, जो शक्तिपात करता है। शक्तिपात से जो मंजिल मिलती है, वह मंजिल नहीं होती वरन् एक सोपान ही होती है। हाँ, आत्मजाग्रत साधक का संस्पर्शन और दर्शन स्वयं की ऊर्जा के जागरण में स्वीकारना चाहिये, पर यह कृपा नहीं, मात्र सहकारिता है। यह मात्र शान्त मन की समदर्शिता का वितरण है। असली गुरु तो वीतरागता की मस्ती में जीता है। जिसके पास बैठने और जीने से तुम्हारा मन शान्त, निर्विकल्प और निर्विकार बनता है, वही तुम्हारे लिए गुरु है। जिसे निहारने से तुम्हारा लक्ष्य तुम्हारी आंखों से ओझल न हो, वही तुम्हारा भगवान् है।



अस्तित्व की जड़ों में

नीत्से का वचन है : आदमी झूठ के बिना जी नहीं सकता । इस वचन का आधार मनोविज्ञान है । पता है वह झूठ क्या है ? वह झूठ मनुष्य नहीं है । मनुष्य सत्य है । वह अस्तित्व का परम सत्य है ।

अस्तित्व जैसा है अपने आप में पूर्ण है । असंख्य हिमधाराएँ, नक्षत्र, तारा-मंडल और आकाश जैसे तत्त्व अस्तित्व की ही मुखाकृतियाँ हैं । अस्तित्व की पूर्णता तो देखो, बच्चा माँ से जन्म लेता है तो दूध की व्यवस्था भी साथ लेकर आता है । गमले में फूल खिलने से पहले ही अंगरक्षा के लिए कांटे तैनात हैं । शीतलता और ऊष्णता का संतुलन बनाये रखने के लिए सूर्य और चन्द्र निरन्तर गतिशील हैं । जन्म-मरण का समय-चक्र चालू रहते हुए भी एक भी व्यक्ति न कम होता है न अधिक । जितने लोग जनमते हैं उतने ही मरते भी हैं । ब्रह्माण्ड की परिपूर्णता को चुनौती नहीं दी जा सकती ।

अस्तित्व पूर्ण है । सच तो यह है कि हर व्यक्ति अपने आप में सम्पूर्ण अस्तित्व है । वह अत्यन्त ऊर्जा का स्वामी है । उसकी विराटता तब अपना मौलिक रूप पा लेती है, जब वह अपने जीवन की अनवरत यात्रा के दौरान समस्त भौतिक अंशों एवं उनके प्रति स्वयं का सम्मोहन क्षय कर देता है । ध्यान इसमें मदद करता है । इसलिये नवजीवन में प्रवेश करने के लिए जीवन में छाई विसंगतियों को मृत्यु के द्वार तक लाना होगा । यह चैतन्य-ऊर्जा की दृष्टि ही मर्त्य-के-पार विहार करने की पहल है ।

हमें चलना है अस्तित्व की ठेठ जड़ों में, उसकी आत्यन्तिक गहराइयों में । अस्तित्व ही हमारी समग्रता है । अस्तित्व जैसा है, वास्तविक है । हम में से प्रत्येक एक स्वतन्त्र अस्तित्व है । हर अस्तित्व की अपनी मौलिकता होती है । प्रत्येक अस्तित्व इतना व्यक्तिगत है कि उससे उसके निकटतम सगे-सम्बन्धी भी जुड़े हैं । इसीलिए तो कोई किसी का अनुकरण नहीं करता । एक विशिष्ट

पथ जो एक व्यक्ति के लिए अनुकूल साबित होता है, अनिवार्य नहीं कि वह दूसरे के लिए भी सही सिद्ध हो। यदि ऐसा होता, तो न तो हजारों दर्शन पैदा होते, न तर्क-की-तलवारें चलतीं, न ही चिन्तन के नये-नये द्वार उघड़ते। सब एक के पीछे एक चलते- भेड़-धसानवत्। दुनिया में हजारों दर्शन विकसित हुए। पर कोई भी दर्शन पूरी तरह अजेय न रह सका।

हर मनुष्य का अपना व्यक्तिगत धर्म दर्शन है। हमें अपने ही धर्म का अनुसरण और अनुमोदन करना होता है। विश्व के सारे धर्म हमारे अपने हैं, पर आत्म-धर्म से बढ़कर दुनिया का कोई धर्म नहीं है। दूसरे लोग हमारा मार्ग-दर्शन कर सकते हैं, पर मार्ग-संचालन का उत्तरदायित्व तो स्वयं व्यक्ति पर है।

अस्तित्व जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना जीवन का परम विज्ञान है। मानसिक तनाव एवं जीवन-भटकाव स्वयं की भूमिका की अस्वीकृति के कारण है। जीवन के वर्तमान को दुःखी मानना और भविष्य के सुख की आशा से प्रतीक्षा करना अप्राप्त के लिए प्राप्त को खोना है।

अधूरापन मन की अभिव्यक्ति है। मन का आईना आशा है। आशा की बढ़ोतरी पूर्णता को चुनौती है।

आशा मन के कारण है और सपने आशा के कारण। सपनों में जीना सत्य को दुलती मारना है। स्वप्न का सुख व्यक्ति के मुँह पर तमाचा है। सपने में, सोये-सोये तो बहुत पाया, पर जगे तो माथा चकराया। हाथ लगा सिर्फ सूनापन, भावों का पक्षाघात, निराशा। आखिर सपने में मिलकर भी क्या मिला। सपना धोखा है, भटकाव है, झूठ है। आदमी अभ्यासी है सपनों में जीने का। बिना सपनों के जीना दुभर बन गया है। मन से उभरती अदृश्य पुकार उसे चित्कार के रूप में सुनाई देती है। वह करुणार्द्र हो जाता है और अपनी मनोतृष्णा की पूर्ति के लिए दिन-रात लगा रहता है - जागकर भी, सोकर भी, सपने में भी।

सपना सान्त्वना है और हर सान्त्वना सुन्दर झूठ है। आदमी झूठ की डोर पकड़कर ही जिन्दगी आगे खींचता रहता है। झूठ आदमी से इतना हिलमिल गया है कि वह बिना झूठ के जी नहीं पाता।

कहते हैं, किसी सम्राट ने एक साधारण-सा कपड़ा महंगे भाव में खरीद लिया। मन्त्री को यह अच्छा न लगा। मन्त्री ने कहा— मैं ऐसा कपड़ा बना सकता हूँ जिसकी प्रशंसा हर समझदार करेगा, किन्तु उसे बनाने में महीनों लगेगे और धनराशि भी अनाप-शनाप खर्च होगी। सम्राट ने उत्सुकतावश मन्त्री को वैसा कपड़ा बनाने की मंजूरी दे दी।

होली का दिन। मन्त्री ने कहा, जनाब ! पौशाक तैयार है। सम्राट ने सोचा, इतनी महंगी पौशाक को सभासदों के बीच ही पहना जाये। सम्राट ने अपनी पहनी हुई पौशाक उतार दी। मन्त्री नई पौशाक पहनाने लगा। हाथों से ऐसा कुछ कर रहा था मानो पौशाक पहनायी जा रही है, पर सभासद दंग, अचम्भे में भी। न कोई पौशाक, न कपड़ा, सिर्फ अभिनय। मन्त्री ने सम्राट से कहा, क्यों सभासदों ! कैसी लगी यह पौशाक ?

सच्चाई कहने की हिम्मत किसी की न हुई। कौन स्वयं को मूर्ख कहलाए, क्योंकि समझदार ही इसकी प्रशंसा कर सकता है।

सबने कहा, बहुत खूब, बड़ी सुन्दर, अभिनव।

सम्राट ने कहा, तुम सब प्रशंसा कर रहे हो, अतः पौशाक निश्चित ही सुन्दरतम बनी है। मैं मन्त्री को इनाम देता हूँ, मगर जब सम्राट ने आईने में खुद को निहारा तो ...? सम्राट ने कहा, यह क्या ? मन्त्री बोला, गुस्ताखी माफ हो। यह सत्य है। नग्नता से बेहतर और कोई पौशाक नहीं है।

जीवन की ज्योति टिकी है सत्य पर, झूठ पर नहीं। वह आशा पर नहीं, अस्तित्व पर निर्भर है। अस्तित्व सत्य है, अस्तित्व को स्वीकार करना आस्तिकता है। सपना नास्तिकता है। सपना अस्तित्व नहीं, सिर्फ जीवन में लगते अधूरेपन की आशा है, कल्पना है, मन की जम्हाई है।

सपना सुदर्शन है वर्तमान में भविष्य का। पर सपना कभी सत्य होता है ? पता नहीं, मनुष्य सपने में कहाँ-कहाँ की देख लेता है। जिसे कभी आँखों से देखा भर नहीं, उसे भी देख लेता है।

एक अन्धा व्यक्ति कह रहा था, आज मैंने स्वर्ग देखा। मैंने कहा, तुमने भी क्या खूब देखा ! अपने आपको देखा नहीं और स्वर्ग देख चुके हो। अन्धा

भी क्या दूर की देखने लगा है। आँख वाले देख न पाये और अन्धा स्वर्ग देखे। उसने कहा, वह मैंने सच में नहीं स्वप्न में देखा था। मैंने कहा, तुम्हें बधाई है। पहली बार सुनने को मिला कि अन्धा भी देखता है। पर इतना जरूर याद रखना कि यह देखना नहीं, वंचना है।

यह दृष्टि नहीं, यह विकृति है। मन अगर जीवन का प्रतिनिधित्व करेगा, तो ऐसी विकृतियाँ जनमती रहेंगी। मन का यदि सही उपयोग किया जाये, तो वही व्यक्ति के लिए योग और ध्यान बन जायेगा।

मन गुलामी को भी इजाजत कर सकता है और स्वतंत्रता का स्रोत भी हो सकता है। वह संसार का प्रवेश-द्वार भी बन जाता है और निगमन-द्वार भी। स्वर्ग के सपने दिखाने वाला भी वही है, तो नरक भी इसी के कारण है। जो मन का मालिक बन गया, उसके मन का अन्त्येष्टि-संस्कार हो गया। यदि सिंह तुम्हारी बेड़ियों में है, तुम्हें देखते ही उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है, मिमियाने लगता है, तो उसके सिंहत्व का अस्तित्व कहाँ ! इस स्थिति को मन-की-मृत्यु कहेंगे।

तुम दुःखी हो, मन के वर्चस्व के कारण; तनावग्रस्त हो, मन के रचनातन्त्र के कारण। दुःखी हो, इसीलिए स्वर्ग के सपने देखते हो। स्वर्ग सुख की आशा है और नरक दुःख का भय। स्वर्ग और नरक दोनों मन के विज्ञान हैं। मोक्ष है स्वर्ग-नरक के पार, सत्यरूप, चैतन्य रूप, आनन्द रूप।

जीवन के आधार स्वर्ग-नरक नहीं हैं। स्वर्ग-नरक मन की क्रियाशीलता के चरण हैं। जीवन का आधार स्वयं व्यक्ति का अस्तित्व है। जैसा है, उसे अंगीकार करो। इस अंगीकरण में ही तुम परम अहोभाव से भर जाओगे। आत्म-स्वीकृति ही उत्सव है, जो भर देगा एड़ी से चोटी तक एक अभिनव मुस्कान/आनन्द।

यह उत्सव ऊर्जा-समीकरण का है। ध्यान का यह 'मानतुंग' शिखर है। जो ऐसे उत्सव में सक्रिय है, वह अमीरों-का-अमीर है।

हर इंसान सम्राट है, अमीरों-का-अमीर है। स्वामित्व का बोध हाथ से फिसल गया, इसलिए गरीब और विपन्न लगते हो। क्या तुम इसे कम समझते

हो कि तुम्हें परमात्मा ने याद किया है, उसकी दिव्यताएँ तुम्हारे नजदीक आ रही हैं। तुम्हारा परमात्मा / परम रूप तुम्हारे निकट से निकटतम है। तुम स्वयं में एक सृष्टि हो और स्रष्टा अपनी सृष्टि में लगा हुआ है।

तुम एक सम्पूर्ण अस्तित्व हो। अणु कहकर उसकी अवमानना मत करो। हर अणु अपने आप में पूर्ण है। अणु संसार की सबसे छोटी इकाई है, पर प्रत्येक इकाई आकण्ठ आपूर्ण है। अणु में ही नागासाकी का इतिहास लिखा है। उसकी सम्भावना और सामर्थ्य को यों पांवों से कृपया मत ठुकराओ।

अणु तो सिर्फ इकाई है। मनुष्य के भीतर अनन्त अणुओं जैसी ऊर्जा सम्भावित है। बीज से बरगद का तरुवर फैला है अपनी अनगिनत भुजाओं के साथ। जरा देखो एक बीज ने कितने बीज पैदा कर दिये हैं। अगर बरगद का एक फल देखोगे तो पाओगे कि एक फल में सैंकड़ों बीज छिपे हैं। बरगद फलों से फला है। मनुष्य एक नहीं, अनन्त बीजों का स्रोत है। पहचानें अपनी शक्तियों को, जगाएँ खाट पे आराम से सोयी ऊर्जा को।

मनुष्य माटी का दीया है। सिर्फ दीया ही नहीं, ज्योति-शिखा भी है। शरीर दीया है माटी का और आत्मा है ज्योति-शिखा। ज्योति के साक्षात्कार के लिए दीए का मूल्यांकन अवश्य है, किन्तु ज्योतिविहीन दीया मनुष्य के कंधे पर मात्र मुर्दे-की-अर्थी है।

दीये पर दृष्टि की एकाग्रता आत्म-प्रवंचना है। आखिर माटी का मोल माटी तक ही सीमित है। 'आँरो' की परिभाषा तो ज्योति-शिखा के पास है। चेतना के ऊर्ध्वगमन के सारे मूल्य ज्योति पर टिके हैं। जिनके ऊर्ध्वगमन के रास्ते बंद हो चुके हैं, वहां जीवन नहीं, मात्र मिट्टी के मुखौटे हैं। अमृत वहां है, जहाँ मर्त्य के पार विहार करने की पेशकश है। मित्र ! मेरा निमंत्रण उसी अमृत के लिए है जहाँ समाधि की छाँह में निर्धूम प्रज्वलित रहती है जीवन की ज्योति-शिखा। जरा बनाओ स्वयं को उस सन्देश का सम्राट, जिससे गिरा सको अन्तर-जगत् के कारागृह के बन्धन।



घुटन का आत्म-समर्पण

मनुष्य परम श्रेय के प्रति समर्पित है। जीवन में प्राप्त होने वाली हर सफलता पर उसे गर्व है, तो असफलता पर खेद भी। मेहनत करने के बावजूद जब व्यक्ति को असफलता का सामना करना पड़ता है, तब उसका अपने-आपसे भी खीझना स्वाभाविक है।

मनुष्य खड़ा है पुरुषार्थ और भाग्य के दोराहे पर। वह सुख और सफलता को भगवान् का अमृत मानता है; किन्तु दुःख और असफलता को वह भगवान् का चरदान मानने के लिए तैयार नहीं है। लड़ रहा है वह अपने भाग्य के साथ, पर यदि वह भाग्य का आत्मीय बन जाए, तो उसके साथ उसकी लड़ाई समाप्त हो सकती है।

प्राप्त कर्तव्य में पुरुषार्थ का उपसंहार भी भाग्योदय है।

मनुष्य सुख-सुविधाओं का इतना चाही है कि हर असफलता/प्रतिकूलता उसका जीना हराम कर देती है। जीवन का यथार्थ सुख तनाव-शून्यता में है। किसी कार्य में असफल होना पहली पराजय है, मगर उसे मन में रहने के लिए न्यौता देना दूसरी पराजय है। पहली पराजय को भाग्य की चुनौती कहा जा सकता है; किन्तु दूसरी पराजय प्रज्ञा-दृष्टि और जीवन-बोधि की कमी की घोटक है।

यों तो व्यक्ति आठों याम कुछ-न-कुछ सोचता रहता है। सोच चाहे चाहा हो या अनचाहा, मेहमानवाजी करवा ही जाता है। जीवन-दर्शन के प्रति सोच तब गर्भज होता है, जब असफलताएँ ठेठ हत्तन्त्री को झकझोर डालती है।

असफलता जीवन्त चिन्तन की जननी है। जीवन में क्रान्ति चरम वेदना के क्षणों में ही घटित होती है। जब व्यक्ति चारों तरफ से असहाय, अशरण

और निराधार खड़ा हो, उस समय थोड़ी-सी सूझ भी डूबते को तिनके-का-सहारा बनती है। असफलता-पर-असफलता पाने वाले सम्राट के लिए मकड़ी की सोलह बार फिसलन और आखिरी बार घर-जाल-की-देहरी-पर दस्तक सफल प्रेरणा का लाजवाब जीवन्त सूत्र सिद्ध हुआ है।

मनुष्य का प्रयास रहना चाहिए कि वह जीवन को भरपूर सफलता से जिये। तनाव और घुटन-भरी जिंदगी जीना चलते-फिरते 'शव' को कंधे पर ढोना है।

तनाव दुःखदायी स्वप्न-यात्रा है। सपनों के साथ बितायी गई रात मात्र समय बिताना है, नींद की आवश्यकता को आपूर्त करना नहीं। धन, परिवार या अन्य सुविधाएँ होते हुए भी व्यक्ति घुटन-भरी जिन्दगी क्यों जिये ?

धुएँ-सी जिन्दगी जीने के बजाय दीपक-सी जिन्दगी जीना लाख गुना बेहतर है। धुएँ-सी जिन्दगी मौत है। जीवन, जलना है अनिमेष दीपक का।

मनुष्य विवश है। उसकी विवशताएँ ही उसे प्रेरित करती हैं स्वयं के लिए सोचने को। भीड़-भरी जिन्दगी में भी मनुष्य को अपने लिए सोचने की कुण्ठित उन्मुक्त जिज्ञासा जाग्रत होती है। वह अपनी मुँह-बोली मौलिकता के अस्तित्व को पहचानने के लिए अन्तःप्रेरित होता है। उसकी यह अन्तःप्रेरणा ही अध्यात्म की ओर कदम बढ़ाना है।

मनुष्य की अन्तर-जिज्ञासा यदि सघन-से-सघनतर होती जाए, तो सत्य की खोज के लिए वह न केवल चिन्तन करता है, अपितु अपने कृतित्व को उस पथ पर संयोजित भी करता है। वह अपने-आपसे ही पूछता है— आखिर मैं कौन हूँ, मेरा जीवन-स्रोत, मेरी मौलिकताएँ और मेरे मापदण्ड क्या हैं, यह दुनिया क्या है, और मैं यहाँ क्यों हूँ; सुख-सुविधाओं के अम्बार लगने के बावजूद दुःख और तनाव के कारण क्या हो सकते हैं ?

चिंतन की गहराइयों में उसकी जहाँ तक पहुँच हो सकती है, वह तल-स्पर्श करने का अदम्य पुरुषार्थ करता है। वह उस आखिरी सत्ता को भी खोज निकालना चाहता है, जो संसार-चक्र की धुरी है। चिंतन की इस आत्यन्तिक गहराई का नाम ही जीवन-समीक्षा और योग-अनुप्रेक्षा है।

कविताओं की रहस्यवादिता जिस सत्ता/शक्ति से जुड़ी है, योगी को उसकी झलक अपने भीतर मिलती है, जबकि कल्पना की जमुहाई लेने वाले कवियों को उसका प्रतिबिम्ब प्रकृति के सहस्रमुखी/सहस्रबाहु रूप में मिलता है। उस शक्ति का नाम फिर आत्मा दें या परमात्मा, उससे तादात्म्य की अनुभूति ही ध्यान की स्नातक सफलता है।

यह सत्ता ही अस्तित्व की मौलिकता है। उसका परिचय-पत्र क्या? यदि ध्यान से उसकी उपलब्धि हो जाए, तो विजय का उन्माद कैसा? यदि हतन्त्री में उसकी झंक्रुति न भी हो, तो हार का शिकवा कैसा? हाथ में प्राप्त हो या अप्राप्त पैसा तो पर्स में ही है। आखिर है तो वही व्यष्टि बनाम समष्टि का व्यक्तित्व।

एक व्यक्ति की घड़ी खो गयी थी, सो वह उसे ढूँढने लगा। पड़ोसी भी उसकी मदद करने लगे। सारी गली छान ली, पर घड़ी की छाँह भी हाथ न लगी। ढूँढते-ढूँढते पड़ोसी ने पूछा— 'घड़ी खोयी कहाँ थी?' कहा— 'घर में'।

पड़ोसी सकते में आ गया। कहने लगा— 'यह कैसी मूर्खता, घर में खोयी घड़ी को ढूँढ रहे हो गली में?' व्यक्ति ने कहा— 'बात तेरी पते की है, पर घर में अँधेरा जो ठहरा। गली में तो रोशनी बह रही है।'

घर में खोयी वस्तु घर में ही ढूँढनी पड़ती है, फिर चाहे घर में अँधेरा हो, या उजाला। भीतर में पाले गये तनाव के अंधेरे से बिदक कर कहीं ओर आँख फैलाना सत्य की खोज नहीं, मात्र क्षितिजों में आकाश की सीमा ढूँढना है, कोरा भटकाव है।

आठों पहर चलने वाले इंसान को भी यह खबर नहीं है वह कहाँ जा रहा है? उसका लक्ष्य क्या है, वह लक्ष्य-पूर्ति के लिए कितना समर्पित है? सुबह से शाम की यात्रा में जिन्दगी यूँ ही तमाम होती है। मेहनत की कुल्हाड़ी से खाई खूब खोदता है, पर स्वयं की राख से ही उसे पाट डालता है। हाथ सिर्फ, माटी लगती है, रलों का संभार नहीं।

मनुष्य स्वयं चेतना की विराटता का सूत्र है। उसे अपनी गतिमान

चेतना का समन्वय स्थापित कर स्वयं में आनन्द का उत्सव मनाना चाहिये । उसका उत्सव महोत्सव की रंगीनियां पाये, इसकी बजाय उसने स्वयं को दलदल के कगार पर ला खड़ा किया है । इससे उसकी घुटन घटी नहीं है, बल्की सौ गुना बढ़ी है ।

कहते हैं आर्य विकसित सभ्यता के प्रवर्तक हैं। आज... आज आर्यता स्वयं प्रश्नचिह्न बनकर उपस्थित है स्वयं आर्य के समक्ष । गुण का पुजारी कहलाने वाला आर्य भी बेईमानी और बलात्कार पर उतर आये, तो अनार्य की परिभाषा क्या होगी ? आने वाले आर्यों की 'आर्यता' किसी समय इतनी छिछली होगी, यह कभी पूर्वज अनार्यों ने सोचा भी न होगा । अनार्यों ने खुद को मांजने के लिए आर्यों की संस्कृति अपनायी । परिस्थितियाँ चेहरे बदलती हैं । अनार्य कदम बढ़ा रहा है आर्यता की देहरी की ओर, और आर्य आँखें गड़ा रहा है अनार्यता के अन्धकूप की ओर ।

युगों-युगों से अमृतवाही कही जाने वाली गंगा में भी आज अमृत की खोज करनी पड़ रही है । जिस गंगा के दो चुल्लू पानी से सरोवर पवित्र हो जाते थे, आज वही गंगा मैली हो रही है । स्वर्ग से उतरी उसकी दूध जैसी धारा पर इतना मैल चढ़ गया है कि उसकी धुलाई के लिए धोबी-घाट की तलाश जारी है । एक बात तय है कि पावनताएँ कितनी भी कुण्ठित हो जाएँ; किन्तु एकाग्रचित्त से एकनिष्ठ होकर कोशिश की जाय तो पावनता की वापसी सहज सम्भव है ।

मेरी शिकायत यात्रा से नहीं, भटकाव से है । मनुष्य की जिन्दगी ठौर-ठौर घूमने वाले बंजारे-सी है । केवल पाँव चलें तो कोई शिकायत नहीं, पर मन भी चलता पुर्जा रहे तो जीवन की एकाग्र अखण्डता लँगड़ी खायेगी ही।

पाँवों-का-योग और मन-का-वियोग ही संन्यास है । मन की पलकों का न झपकना ही अध्यात्म के धरातल में ध्यान की निष्ठा है । वह तो घरबारी ही है, जिसके पाँव तो एक घर से, एक परिवार से बँधे हैं; पर मन घर-घर में गौचरी करता फिरता है । मन की इस प्रवृत्ति का नाम ही अन्तर्जगत् का दारिद्र्य है ।

पाँव तो चलने ही चाहिये । चलते पाँव ही तो कर्मयोग की कथा के

पात्र हैं। पाँव प्रतीक है कर्मयोग का। पाँव रुका कि पटाक्षेप हुआ कर्मयोग के नाटक का। क्या नहीं सुना है बचपन से— 'बहता पानी निर्मला, रुके तो गंदा होय'। पानी है परिचायक/रूपक पाँव का।

मन की व्यवस्था पाँव के कर्मयोग के ठीक विपरीत है। यदि मन का चलना ही कर्मयोग कहा जाय तो मन से बड़ा कर्मयोगी संसार में कोई भी नहीं है। यहाँ तक कि संसार की सारी योजनाओं का व्यवस्थापक भी मन की कर्मयोगिता के सामने कुबड़ा लगेगा।

जीवन में अपेक्षा मनोकर्म की नहीं, मनोयोग की है। मनोयोग है मन की एकाग्रता। समुन्द्र की लहरों की तरह छितरने वाला मन कर्मयोग नहीं, वरन् जीवन-रोग है। तनाव और घुटन का मवाद रिसता है मन के घाव से ही।

इसलिये मन रोग है और रोग-मुक्ति जीवन-स्वास्थ्य की अनिवार्य शर्त है।

मन है सुविधावादी/अवसरवादी। अच्छे विचार और बुरे विचार की प्रतिस्पर्धा का विरोधी है वह। जो भी चीज उसे अपने अनुकूल लगेगी, वह उसके साथ रहने में ही अपना सत्संग मानेगा। ध्यान है विचारों का मौन। विचार चाहे अच्छे हो या बुरे, तनाव की जड़ हैं। जहाँ अच्छाइयाँ हैं, वहाँ बुराइयाँ भी हैं, जहाँ बुराइयाँ हैं, वहाँ अच्छाइयाँ भी हैं। ध्यान अच्छे-भाव/बुरे-भाव-से-मुक्त, मात्र स्वभाव है।

जो व्यक्ति मन में है, वह अधार्मिक है। अधर्म है विभाव-में-रमण, धर्म है स्वभाव-में-चरण। मन की हर परिणति स्वभाव के लिए चुनौती है। मन के कर्मयोग के रहते व्यक्ति का अवसरवाद और पाखण्ड नामर्द नहीं हो सकता।

अमन है जीवन में सदाबहार चमन करने का राज। सुख-दुःख तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, धूप-छांव का खेल है। जीवन में जरूरत है उस आनन्द की, जिसके प्रास्ताविक से उपसंहार तक कहीं भी तनाव न हो। जीवन आनन्द के लिए है। नृत्य के लिए है, पुण्य-कृत्य के लिए है, तनाव या दम

घुटाने के लिए नहीं ।

अमन-दशा में मन की मृत्यु नहीं होती, वरन् मन विलय पा लेता है आत्मा के धरातल पर । मन का देह से जोड़, सारे जहान से मन का चुम्बन जीवन में संसार निर्माण की आधारशिला है । यदि साक्षित्व-का-सर्वोदय हो जाय तो बिना किसी ननुनच के मन के तादात्म्य का निरोध हो सकता है ।

कहते हैं; जंगल से गुजरते समय गौतम की भेंट अंगुलिमाल से हुई । अंगुलिमाल था रक्त-पिपासु हत्यारा और गौतम थे चेतना-के-शिखर ।

अंगुलिमाल ने गौतम को ललकारा और जिस पगडण्डी पर वे चल रहे थे, वहीं ठहरने का निर्देश दिया । गौतम मुस्कराये और चलते-चलते ही कहा, मैं तो ठहरा हुआ हूँ हे निर्देशक ! चलना तू बंद कर ।

गौतम का वक्तव्य प्राणवन्त था, पर अंगुलिमाल के लिए वह उलटबाँसी था । चलते राही गौतम खुद को रुके हुए बता रहे थे और पहाड़ी की चोटी पर खड़े अंगुलिमाल को चलता हुआ । यह बात तो उसको बाद में समझ में आयी कि व्यक्ति का चलना तो वास्तव में उसी दिन समाप्त हो जाता है, जिस दिन मन की चाल की बैशाखी हाथ से छूट जाती है ।

गौतम ने कहा— 'अंगुलिमाल ! अपने मन में बहते गंदे नाले को देख! मुझ रुके हुए को रुकने को क्यों कह रहा है ? जिन कृत्यों से तू जुड़ा है, उन्हें जाग कर परख । कितने भयंकर हो सकते हैं उनके परिणाम ! जीवन मृत्यु की ओर बढ़ने के लिए नहीं; छीना-झपटी और भाग-दौड़ के लिए नहीं; तनावमुक्त आनन्दमय महाकरुणा के लिए है ।'

कहते हैं अंगुलिमाल का दिल बदल गया । वह फर्शाधारी से काषायधारी बन गया । यह एक अभिनव क्रान्ति थी ।

चूँकि अंगुलिमाल ने हजारों लोगों के घर उजाड़े थे, कितनों की हत्याएँ कीं, इसलिए ठौर-ठौर पर उसके दुश्मन थे । पर साधक को तो मृत्यु के प्रति भी मित्र-भाव रहता है । भिक्षाचर्या के लिए निकलने पर पहले ही दिन लोगों ने उसे पत्थरों से मार कर अधमरा कर दिया । जीवन की आखिरी घड़ी में उसने गौतम को अपने पास पाया । वह कृतज्ञ था । मार के बीच भी मुस्कान

धी, उसके मृत्युंजयी चेहरे पर ।

गौतम ने उससे पूछा- 'वत्स ! तेरा क्या भाव है ? अंगुलिमाल ने कहा, भन्ते ! ठहरे हुए का क्या भाव !'

गौतम बोले- 'पुत्र तुम्हें प्रणाम है। तुम्हारा मरण डाकू का नहीं, महामहोत्सव है अरिहन्त का । तुम निर्वाण पा रहे हो जिन !'

जीवन-भर सोयी दशा में पाप-कृत्यों का कृतित्व अदा करने वाला व्यक्ति यदि जाग कर छोटे-से-पुण्य-कृत्य को भी अपनी सम्पूर्ण समग्रता से करे, तो निर्वाण की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता । जागृत अवस्था में अन्तर का विमोचन ही ध्यान की भूमिका है । ध्यान है शिवनेत्र । यदि यह नेत्र न खुले, तो व्यक्तित्व सूरदास है ।

जीवन बना हुआ है गलाघोट संघर्ष । और ध्यान है उससे मुक्ति का उपाय । मनुष्य ने भले-बुरे विचारों का पर्दा बुना है और वह पर्दा ही उसके लिए घुटन का कारण है । उस पर्दे को उठाने का नाम ही ध्यान है । समाधि है विचारों-के-पार झांकने की क्षमता । समाधि है शान्ति; विचारों की शान्ति; मन की ऋषिता । इस प्रतिक्रिया एवं संघर्ष-मुक्त स्थिति की प्राप्ति ही जीवन में सम्यक् शान्ति की उपलब्धि है ।

ध्यान है प्रसाद का क्षण, प्रसन्नता का घूँट । यह वैसी ही प्रसन्नता है, जैसी बचपन में बच्चे को होती है । अंगूठे को चूसने में, रेती का घरोंदा बनाने में, या बट्टू (पत्थर) बीनने में भी वह प्रसन्न है । उसके अन्तर्जगत में उस स्थिति में न रहता है विचार, न विचारों की उथल-पुथल; रहता है सिर्फ प्रसाद/आनन्द । ध्यान घटता है प्रसन्नता के क्षणों में । ध्यान सध जाय, तो व्यक्ति रहेगा, जगत् भी रहेगा, उठ जाएगा मात्र विचार का पर्दा दोनों की सन्धि के बीच से ।



आइये, करें जीवन-कल्प

चित्त परमाणुओं की ढेरी है। हर मनुष्य की यह निजी सम्पत्ति है। एक मनुष्य के पास कहने को तो एक ही चित्त होता है; किन्तु उस एक में अनगिनत सम्भावनाएं छिपी हैं।

चित्त का अपना समाज होता है। जितना ज्यादा सम्पर्क और जितनी कल्पना, चित्त का समाज उतना ही ज्यादा विस्तृत, इसलिए चित्त हमारा घर नहीं है, वरन् इलाका है। इसमें कई कलियाँ हैं। कई कमरे हैं। इसका अपना बगीचा है। कई पाठशालाएं हैं। दोस्तों और दुश्मनों की भी कमी नहीं है।

चित्त व्यक्ति की अनन्त कल्पनाओं और संभावनाओं का आईना है। मनुष्य आमतौर पर सचित्त ही रहता है। अचित्त दशा तो झील-का-शांत होना है। चित्त ही व्यक्ति की चल सम्पत्ति है। यदि जीते-जी अचित्त/अचल दशा की अनुभूति हो जाए तो वह समाधि-के-पार-की-अनुभूति है। अचित्त दशा में चित्त के परमाणु तो रहते हैं, मगर परमाणुओं का संघर्ष नहीं रहता। सरोवर तो जल से लबालब रहता है, पर हवाई तरंगें समाप्त हो जाती हैं। ठहर-ठहर कर उठने वाली विचारों और कल्पनाओं की तरंगें ही चित्त-चांचल्य है। जिस क्षण वायवी कल्पनाएं जाम होंगी, कक्ष निर्वात होगा, उसी क्षण जीवन-कल्प की संभावना मुखर हो पड़ेगी।

जीवन-कल्प काया-कल्प से बहुत ऊपर की स्थिति है। काय-शुद्धि, वचन-शुद्धि और मनःशुद्धि का नाम ही जीवन-कल्प है। आत्म-शुद्धि जीवन-कल्प का ही शब्दान्तर है।

वह व्यक्ति जीवन-कल्प से कोसों दूर है, जो चित्त-चांचल्य का गुणधर्म है। चित्त के साथ बहना मुर्दापन है। जीवन्तता बहने में नहीं, तिरने/तैरने में है।

आदमी हमेशा चित्त के कहे में रहा, इसीलिए तो उसे युग-युग बीत जाने के बाद भी कोई मंजिल नहीं मिली। यहाँ मंजिलें तो सत्य के मार्ग पर सँकड़ों हैं; पर हर कदम पर मंजिल होते हुए भी एक भी मंजिल नहीं मिली है। जो भटकाव है, वह भटकाव-के-नाम-पर चित्त-का-खेल है। चित्त की उलटबाँसी को समझें—

यही जिन्दगी मुसीबत, यही जिन्दगी मुसरत (आनन्द) ।

यही जिन्दगी हकीकत, यही जिन्दगी फसाना ।

मैंने सुना है; किसी ने, किसी से पूछा, भाई कहाँ जाते हो ? उसने कहा— जिधर यह गधा जाता है। आदमी गधे पर सवार था। पूछने वाले व्यक्ति के बात समझ में न आई। जहाँ गधा जाता है, वहाँ मैं जाता हूँ, तो क्या गधे से पूछा जाए कि वह किधर जा रहा है ? क्या वह जवाब देगा ?

उसने कहा— भाई ! तेरी बात समझ में न आयी। तो वो बोला— गधा मेरे काबू में नहीं है। मैं गधे के काबू में हूँ। मैं दायें चलाना चाहता हूँ तो वह बायें चलता है। मैं जब इसे बायें चलाने की कोशिश करता हूँ, तो यह दायें चलता है। मैं घर जाना चाहता हूँ तो वह बाजार की ओर चलता है। और बाजार की ओर घुमाता हूँ तो वह घर की ओर चलता है। मैंने सोचा यह तो फजीती हो गयी। लोग क्या समझेंगे कि गधा मेरे काबू में नहीं है। मैं गधे से भी गया-बीता हूँ; इसलिए मैंने लगाम ढीली छोड़ दी है। जिधर चाहे उधर यह चले। कम-से-कम फजीती तो न होगी। मेरी इज्जत तो नहीं लुटेगी ।

तो उसने पूछा— आखिर गधे ने तुम्हें कहाँ पहुँचाया ? बोला— सुबह गाँव से शहर की ओर चला। अभी तक कहीं नहीं पहुँचा। शहर के नरक के पास खड़ा हूँ। अकूड़ी तक पहुँचा हूँ।

पूछने वाले ने आगे बढ़ते हुए कहा— भाई ! मैं तो आगे जा रहा हूँ, पर तू इतना जरूर सोच कि तुम दोनों में गधा कौन है ?

मनुष्य ऐसी ही जिन्दगी जी रहा है। फजीहत से घबराता है। जिधर

चित्त जाता है, व्यक्ति स्वयं को उधर का राही बना लेता है। दिशाहीन यात्रा भला कहाँ पहुँचाएगी ? ज्यादा-से-ज्यादा दुकान-से-घर और घर-से-दुकान। घर-से-घाट और घाट-से-घर। जिन्दगी की अनमोल घड़ियाँ इसी के बीच बीत जाती हैं।

चित्त अचेतन है। व्यक्ति स्वयं सचेतन है, पर क्या खूब है कि ड्राइवर कार नहीं चलाता, अपितु जिधर कार जा रही है, उधर ड्राइवर है; क्योंकि ब्रेक फैल हैं। ऐसी दशा में क्या कहीं किसी गन्तव्य की संभावना है ? क्या कहीं कोई मंजिल है ?

ताब मंजिल रास्ते में, मंजिलें थीं सैंकड़ों।
हर कदम पर एक मंजिल थी, मगर मंजिल न थी ॥

सत्य के रास्ते पर यात्रा तो तब होती है, जब व्यक्ति चित्त से कुछ ऊपर उठे; वह अचित्त बने, अचल बने।

पर हाँ, योग केवल अचित्त होने से— सधे, ऐसी बात नहीं है। स-चित्तता भी चेतना-के-द्वार पर दस्तक बन सकती है।

मोटे तौर पर चित्त की दो ही संभावनाएं हैं। या तो वह मार-से-कम्पित होता है, या राम-से-आन्दोलित। चित्त, मार और राम इन दो में से किसी एक को चुनता है। प्रशान्त चित्त होना समाधि में प्रवेश करने का द्वार है। मार से वासना को ईधन मिलता है। राम तो मुक्ति की झंकृति है। चित्त का राम होना उसका विराम नहीं है। यह उसका अन्तिम पड़ाव नहीं है। वह तो चित्त की प्रखर ऊर्जा को परमात्म-दर्शन की राह पर संयोजित करना मात्र है।

चित्त का विराम दमन है और दमन भूकम्प की पूर्व संभावित तैयारी है। अगर चित्त राम से आन्दोलित हो उठे तो साधना को साधने में और अपने अन्तर्यामी को पहचानने में चित्त से बड़ा मददगार अन्य कोई नहीं है। जीवन की टूटी-बौखलाई टाँगों को वही चित्त बैशाखी बनकर आगे बढ़ने में जबरदस्त मददगार हो जाता है। जो नौका अब तक हमें भटकाये हुए थी, वही किनारा पाने में सहायक हो जाती है।

अगर चूक गये राम-से-आन्दोलित होने से, तो फँसेंगे मार के चंगुल में । मार अगर प्रभावी हो गया, तो उसकी मिठास-चिपकी छुरी को चाटना पड़ेगा । छुरी पर लगी चासनी को खाना शक्कर के नाम पर जहर पीना है । यह अमृत के नाम पर विषपान है ।

मार तो नशे की गोली है । जिसने खायी, उसकी दशा बिल्कुल हीरोइन-पियक्कड़ की तरह होगी । अगर हीरोइन ली, तो जीवन की गोद में मोत का खतरा है; अगर न पी, तो तड़फेंगे, झुलसेंगे। यह तो प्याले में उभरता तूफान है ।

पहले समझें राम और मार को । 'मार' का अर्थ चाँटा लगाना नहीं है । मार राम की उल्टी शब्द-संयोजना है । राम की संधि तोड़ो । र, अ, म यह राम का अक्षर-संधि-विच्छेद है । इसे पलटो । अब अक्षर-रचना हुई म, अ, र । म से अ की संधि हुई तो मा बना । मा के साथ र की संयोजना ही मार है । यह बिल्कुल राम का उल्टा है । इन दो शब्दों को अगर ध्यान से समझ लिया, तो शास्त्रों की एक बड़ी खेप आपकी समझ में आ गयी ।

११ मार काम-वासना का देवता है । किसी को किसी के चंगुल में फँसा देना, यही मार का काम है । मार विपरीत का आकर्षण है । दो विपरीत धर्मों को एक सूत्र में बाँधना ही मार का कृतित्व है । वर्णसंकर इसका व्यक्तित्व है । पुरुष एक धर्म है । स्त्री दूसरा धर्म है । दोनों एक-दूसरे से विपरीत हैं । दो विपरीत तत्त्वों का रागात्मक सम्बन्ध ही मार है । वही संसार है । मार से प्रभावित होना स्वयं का संसार के प्रति लोकार्पण है । और राम से प्रभावित होना चित्त का परमात्मा के परम पथ पर संयोजन है ।११

मार और राम दो है । यह एक स्थान में नहीं रह सकते । एक सिंहासन पर एक ही राजा की बैठक हो सकती है, दो की नहीं । जहाँ राम हैं, वहाँ मार नहीं । जहाँ मार है, वहाँ राम नहीं । भला राम और रावण कभी दोनो संग-संग रहे हैं ? राम और काम दोनों परस्पर शाश्वत वियोगी कवि हैं ।

सम्बुद्ध लोगों की बात छोड़ो, आम आदमी तो मार के चंगुल में है । मार चार्वाक दर्शन की बुनियाद है । आदमी चाहे जैन कुल में जन्मा

हो या बौद्ध कुल में या ईसाई, पारसी, हिन्दू कुल में बातें सिद्धान्तों की चाहे जितनी कर लें, पर कर्म से तो वह चार्वाकी है। आत्मा और परमात्मा की बातें करने वाले, शरीर और संसार की नश्वरता का बखान करने वाले 'खाओ, पियो, मौज उड़ाओ' की उमर खैयामी जिन्दगी जी रहे हैं।

मार के पीछे बड़े-बड़े धुरन्धर पागल हैं। आम आदमी तो मार के इशारे पर है ही, यह उन लोगों को भी डिगा देता है, जिनका चित्त राम से आन्दोलित है। ले आता है यह किसी अप्सरा को और उसे कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ने से फिसला देता है। मेनका मार की ही तो माया है।

समझें मार की राजनीति बनाम कूटनीति को। मार और कुछ नहीं, व्यक्ति की स्वयं-की-कमजोरी है। मूलतः मार का कोई अस्तित्व नहीं है ! यह तो व्यक्ति की दुर्बलता है। मार वहीं पर शैतान बनता है, जहाँ वह व्यक्ति को दुर्बल देखता है। कहते हैं 'निर्बल के बल राम'। यह तो मात्र संतोष करने के लिए है। शैतानियत जितनी निर्बल करते हैं, उतनी सबल लोग नहीं करते। जहाँ व्यक्ति सबल है, वहाँ शैतान नहीं है। जहाँ व्यक्ति निर्बल है शैतान वहीं है। मार वहीं है।

जो व्यक्ति जितना ज्यादा निर्बल होगा, वह मार से उतना ही प्रभावित होगा। सैक्स या एड्स से वे ही पीड़ित हैं, जो दुर्बल हैं। जिसने पहचान लिया अपने बल को और बल के कारणों को, उसका चित्त मार से कभी कम्पित नहीं हो सकेगा। एड्स निर्बलता है। निर्बल की सोहबत से निर्बलता को बढ़ावा मिलेगा, सबल के सम्पर्क में सबलता निखरेगी।

कांच को सूरज की ओर करके देखो, उसमें भी बिजली पैदा हो जाएगी। अगर उसके झल्के को किसी दूसरे व्यक्ति की आँखों पर गिरा दो तो वह क्षण भर में आन्दोलित हो जाएगा। वास्तव में सबल होने का नाम योग है। सबल होना चारों ओर से संयत होना है और संयम-से-भरा जीवन अस्तित्व की सबसे बड़ी उपलब्धि है। निर्बल का पुरुषार्थ तो अंधेरे से लड़ना है। उसे जो भी सूझता है, वह अन्धे का सूझना है। कैसा व्यंग्य है यह कि अन्धे को अँधेरे में दूर की सूझती है।

यह चित्त राम से आन्दोलित होता है, तब निश्चित है कि मार उसके

सामने निष्प्रभ हो चुका है। राम के सामने मार की तूती कम बजती है। जीवन की गंध तो दोनों ही हैं— मार भी, राम भी। मगर राम जीवन की सुगन्ध है और मार जीवन की दुर्गन्ध। जो दुर्बल है उस पर मार हावी है। दुर्बल की चेतना मार की कथरी में दुबकी रहती है। सबल योगी है और सबल होने की कला का नाम योग है।

इसलिए यह कभी न समझना कि स्त्रियाँ खराब हैं, नरक का द्वार है; क्योंकि यह भूल सदियों-सदियों से होती रही है। पुरुष ने अपनी निर्बलता को पहचाना नहीं; इसलिये उसने स्त्री को मोक्ष में बाधा माना। मनुष्य की इस भूल ने नारी-जाति पर बहुत बड़ा अपकार किया है। चाहे कोई ऋषि हो या शास्त्र, जिसने भी ऐसा कहने की हिम्मत की उसने मानवीय कमजोरी को नहीं पहचाना। नारी-जाति के लिए वह एक अक्षम्य अपराध है।

मोक्ष या साधना के लिए न तो कभी पुरुष बाधक बनता है और न स्त्री। बाधक स्वयं की कमजोरी है, स्वयं की निर्बलता है और स्वयं की मार है। स्वयं की कमजोरी छिपाने के लिए यदि कोई व्यक्ति स्त्री के माथे पर दोष माँडने का दुस्साहस करता है, तो वह वास्तव में उसी यान में बम-विस्फोट करने की धमकी दे रहा है, जिसमें वह खुद चढ़ा-बैठा है।

मेरे पास कई लोग जो आते हैं, ध्यान की कला सीखने के लिए, समाधि के आकाश में उड़ने के लिए; सब आप बीती सुनाते हैं। उनकी आत्म-कथा सुनो तो बड़ी-हँसी आती है। कल ही एक सज्जन कह रहे थे कि मैंने मन्दिर जाना बन्द कर दिया। मैंने उनसे इसका कारण पूछा और उन्होंने सही-सही कारण बतला दिया। झूठ मुझे पसंद नहीं है यह बात नहीं, आदमी स्वयं झूठ बोलने की मेरे सामने आत्म-प्रवंचना कर नहीं पायेगा। गुरु के सामने भी अगर तथ्य छिपाओगे तो फिर सच्चाई का बयान कहाँ करोगे? यहाँ तो किये का पछतावा होना ही चाहिये। मेरी दृष्टि में कन्फेसन (आत्म-स्वीकृति) का बड़ा मूल्य है।

जानते हैं उस सज्जन ने क्या कहा— कहने लगे— मन्दिर जाता हूँ, तो जैसे ही किसी सुन्दर स्त्री को वहाँ देखता हूँ, मेरी आँखें मलिन हो जाती हैं। एकाग्रता धूमिल हो पड़ती है। मैंने सोचा यहाँ दृष्टि निर्मल नहीं रह पाती,

इसलिए मैंने मन्दिर जाना छोड़ दिया ।

मैंने कहा— वह आपकी नासमझी है । अगर बदलना ही है तो अपनी नजरों को बदलो । मन्दिर जाना बन्द क्यों करते हो ? अपनी वृत्ति और अपनी कमजोरी को न पहचान कर दोष डाल रहे हो किसी सुन्दर स्त्री पर, भगवान के मन्दिर पर । अपराधी न स्त्री है न स्त्री का सौन्दर्य । अपराधी तुम स्वयं हो । अपराध तुम्हारी स्वयं की कमजोरी है । चोर स्वयं हो और दोष मंड रहे हो अन्यो पर ।

जब ध्यान करने बैठोगे तब मन की चंचलता उभरती दिखायी देगी । वास्तव में यह मन की चंचलता है ही नहीं । तुम बैठे हो एकान्त में तो मन तुम्हें कुछ सुनाना चाहेगा । वह तुम्हारे स्वयं की कहानी सुनायेगा । क्या तुमने कभी अपनी आत्मकथा पढ़ी है ? गाँधी या टॉल्स्टाय की आत्मकथा पढ़ने वाले लोग कभी अकेले में जाकर बैठें और खुद पढ़ें खुद की आत्मकथा को । जन्म से लेकर जो भी अच्छा-बुरा किया है, उसका सारा इतिहास अपने मस्तिष्क में स्मरण करो, उसका मनन करो और गाँधी की आत्म-कथा की तरह उससे कुछ सीखो । आश्चर्य होगा आपको कि गाँधी की आत्मकथा पढ़ते-पढ़ते अभी तक जीवन में कोई क्रान्ति न आयी । पर स्वयं की आत्मकथा पढ़ते-पढ़ते जिन्दगी एक ही दिन में गाँधी के मंच पर जा चढ़ी ।

दूसरे की आत्मकथा को सौ बार पढ़ने की बजाय स्वयं की आत्मकथा को एक बार पढ़ना ज्यादा बेहतर होता है ।

ध्यान के समय मन अगर चंचल होता लगे, तो ध्यान से भागना मत, अपितु मन के व्यक्तित्व को साक्षी बन कर देखना और पढ़ना । मन के स्वभाव को और उसकी गतिविधियों को समझना; मन को टिकाने का अचूक साधन है ।

मन कुछ सुनाने को उत्सुक है । वह लालायित है कुछ कहने को, पर वह सुनायेगा व्यक्ति को एकान्त में ही । जब सुनना चाहोगे, तभी सुनायेगा । जब आँखें बन्द हों, होठ चुप हों, काया टिकी हो, तभी मन हमारे कानों में कुछ गुनगुना सकता है । मन की गुन-गुनाहट और फुस-फुसाहट को सुनने की कोशिश कीजिये ।

मन अच्छी बातें कहने के लिए कभी नहीं आयेगा। वह स्वयं नहीं सिखायेगा, अपितु सीखने के निमित्त उपस्थित करेगा। वह व्यक्ति के बदकिस्मत बने अतीत से सीखने के लिए व्यक्ति को प्रेरित और उत्साहित करेगा। वह अपने पॉकेट में दबी कतरन को दिखायेगा। स्वयं के सोये पुरुषार्थ को जगाने के लिए मन चुल्लू-भर पानी छिटकेगा। कभी पूरी न होने वाली उन हवाई कल्पनाओं से साक्षात्कार करवायेगा, जिनका अंकुरण व्यक्ति ने स्वयं किया है, जिन्दगी-भर किया है; इसलिये ध्यान के समय होने वाली मन की चंचलता वास्तव में व्यक्ति की अतृप्ति और तृष्णा का छायांकन है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि अपनी कमजोरी को समझने की कोशिश कीजिये। अपनी वासना और अपनी सेक्स-भावना को पहचानने की चेष्टा कीजिये। जिस क्षण स्वयं की दुर्बलता को समझोगे, उसी क्षण चित्त मार से अकम्पित हो जाएगा। उसका सारा आन्दोलन राम से जुड़ा होगा, न कि मार से।

व्यक्ति दुःखी जब-जब भी होता है, मार के कारण होता है, पर अब वह इतना अभ्यस्त हो चुका है कि वह खुजली खुजलाने में सुख की अनुभूति कर रहा है। यदि कोई इसे सुख कहता भी है, तो यह सुख चक्षुष्मान कभी नहीं हो सकता। यह सुख सूरदास है। खुजलाने से मिलने वाले आनन्द का अनुभव तो बार-बार स्मरण आता है और फिर-फिर खुजलाने के लिए तत्पर हो जाते हो। पर जरा याद करना उस दर्द को, उस पीड़ा को, उस मवाद और उस खून को, जो परिणाम है खुजलाने का। उस रास्ते क्या चलना जो बढ़ाये जा रहा है अन्धकूप की ओर। स्याही से कपड़े को भिगो कर साबुन से धोने की अपेक्षा तो अच्छा तो यही है कि उसे स्याही में भिगोया ही न जाय।

गंगा पवित्र है, उजली है; पर तभी तक जब तक वह अपने स्वरूप में है। विपरीत के साथ उसका मेल उसकी पवित्रता के लिए चुनौती है। चित्त का प्याला अगर शांत हो जाए तो वही समाधि है, अगर वासना से प्रभावित हो जाए तो उसी प्याले में तूफान है और अगर परमात्मा से आन्दोलित हो जाए तो उसी में आसमान है।



यह है विशुद्धि का राजमार्ग

मानवता विश्व की सबसे बेहतरीन नीति है । यह विश्व की आँख है, अस्तित्व की आभा है । मानवता का सम्मान विश्व के लिए अमृत स्नान है । मानवता का गला घोंटना विश्व को विषपान के लिए विवश करना है ।

विश्व-शान्ति का पहला पगथिया मानवता को अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त करना है । भला, द्वन्द्व का मानवता से क्या सम्बन्ध ! मानवता उजाले का मंचन है; द्वन्द्व अन्धेरे का मंचन है । अंधेरे से अंधेरा पैदा होता है और उजाले से उजाला । अन्धेरे से अन्धेरे को कभी खदेड़ा नहीं जा सकता । उजाले का अवतरण ही अन्धेरे के निरस्त्रीकरण का साधन है ।

अन्तर्द्वन्द्व मानवता के लिए चुनौती है । उसका अधिकार शान्ति है, द्वन्द्व नहीं । द्वन्द्व का रिश्ता स्वयं मनुष्य से है । अगर चित्त को ही फाड़-फूड़ कर कचरे की टोकरी में फेंक दिया जाए, तो अन्तर्घर में द्वन्द्व की गन्दगी कहाँ फैलेगी !

द्वन्द्व से छुटकारा पाने के लिए दो ही विकल्प हैं— या तो चित्त को मृत्यु के दस्तावेज पढ़ा दिये जायें या उसे धो-मांजकर/झाड़-पोंछकर/साफ-सुथराकर सजा-धजा लिया जाए । जीवन में महाशून्य और महाशान्ति की अनुभूति के लिए ये दोनों ही तरीके अनन्त के वरदान हैं ।

चित्त सूक्ष्म परमाणुओं की मिली भगत सांठगांठ है । इसका खालिस होना जीवन का सौन्दर्य है । घरबार को सजाने में लगे इंसान द्वारा हृदय-कक्ष को नयनाभिराम बनाने के लिए संकल्प जगना ही ग्रन्थि-शोधन की आधार भूमिका है । तृष्णा और वासना के बीच धक्के खाते रहना तो मृत्यु के द्वार

पर जीवन का संसार-भ्रमण है। मन के रहते तृष्णा भी जन्मेगी और शरीर के रहते वासना भी; किन्तु शरीर को मन की जी-हजूरी में लगाना और शरीर को मात्र शरीर के साथ खिलवाड़ में उलझाना मनुष्य की सबसे ओछी बुद्धि की पहचान है। आखिर शरीर और मन के आगे भी पड़ाव की सम्भावनाएँ हैं। गोरी चमड़ी के लिए मन की बाँहें फैलाना और चोरी/दमड़ी के पीछे ईमान को नजर-अन्दाज करना जीवन की आन्तरिक असभ्यता और फूहड़पन है।

हमें तो अन्तरजगत् को फूल की तरह खिलाना और महकाना है। मनुष्य का दायित्व तो दूसरों के जीवन में भी सुवास-संचार का है, पर जहाँ खुद के पाँव दलदल में जमे हों, तो विशुद्धि का मार्ग आँखों से ओझल कहलाएगा ही। सीखें हम फूलों से महकना और गुलशन को महकाना।

सौरभ को जीवन-द्वार पर आमन्त्रित करने के लिए जरूरी है चित्त और चित्त-वृत्तियों को पावनता की किसी गंगा में नहला-धुला लिया जाए। हमारे जीवन की हर नीति दूसरों के लिए भी यथार्थ आदर्श बने, तो ही हमारे अस्तित्व की सार्थकता है।

चित्त पर मलिनता आती है संकल्प की कमजोरियों के पिछले दरवाजे से। बर्तन पर धूल जमनी स्वभाविक है। अगर खुश मिजाज के साथ उसे साफ किया जाए, तो विशुद्धिकरण भी आनन्ददायी होगा। मुँह-लटकाए दिल से चित्त को कभी ईश्वर का सामीप्य नहीं दिलाया जा सकता है। ईश्वर बिम्ब है तो ऐश्वर्य उसकी आभा। क्या राख जमे आइने में किसी का चेहरा झलकेगा? बिम्ब-दर्शन के लिए दर्पण-दर्शन की उज्वलता अनिवार्य है।

ईश्वर उत्सव है, और उत्सव उत्सुकता से मनाया जाना चाहिए। ईश्वर उत्सव रूप है, रस रूप है। रसमयता ही एकाग्रता की आधारशिला है।

एक बात तय है कि चित्त कर्ता नहीं है; चित्त करण है। चित्त ने न तो अपने पर अशुद्धि की मैली कथरी ओढ़ी है और न ही वह शुद्धि की पेशकश करेगा। आखिर व्यक्ति ने ही उसके पात्र में जहर घोला है

और वही उसे निर्विष करने का उत्तरदायी भी है। शुद्धि की पहल वही कर सकता है, जिसने अशुद्धि की भूमिका निभाई है। जिन सीद्धियों से व्यक्ति नीचे फिसलता है, उन्हीं से सम्मलकर ऊपर चढ़ना होगा।

चित्त अपने आप में एक शक्ति है, और यह शक्ति चेतना के ही बंदौलत है। यदि हम चित्त को हमारे अन्तःकरण के अर्थ में स्वीकार कर लें तो विशुद्धि के दायरे सहज और ऋजु हो जाएँगे। इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं, किन्तु इन्द्रियों के संस्थान का निर्देशक तो चित्त ही है। भीतर से जैसे निर्देश मिलते हैं, इन्द्रियाँ उनका अमल करती हैं। इन्द्रियों की रोशनी बाहर से जुड़ी है। आँख, कान, नाक के अपने-अपने क्षितिज हैं। शुद्धि से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। वे तो चाय-की-प्याली को दुकान से दफ्तर तक पहुँचाने वाली निमित्त मात्र हैं। इसलिये चित्त अगर शुद्ध हो जाए तो इन्द्रियों की शुद्धता आपो-आप संभावित है। आखिर चपरासी को रिश्वत लेने का पाठ पदाधिकारियों से ही सीखने को मिलता है। अन्तर्शुद्धि बहिर्शुद्धि का अनिवार्य आधार है।

मनुष्य इन्द्रियों के जरिये ही भीतर के भावों की तरंगों को बाहरी जगत् में मूर्तरूप देता है, किन्तु उसकी सम्पूर्ण गतिविधियों का आधार-सूत्र चित्त ही है। इसीलिये यह इन्द्रियों का निर्देशक है। अगर एक बात दिमाग में घर कर ले कि चित्त को इन्द्रियों का निर्देशक होते हुए भी आत्मा को सलामी देनी ही पड़ती है। यदि द्रष्टाभाव जीवन्त हो जाय, तो चित्त का संस्कारजन्य शोरगुल मन्दा पड़ जायेगा। तटस्थ-पुरुष के लिए चित्त चरणों-का-चाकर है।

चित्त का बोध हमें इसकी क्रियाओं के द्वारा होता है। यदि वह सन्तप्त हो जाए तो शरीर की सारी गतिविधियाँ उससे प्रभावित होंगी ही। आँख सही भले ही हो, किन्तु दर्शन के बाद होने वाले निर्णय का निर्णायक तो भीतर विराजमान चित्त ही है। इन्द्रियों की गतिविधियों का तार चित्त से जोड़ दिये जाने के कारण ही सुख-दुःख के बांसों की झुरमुट के टी-वी-टी-टुट-टुट सुनाई देते हैं। मनुष्य द्वारा चित्त के आधीन हो जाना ही जीवन की सबसे बड़ी अशुद्धि है। वो व्यक्ति सम्राट है, जिसने चित्त की बागडोर बखूबी सम्हाल रखी है।

चित्त विचारों, संस्कारों, धारणाओं की फसल का बीज है। वे चाहे अच्छे हों चाहे बुरे, महाशून्य की अनुभूति में रोड़े ही हैं। अच्छे-बुरे का द्वन्द्व ही तो तनाव की नींव है। विचारों में व्यक्ति अयोध्या जाए या अकूरी, बाहरी रास्तों को ही नापेगा। तटस्थता आत्मसात् हो जाय तो व्यक्ति न तो चित्त के मुताबिक रहेगा, न चित्त के खिलाफ। वह रहेगा जीवन की विपरीत अवस्थाओं से अप्रभावित/अछूता।

चित्त की हू-ब-हू पहचान के बाद प्रवृत्ति रहती है। किन्तु वृत्ति नहीं। प्रवृत्ति अनिवार्यता है, वृत्ति फिसलना है। वृत्ति चित्त की फुदफुदाहट है। चित्त-शून्य पुरुष द्वारा होने वाली प्रवृत्ति मनुष्य को कभी भी आड़े हाथों नहीं बाँधती। वृत्ति विकृत हो सकती है। ध्यान विकारों से ही नहीं, विचारों से भी मुक्ति का अभियान है।

विचार चित्त की वासना है। वासना प्रक्षेपण है। वस्तु का मूल्य मनुष्य की वासना में है। पत्थर सिर्फ काँच ही नहीं है, हीरा भी है; मन की वासना बुझ जाए, तो कैसे होगा हीरा महिमावान् और काँच का अपमान। विचारों में वासना का बसेरा हो जाने के कारण ही तो मनुष्य के प्राण किसी तोते में न रहकर तिजोरी में अटके पड़े हैं। वासना में ही तो चित्त को भिगोया है। निचोड़ें जरा कसकर चित्त को उसकी सुकावट के लिए।

शाश्वत के घर में प्रवेश पाने के लिए विचार-शून्यता अनिवार्य है। मैं हिन्दु, मैं मुसलमान; मैं पुरुष, मैं स्त्री; मैं सुखी, मैं दुःखी; मैं त्यागी, मैं भोगी— ये सब भीतर की विचार रेखाएं हैं। हर रेखा दरार की शुरुआत है और हर दरार उपद्रव की वाचक है। विचार-शून्यता/चित्त-विशुद्धता अन्तर में विराजमान हो जाए, तो उपद्रव को उल्टे पाँव खिसकना ही होगा।

विचार/संस्कार उस समय ज्यादा उभरते हैं, जब कोई शान्त बैठने की चेष्टा करता है। ध्यान शान्त चित्त बैठने की ही पहल है। ध्यान की घड़ियों में आने वाले विचार सोये-सोये दिखने वाले स्वप्न-चित्रों से भिन्न नहीं हैं। स्वप्न-मुक्ति के लिए चित्त का परिचय-पत्र पढ़ना जरूरी है। जो चित्त को परखने की कोशिश करता है, उसके सपने लेने की आदत खूद-ब-खुद

ढहने लगती है । चित्त ही चुप्पी साध ले, तो स्वप्न-भटकाव कहाँ ।

यद्यपि सपने दिन भर के दुःखी जीवन में दिखने वाली रजनीगंधा इन्द्रधनुषी रंगिनियाँ हैं, पर सपने के लड्डुओं से पेट नहीं भरता । स्वप्न सत्य नहीं, मात्र विचारों-के-द्वन्द्व का सागर-की-लहरों में नजर-मुहैया होने वाला प्रतिबिम्ब है । ध्यान का प्रभाव मन पर जम जाये, तो चंचलता हिमाच्छादित हो जायेगी, स्थिरता आँख खोल लेगी ।

आत्म-शुद्धि अन्तर्यात्रा का सधा कदम है । आत्म-शुद्धि ही जीवन-शुद्धि है । चित्त-शुद्धि जीवनशुद्धि की अनिवार्य शर्त है । काया-कल्प के पीछे पड़ने वाले लोग जीवन-कल्प पर विचार भी नहीं करते । शरीर, विचार और मन— तीनों की शुद्धि ही आत्म-शुद्धि की तैयारी है । स्वयं का पात्र मंज जाये, तो ही पीयूष-पान का मजा है ।

मानसिक एकाग्रता के लिए जलधारा, दीप-ज्योति, सूर्य-किरण, परमात्म-प्रतिमा, शब्द-मन्त्र वगैरह प्रतीक चुने जाते हैं । ये आलम्बन सारे जहान में भटकाव से हटाव में मददगार हैं । परमात्मा की परम शांति/शक्ति की सम्भावना स्वयं व्यक्ति के अन्दर है । भीतर का दीपक जलाने के लिए किसी प्रकार के प्रबन्ध की जरूरत नहीं है । वह तो ज्योतित ही है । दीपक के इर्द-गिर्द आवरण है । अनावरण करें दीप का, रोशनी बहेगी आर-पार ।

ध्यान स्वयं को बेनकाब करने का ही प्रयत्न है ।

ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त की प्रसन्नता अपरिहार्य है । दुःखी व्यथित आदमी ध्यान में व्यथा-कथा की ही प्रस्तावना लिखेगा । जब स्वयं को खुश महसूस करें, तभी ध्यान के द्वार पर दस्तक दें । परम प्रसन्नता का समय ही ध्यान करने का सही समय है, फिर चाहे वह समय रात से जुड़ा हो या प्रभात से । ध्यान हमारे जीवन का अमृत-मित्र बन जाये, तो ही ध्यान का सही आनन्द है । श्वांसों का प्रेक्षण, चिन्तन का अनुपश्यन ही ध्यान नहीं है; ध्यानपूर्वक खाना, सोना, चलना, बोलना— सब ध्यान ही हैं । एकाग्रता एवं शक्ति-घनत्व का प्रयोग हो । ध्यान हमारे अस्तित्व का अंग तभी है, जब उसके बिना जीवन विरहनी की कविता बन जाये ।

चित्त तो भीतर का चक्का है । आन्तरिक एकाग्रता साधना के लिए उसकी तेजतर्राहट रोकनी जरूरी है । उसकी छितराती वृत्तियों और चंचलता पर अंकुश लगाने का नाम ही एकाग्रता है । एकाग्रता में पड़ने वाली दरारों को मिटाने के लिए चित्त-शुद्धि की पहल अनिवार्य है ।

चित्त के रास्तों से संस्कारों के कई कारवाँ गुजरते हैं । संस्कार स्मृति-संकर न कर पाये, यह ध्यान रखना बेहद जरूरी है । चित्त को साफ-सुथरा करने के लिए वैर की बजाय प्रेम को बढ़ावा दें । स्वयं के दोषों को याद कर आँसुओं का धौला ताज न बनाकर स्वयं में गुणों को सींचने का दिलोजान से प्रयास करें । कषाय, वासना, डर को भीतर न दबाकर उसका रेचन करें । किसी की निन्दा के भाव जगे, तो ओंकार का नाद करें । किसी पर पत्थर फेंकने की बजाय माला के मनके चलाएँ । उन निमित्तों से भी दूर रहें, जिनसे चित्त मलिन/विचलित हो । ऊर्जा को सही दिशा में योजित करें । चित्त को सही दिशा में लगाना ही जीवन का रचनात्मक एवं सृजनात्मक उपयोग है ।

चित्त की विशुद्धि स्थिति में ही आत्मा की परमात्म-शक्ति मुखर होती है । जरूरत है प्रसन्नतापूर्वक चित्त को माँजने की, जीवन में सौहार्द एवं सौजन्य को न्यौता देने की । बाहर घूमती चेतना का समीकरण करें । सर्वतोभावेन ध्यान में रसमय हो जाएँ, समाधि हमें प्यार से छाती से लगाएगी । पहले टपकेगी समाधि की बूँदें, फिर आएगी बरसात, एक दिन ऐसा होगा जब डूबे मिलेंगे समाधि की बाढ़ में ।

किन्तु, ध्यान-समाधि के इस वृक्ष की हरी छाँह को पाने के लिए हमें सर्वप्रथम चित्त को उस दलदल से निकालना होगा, जिसका सम्बन्ध असमाधि एवं भटकाव से है । अन्तरजगत् की विकृतियों को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाना ही चित्त-शुद्धि का उपक्रम है । हम सिखाएँ चित्त को संस्कृत होना । संस्कृत पढ़ना अलग चीज है, पर संस्कृत होना विकृतियों से विमुक्त होने का साधु-अभियान है । निर्विकार चित्त ही मानवता को द्वन्द्व के शिकंजों से मुक्त करने की पृष्ठभूमि है ।

चित्त दर्पण की भांति है । इस पर विकारों/विचारों की धूल जम

जाती है। उस धूल को पोंछना ही जीवन में निर्मलता की दस्तक है।

मनुष्य की चित्त-अशुद्धि से पहली मुठभेड़ तब होती है, जब वह बाहरी चकाचौंध को आत्मसात् करने की कोशिश करता है। मनुष्य जहाँ भी असार में सार को और सार में असार को आरोपित करता है, वहीं वह अन्धकार की ओर अपने दो कदम बढ़ा बैठा है। जड़ को चेतन और चेतन को जड़ मानना ही मनुष्य का अज्ञान है। मानना कोरी भ्रान्ति है। जीवन में चाहिए ज्ञान की भोर। जानना अभिनव क्रान्ति है। जड़ को चेतन मानने से वह चैतन्य-ऊर्जा से अभिमण्डित नहीं हो जाता। एक दूसरे पर किया जाने वाला भ्रान्त निक्षेपण ही चित्त पर कीचड़-की-परत चढ़ना है।

वस्तु, अवस्था या परिस्थिति में जीवन-बुद्धि का आरोपण चित्त की मौलिक अशुद्धि है। यदि मनुष्य पदार्थ और चेतना के बीच भिन्नता-का-बोध कायम रखे, तो अशुद्धि को अन्तर्गत से कोसों दूर खिसकना पड़ता है। ध्यान इस मौलिक भिन्नता को दर्शाने वाला विवेक-दर्शन है।

जिन लोगों को धूम्रपान की आदत है, क्रोध या चिड़चिड़ापन का घेराव है, बाहर के रोग के कारण तनाव का अन्तर्मन में जबरन डेरा है, वे ध्यान की दवा का सुबह-शाम अवश्य सेवन करें। अपनी ऊर्जा को केन्द्रित कर ध्यान में समग्रता से जीना चित्त की अशुद्धियों को कानूनन दिया जाने वाला देश निकाला है। चित्त-शुद्धि ही मनुष्य के लिए अन्तर्-शान्ति की आधारशिला है। मानवता को शान्ति से प्रेम है और विश्व को मानवता से। शान्ति विश्व का व्यक्तित्व है और मनुष्य का धर्म उस व्यक्तित्व के लिए स्वयं को सर्वतोभावेन समर्पित करना है। मानवता के मूल्यों से जीवन-की-समग्रता जोड़ना अपने कर-कमलों से विश्व को अभिनन्दन-पत्र प्रदान करना है।



वर्तमान की विपश्यना

मनुष्य का मन बड़ा विचित्र है। वह या तो अतीत की ओर अपने कदम बढ़ाता है या भविष्य की ओर अपनी पलकें टिमटिमाता है। वह वर्तमान से अपरिचित है। जीवन का सम्बन्ध अतीत से भी रहा है और भविष्य से भी हो सकता है। जहाँ तक जीवन की जीवन्तता का सवाल है, उसकी सम्पूर्णता वर्तमान में है।

जीवन प्रवाह है समय के धरातल पर। यह अविराम-अनिरुद्ध प्रवाह है। मनुष्य की व्याकुलता का कारण प्रवाह की अनिरुद्धता ही है। काश, मिल जाये उसे स्थित द्वीप, जहाँ वह निराकुल आनन्द में मस्त रह सके। यह निराकुलता जीवन के प्रवाह में महाजीवन की भोरभरी दास्तान है।

निर्वाण का अर्थ किसी टेकरी पर जाकर बसना नहीं है, जो संसार के ऊहापोह भरे सागर से ऊपर हो। निर्वाण मन की मृत्यु है, समय का अतिक्रमण है। समय और मन दोनों में भाई-भतीजावाद चला करता है। जिसका मन मिट गया, उस पर समय के कालचक्र का नुकीलापन काम नहीं देता।

व्यक्ति मन से शून्य बने। वह उसे मांजने के चक्कर में न पड़े। परिमार्जन भी मन का ही सभ्य दांवपेंच है। महावीर और बुद्ध जैसे पुरुष मन-मंजन के लिए संसार-मुक्त नहीं हुए, वरन् संसार और संन्यास के जाल बुनने वाले मन से मुक्त होने के लिए वीतद्वेष-मार्ग पर आरूढ़ हुए। मन भला कोई दर्पण है, जो उसे राख या नीबू की खटाई से मला जाये! वह पदार्थ है। वह शरीर की सूक्ष्म संहिता है। व्यक्ति अतीत हो शरीर से भी, मन से भी।

मन का परिमार्जन सान्त्वना देने वाली बात है। सान्त्वना सुबकतों को भी दी जाती है और प्रगतिशील प्रतिभाओं को भी। पर हैं तो दोनों ही मन की भंगिमा। सान्त्वना दी जाती है दूसरों-के-द्वारा। हमारे जीवन के अच्छे-बुरे मापदण्ड का निर्णय हम दूसरों की जुबान को ससम्मान सुपुर्द कर देते हैं। किसी के द्वारा अच्छे कहे जाने पर हम स्वयं को अच्छा मान लेते हैं, उसके द्वारा किये जाने वाले गुणानुवाद के प्रति हम धन्यवाद से भर जाते हैं, तो बुरा कहे जाने पर स्वयं को बुरा मानते हुए उसके प्रति उपेक्षा-भाव दृढ़ कर लेते हैं। भला, जब सभी लोग बकरी को कुतिया कहते हैं, तो यह कुतिया ही होगी। दूसरों के बातुनी सम्मोहन में स्वयं का विवेक छोड़ देना आत्म-निर्णय से वंचित होना है।

आत्मनिर्णय के लिए हमें वर्तमान परिस्थिति का जायजा लेना होगा। दुलमुल यकीन काम न आएगा। जो है, वही है; जैसा है, अपनी वास्तविकता में है। अध्यात्म स्वयं की वास्तविकताओं से साक्षात्कार है।

जीवन की समग्रता शाश्वतता में है। अहो ! कब वह दिन होगा, जब धरती के लोग शाश्वतता के स्वप्न को सत्य बना पाएंगे। शाश्वतता हमारे अस्तित्व से जुड़ी आभा है। यह समय की पुकार नहीं है, अपितु समय की हार है। समय की पहाड़ियों पर शाश्वतता नहीं खिलती। शाश्वतता का जन्म समय के कांटे के टूट जाने पर सम्भव है।

हम पहल करें शाश्वतता की, मन से मुक्त होने की। अपने जीवन को पढ़ें, निहारें, जीवन की असलियत खुद-ब-खुद सामने नजर आ जाएगी। मुझे सुनकर जगने वाली प्यास उधार है; सुनें, पढ़ें स्वयं को, ताकि यात्रा शुरू कर सको गहन प्यास के साथ जीवन के जलस्रोत को ढूँढने की। इन्द्रियजीवी होने के कारण शायद जलस्रोत बाहर ढूँढ सको, किन्तु लौटकर स्वयं में झाँकोगे, तो जलस्रोत स्वयं में ही हँधा-दबा पाओगे। बाहर ढूँढना मन की यात्रा है, स्वयं का अतिक्रमण है। भीतर निहारना अमन-की-कोशिश है, स्वयं-का-प्रतिक्रमण है।

जीवन के स्रोत स्वयं में हैं। अतीत से भी रहे हैं, अभी भी हैं। जो 'है' उसके 'था' पर विचार करते रहना अनर्गल प्रयास है।

जीवन की समग्रता उसके 'है' में होने में है, बाकि तो सब 'सूने घर के पाहुने' हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि धरती पर हमारे पाँव हैं। धरती की विराटता हमारे सामने 'खुली हथेली' की तरह फैली हुई है। विराटता को देखने की 'दर्शन-क्षमता' जितनी प्रखर होगी, विराटता हमारे उतनी ही नजदीक होगी।

धरती के नीचे पाताल है और ऊपर आसमान। न पाताल का कोई अन्त है, न आसमान का कोई छोर। जब परिवेश करवट बदलता है, तो आकाश में भी पाताल की संभावनाएं बोल उठती हैं, और पाताल में आकाश की भी। आकाश तो हर अस्तित्व का प्राक्कथन है। आकाश कोरा है। आकाश का चुर्नीदा मतलब है खालीपन, भरपूर छूट। जमीन पर्त-दर-पर्त जमी माटी है और आसमान शून्य-दर-शून्य का बसेरा है।

पृथ्वी गोल गुम्बज है, पाताल तो मंगल, शनि, नेपच्यून ग्रहों में भी है। वहां भी आकाश की रिक्त सफेदी है। क्या यह हमारी कम तकदीर है कि हमें हरी-भरी जमीन भी मिली है और आकाश का धारागर श्वेत छत्र भी। आंगन भी, आंगन में आकाश भी। हमारे अस्तित्व का कारवां दोनों के मध्य है।

हम धरती के निवासी हैं। पर जमीन के लिए कैसे झगड़े? यदि कोई इस पर अधिकार जताएगा भी, तो भी कहाँ तक! किस गहराई तक अधिकार जताएँगे! भूलें हम अधिकार की भाषा, क्योंकि अधिकार की भाषा आसक्ति की भाषा है, हिंसा और अहंकार की भाषा है। सोने की चिड़िया जैसी किंवदन्ती थाती से जुड़े देश की माटी में अधिकार की गन्ध? अधिकार नहीं, प्यार की भाषा में आएँ। हम स्वतन्त्रता के प्रेमी हैं, जमीनी संकुचित अधिकारों के नहीं।

जमीन सदियों से रही है और अन्तरिक्ष भी वही, किन्तु मन की अधिकारिक भूमिका में जीने वाले पता नहीं, अब तक कितने लोग अपना दम तोड़ चुके हैं। संसार में एक इंच भी जमीन ऐसी नहीं है, जहाँ अब तक कम-से-कम दस लोग दफनाये न गये हों। इसलिए सारा संसार श्मशान और कब्रिस्तान का मण्डप है।

दुनिया में अन्तरिक्ष के भी बँटवारे हो चुके हैं। महाशून्य का भी अलग-अलग 'विभाग', बहुत खूब ! मधुर व्यंग्य ! 'नहीं है' पर भी 'है' की सील !

यह सारी जमीन हमारे अतीत की गवाह है। पता नहीं, हम अब तक कितनी बार यहाँ जन्म-जन्म कर मर-खप चुके हैं। मृत्यु हर बार जन्म का कारण बनी और इस सारी कार्यवाही का अगुवा हमारा मन ही रहा। जमीन की पर्तें जितनी गहरी, हमारा अतीत भी उतना ही उम्दा। आकाश जितना फैला है, हमारा भविष्य भी वैसा ही अज्ञेय है, क्षितिज-दर-क्षितिज के बाद अज्ञात-ही-अज्ञात।

धरती हमारा वर्तमान है। अतीत नरक है, वर्तमान ब्रह्माण्ड है और भविष्य स्वर्ग। कुछ होने के लिए सिर्फ ब्रह्माण्ड है। पर मनुष्य है ऐसा, जो वर्तमान पर उतना विश्वस्त नहीं है, जितना अतीत और भविष्य पर, नरक और स्वर्ग पर। है तो ब्रह्माण्ड भी नरक और स्वर्ग जैसा, किन्तु बिचोलिया फर्क यह है कि ब्रह्माण्ड हमारी आँखों के सामने है और नरक-स्वर्ग पीठ पीछे। जो वर्तमान में जीता है, उसके चरण नरक और स्वर्ग दोनों के पार हैं। वह जैसा है, उसी में जीता है। जो है, उसी का स्वागत-साक्षात्कार करता है। वह सिर्फ अपने शरीर का ही वर्तमान में उपयोग नहीं करता, अपितु मन को भी वर्तमान पर केन्द्रित कर लेता है। वर्तमान पर किया जाने वाला केन्द्रीकरण अतीत और भविष्य के पेचिदे भटकाव या सुनहरे स्वप्निले वातायन में जीने से ज्यादा बेहतर है। नरक के भय से या स्वर्ग के लोभ से जीवन-कृत्य न हो, वह हो निर्भयता के लिए, लोभ-मुक्ति के लिए।

सोच व्यर्थ है मृत अतीत का, व्यर्थ है आगे का चिंतन।

जीवन तो बस वर्तमान है, श्रेष्ठ इसी का अभिनन्दन ॥

जो लोग अतीत को ही सुमरते रहते हैं, वे अपने घावों को कुरेद रहे हैं। अच्छा अतीत भी आखिर स्मृति का गम ही हमें सौपेगा। माथाखोरी से बचने के लिए ही तो अतीत को अनादि कहा जाता है। सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता भी अतीत के आदिम छोर को नहीं छू पाते। और

तुम हो, जो सिर्फ अतीत के बारे में सोचते रहते हो। अतीत को अगर जानोगे भी, तो भी कितना ! जानकर भी अनजान ही रह जाओगे।

भविष्य अतीत से कम नहीं है। भविष्य अक्सर अतीत का ही प्रतिबिम्ब होता है। भविष्य अतीत की पुनरावृत्ति है, अतीत की पोथी का पुनर्संस्करण है। फिर भी, भविष्य को कोई नहीं जान सकता। भविष्य के लिए सिर्फ कल्पनाएँ की जा सकती हैं, या अधरों-के-आश्वासन दिये जा सकते हैं। इस बात से कोई अपरिचित नहीं है कि कल्पनाएँ मन-की-मक्खियाँ हैं और भिनभिनाते रहना मक्खियों-का-स्वभाव है।

मनुष्य की स्थिति तो इस कदर है कि वह सौ को पाने के चक्कर में निन्यानवे को ठुकरा रहा है। हम जिएँ समय की उठापटक से कुछ उपरत होकर। वर्तमान का द्रष्टा ज्योति बुझने से पहले उसकी रोशनी में जीवन-सम्पदा को ढूँढ निकालने में कामयाब हो जाता है।

यदि हम अतीत हो सकें, न केवल अतीत और भविष्य से, बल्कि वर्तमान से भी, तो हम वह न रहेंगे, जो आमतौर पर जन्म-मरण के बीच धक्का खाते जीता है। हम शाश्वत रहेंगे— समय की हर सीमा के पार।

हम शाश्वत बन सकते हैं, इसीलिए कह रहा हूँ। हमारे पास, प्राणिमात्र के पास ऐसी क्षमता है। बीज ! तुम फूल बन सकते हो। फूल खिलेगा अपने निजत्व से। डूबो अपनी समग्र निजता में।

तुम अतीत की फिक्र मत करो। अतीत यानि जो हो चुका। धारा बह गई। जो हो गया, सो हो गया। चाहे वह अच्छा हुआ या बुरा, जो गोली बन्दूक से निकल चुकी, उसके बारे में क्या सोचना !

बीत गई सो बात गई, तकदीर का शिकवा कौन करे !

जो तीर कमां से निकल गया, उस तीर का पीछा कौन करे !

जो बीत गया, सो अतीत है। मनीषियों की सलाह है— बीती ताहि बिसार दे। जो हो रहा है उसका तहेदिल से स्वागत करें। जो मिला है, वह स्वीकार्य है। सम्भव है, प्राप्त चीजें हमें परितुष्ट न कर पायें, पर

परमात्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करें, क्योंकि जो मिल रहा है, वह भाग्य से एक रत्ती भी कम नहीं मिल रहा है। सम्भव है, इससे और बदतर स्थिति आ सकती थी।

भविष्य की झलकियों को भी अपनी आँखों की टिमटिमाहट से दूर रखें। जो अभी है ही नहीं उसके बारे में 'है' को दौंव पर क्यों लगाना ? भविष्य जिस रूप में भी वर्तमान बनेगा, प्रसन्नतापूर्वक उसकी अगवानी करेंगे। हम निहारें बीज को; उसे सींचें; फल वही निष्पन्न होगा, जो उस बीज से सम्भावित है। बीज कैसा था, इसका परिचय हम फल से ही पा सकते हैं। इसलिए आकाश में थेंगले लगाना छोड़ो, छलांगें खूब मार ली, अब जिएँ वास्तविकता में।

मैंने कहा वर्तमान के लिए, किन्तु यह सिर्फ इसलिए ताकि व्यक्ति उन उलझनों से मुक्त हो सके, जिनका सम्बन्ध अतीत और भविष्य से है। वर्तमान-उपयोग का मतलब यह नहीं कि अतीत और भविष्य ढकोसले हैं इसलिए खूब खाओ, पियो, मौज उड़ाओ। कृपया इस मामले में संयम रखें, अन्यथा मेमना जितना जल्दी मोटा-ताजा होगा, खतरा उतना ही अधिक सिर पर मंडराएगा।

साधक के लिए वह मन ही ध्यान, योग और समाधि का द्वार बनता है, जो सिर्फ वर्तमान का अनुपश्यी है। जिस मन की इतनी आलोचना की गयी है, यदि वह वर्तमान-द्रष्टा और वर्तमान-सक्रिय ही हो जाय, तो परमात्मा की किसी भी सम्भावना को आत्मसात् करने के लिए उससे बेहतर और कोई साधन न बनेगा। महावीर द्वारा वर्तमान की अनुप्रेक्षा और बुद्ध द्वारा उसकी विपश्यना उनकी मनोमुक्ति के प्रमुख प्रतिमान बने।

मन या समय का अतिक्रमण करने के लिए जो हो रहा है, उसको होने देना है। यह भवितव्य है, किन्तु जहाँ भवितव्य को कर्तृत्व मान लिया जाता है, वहाँ वर्तमान भी बन्धन का आधार बन जाता है। परमात्मा को किसी कृत्य या क्रिया से नहीं, वरन् स्वभाव और होने से पाया जाता है। वह है, सिर्फ उसमें होना है। आत्म-स्वीकृति में ही परमात्मा की पदचाप सुनाई दे जाती है। जो है, यदि उसे समग्रता से ढूँढा जाए तो वह नजर सामने है—

खोजी होय तो तुरतै मिलिहीं,
पल भर की तलास में;
मैं तो तेरे पास में ।

वर्तमान है । वर्तमान में जीना योग का प्रवेश-द्वार है । योग का अनुशासन वर्तमान में जगना है । जागृति सुषुप्ति और स्वप्न से बेहतर स्थिति है । जागरण ही तूर्या अवस्था के फूल खिलाता है । मन को जागकर ही देखा-परखा जा सकता है । जो जगा, उसका मन सो गया । मन का सोना मस्तिष्क से हृदय में जाने का मार्ग खोलना है ।

योग की पहली शर्त मन की अडिगता है । मनोमुक्ति योग-प्रवेश का अनिवार्य पहलू है । मन की सारी डिगाहट अतीत और भविष्य के इशारे पर है । डिगता, झूलता मन कभी भी सम्यक् दर्शन का सूत्रधार नहीं बन सकता । वर्तमान में, प्राप्त क्षण में मन का जगना मनुष्य और आध्यात्मिक यमस्याओं से विमुक्ति है ।

जो ऊपर उठ चुका है समय से, वह मन से भी उपरत हो चुका है । मन के पार जाने वाला ही चैतन्य-जगत् के आनन्द में निमग्न होता है । इसलिए ध्यान करने से वर्तमान को अपना समझो, ताकि ध्यान में मन अतीत की फूलझड़ी न छोड़े, भविष्य के आकाश-सुमन का झाँसा न दे ।

यदि ध्यान में जीना चाहते हो, ध्यान करना चाहते हो, तो अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना— दोनों न हों । दोनों को लुप्त हो जाने दो, मिट जाने दो । जब हमारे आमने-सामने कुछ न होगा— न आकर्षण, न विकर्षण, न कोई चंचल तरंग, तब न तो रहेगा सागर की लहरों की तरह आता-जाता समय, और न रहेगी मन की धूम्रधिरी जमीन । ऐसे क्षणों में जो कुछ भी होगा, वह मात्र व्यक्तित्व का होगा, अस्तित्व के लिए होगा । जब कुछ भी न होगा, तभी हम ध्यान में होंगे । स्वागत है इस चैतन्य-दशा का, जीवन के अमृत-महोत्सव का ।



चित्त-वृत्तियों के आर-पार

संसार के दो रूप हैं— एक चित्त का संसार, दूसरा आँखों का संसार । चित्त का संसार आँखों के संसार से ज्यादा सूक्ष्म, किन्तु विस्तृत है । संसार के सारे क्लेशयुक्त परिणाम चित्त से ही जुड़े हैं । इसलिए नजर-मुहैया होने वाला संसार वास्तव में चित्त के अदृश्य संसार का प्रतिबिम्ब है ।

चित्त के संसार की पैठ इतनी गहरी है कि आँखों का उससे कोई वास्ता नहीं रह पाता । आँख तो चित्त की जी-हजरी है । आँख बन्द कर लेने से बाहर का संसार इसके लिए अदृश्य-सा हो जाएगा, किन्तु चित्त की घाटी पर भीतर का संसार तो तब भी रहेगा । हाँ यदि चित्त का तख्ता पलट जाये, तो आँखों के खुले रहने या बन्द रहने का कोई अर्थ और तर्क नहीं रह जाता । भला कमल की पंखुरियों के खुल जाने के बाद कीचड़ से उसका क्या तुक ?

चित्त का संसार जन्म-जन्म के घटनाक्रमों का कारवां है । आँखों में प्रतिबिम्बित होने वाले संसार को मैं प्रवृत्ति कहूँगा और चित्त के संसार को वृत्ति । आध्यात्मिक परिणामों के लिए प्रवृत्ति की बजाय वृत्ति अधिक प्रभावी है । अच्छी वृत्ति पुण्य कहलाती है और बुरी वृत्ति पाप । प्रवृत्ति कृत्य है । प्रवृत्ति बुरी होते हुए भी वृत्ति अच्छी हो सकती है और प्रवृत्ति अच्छी होते हुए भी वृत्ति बुरी हो सकती है । शत्रु द्वारा पिलाये गये जहर से यदि किसी की जान में जान आ जाये, और चिकित्सक द्वारा शल्य-चिकित्सा के वक्त किसी की जान निकल जाये, तो दोनों की मनोदशा का ही मूल्यांकन करना होगा । शत्रु मारना चाहता है, पर वह कहेगा, अरे ! यह तो बच गया । चिकित्सक बचाना चाहता है, पर वह कहेगा, ओह, बिचारा मर गया ।

जीवन का संगीत वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के पार है। दुष्प्रवृत्ति अपराध है, दुष्वृत्ति पाप है। दुष्वृत्ति का परिणाम स्वयंभोग्य है, किन्तु दुष्प्रवृत्ति के लिए न्यायालय की कानून-संहिता दंड देती है। चपत चाहे मित्र की हो या दुश्मन की, वह चपत तो कहलाएगी ही। मुक्ति वृत्ति-प्रवृत्ति/पाप-पुण्य दोनों के पार है।

बड़ी प्रचलित कहावत है— मुख में राम बगल में छुरी, यानि प्रवृत्ति अच्छी, किन्तु वृत्ति बुरी। यदि वृत्ति बुरी है तो प्रवृत्ति अच्छी होते हुए भी जीवन-विज्ञान की दृष्टि में बुरी ही होगी। इसलिए प्रवृत्ति की बुराई को हटाने से पहले वृत्ति में रहने वाली बुराई को दूर करें। प्रवृत्ति में लाया जाने वाला परिवर्तन तो मात्र बैल का खूंटे बदलना है। वह जीवन-क्रान्ति का नगाड़ा-वादन नहीं है। जीवन-क्रान्ति तो वृत्तियों में आमूलचूल परिवर्तन होने की घटना है। मेरा जोर वृत्तियों के प्रति जागने के लिए है। पतंजलि का आम सूत्र है— योगः चित्तवृत्ति-निरोधः।

चित्त-वृत्तियों का शान्त होना ही योग है। योग वह निरोधक है, जो वृत्तियों के जन्म पर अवरोध खड़ा कर देता है। चित्त-की-वृत्तियाँ चित्त-का-व्यापार है। जब तक मनुष्य वृत्तिप्रधान रहेगा, मानसिक व्यापार उसके हर अंग से जुड़ा रहेगा। मानसिक व्यापार ही सुख-दुःख, हर्ष-घुटन के फायदे-घाटे का सौदा तैयार करता है। वह एक में टिक नहीं पाता। 'तू तो रंडी फिरे बिहंडी'— वेश्या की तरह मन की प्रवृत्ति है। मन का एक में लगना ही उसका निमज्जन है। एक पति या एक पत्नी में मन का लगना प्रेम है, एक गुरु के प्रति उसका समर्पित होना श्रद्धा है, और एक परमात्मा में डूब जाना प्रार्थना है।

पर मन अनेकता का दावा करता है। मन के चलते मनुष्य जीवन-भर मात्र मन का ही अनुगमन करेगा। मगर एक बात तय है कि मनुष्य जीवन का सर्वस्व नहीं है। मन जीवन की सर्वस्वता का एक अनबूझा अंग है। मन मरणधर्मा है। मृत्युञ्जय मरणधर्मा तत्त्वों से कहाँ सम्भव !

इसलिए एक बात ध्यान रखें, मात्र प्रवृत्तिशून्य हो जाने से कुछ न

होगा, जब तक वृत्तिशून्य न बनोमे । यदि प्रवृत्ति निरुद्ध भी हो गई, तो यह जरूरी नहीं है कि वृत्ति भी समाप्त हो गई । अनेक लोग प्रवृत्तियों की आपाधापी से तंग आकर संन्यास का बुरका ओढ़ लेते हैं । वे जंगलों और गुफाओं में भी चले जाते हैं । भीड़ से बचकर गुफाओं में चले गये, परन्तु भीड़ छोड़कर भी अपने साथ विचारों में भीड़ को साथ लिए फिर रहे हो । बाजार की भीड़ का क्या ? आँख बन्द कर लो, भीड़ में भी एकान्त हो गया ।

मनुष्य की खोपड़ी छोटी-सी है । पर इसमें पूरा बाजार बसा हुआ है । विचारों की न जाने कितनी दुकानें इसमें खुली हुई हैं । हर दुकान पर नया माल है । यदि इस बाजार को बारीकी से निहारोगे, तो चकरा उठोगे । दुकानों को ध्यान पूर्वक देखो, न-कामी दुकानों के सटर गिरा दो । दुकानों की संख्या कम हो जायेगी । कृपया जीवन के गुलिस्तां को इस कदर बरबाद न होने दो ।

एक ही उल्लू काफी है, बरबाद गुलिस्तां करने को ।
हर डाल पर उल्लू बैठा है, अंजामें गुलिस्तां क्या होगा ?

खोपड़ी हमने इतनी भर रखी है कि एक विचार को दूसरे विचार से मिलने की फुरसत नहीं । सारे विचार एक-दूसरे के विरोधी; विचारों की भीड़ इस कदर की सांस लेना भी मुश्किल; जरा मेहरबानी कर शून्य करो स्वयं को, वरना उमस और घुटन में जीना मुश्किल हो जाएगा । पता है 'हार्ट अटेक' क्यों होता है ? इसी वैचारिक घुटन के कारण, परस्पर विरोधी विचारों के बोझ के कारण ।

बोझ हल्का करो । यदि स्थान, परिवेश या और कुछ बदलना उपयोगी लगे, तो कोई हर्जा नहीं, पर भीतर का भार नीचे गिर जाना चाहिए । बोझा हटना ही मोक्ष है । निर्वाण पाना निर्भार होना है ।

वृत्तियों से मुक्त होने के लिए मात्र वनवास नहीं है, वृत्तियों की निरर्थकता का बोध उपादेय है । संन्यास लो, पर संन्यास की पूर्व भूमिका तो पहले तैयार कर लो । महावीर ने गृहस्थ-वर्ग में एक स्नातक कोटि बनाई 'श्रावक' की । घर में बच्चा पैदा हुआ कि हम कहने लग गये एक

‘श्रावक’ बढ़ा । श्रावक तो जीवन-बोध के बाद की घटना है । लोग जलसा तो करते हैं श्रमणत्व का, और अभी तक ‘श्रावक’ का पता ही नहीं ! श्रमण बनने से पहले सच्चे श्रावक बनो । मात्र जनेऊ पहनने से ब्राह्मणत्व आत्मसात् नहीं हो जाता । पहले स्रोतापन्न बनो, फिर बुद्धत्व की पहल प्रारम्भ होगी ।

कहीं ऐसा न हो कि संन्यास लेने के बाद संसार के सपने देखो । यदि ऐसा हुआ तो वह संन्यास नहीं, संसार ही है । संन्यास में संसार की आँख-मिचौली आत्म-प्रवंचना है । यदि संसारी संन्यास के ख्वाब सजाये, तो उसे बधाई है, क्योंकि व्यक्ति ऊँचे स्तर को निहार रहा है । पर उसे क्या कहोगे, जो शिखर-यात्रा का आधा रास्ता तय करने के बाद भी आगे बढ़ने के बजाय पीछे लौटना चाहता है तराई में !

जीवन का विज्ञान गहरा है । व्यक्ति बाहर से संन्यासी होकर भी भीतर से संसारी हो सकता है और बाहर से संसारी दिखता हुआ भी अन्तरंग से संन्यास को पल्लवित कर सकता है ।

जब जवां थे तो न की कदर जवानी की ।

अब हुए पीर तो याद अपना शबाब आता है ।

कहीं ऐसा न हो कि सब छोड़-छाड़ कर भी उसी को याद करते रहो, जो छोड़ा है । किसी प्रवृत्ति को छोड़ना कठिन है, पर उतना दुष्कर नहीं है, जितना छोड़े हुए की पकड़ को छोड़ना । लोग विवाह-मण्डप में भी धूमधाम से प्रवेश करते हैं, तो वैराग्य-मण्डप में भी बैण्डबाजे के साथ । विरक्ति के बाद वर्षादान कैसा ! ‘पशुओं की चित्कार सुनी, सृष्टि ने आह्वान किया, जीवन में क्रान्ति घट गई और अरिष्टनेमि का रथ गिरनार (संन्यास) की राहों पर चल पड़ा’।

दीक्षा जीवन-क्रान्ति की दास्तान है, शोभा-यात्रा निकालने का महोत्सव नहीं । लोग संन्यस्त होकर भी पूर्व जीवन का दम्भ भरते हैं । जो व्यक्ति साधुता के परिवेश में जीते हुए यह कहता है कि मैंने घर-बार छोड़ा, लाखों करोड़ों की जायदाद छोड़ी; मैंने यह छोड़ा, वह छोड़ा, वह त्याग का भी उपभोग कर रहा है । क्या तुम इसे छोड़ना कहोगे ? छोड़ा कहाँ ! अभी

तक तो पकड़े बैठे हो । त्याग की याद को पकड़े बैठे हो । मूल्य वस्तु के संग्रह और त्याग का नहीं है, उसकी पकड़ का है । एक सम्राट भी अपरिग्रही हो सकता है और एक भिखारी भी परिग्रही । 'मुच्छा परिग्रहो वुतो' । परिग्रह का सम्बन्ध मूर्च्छा से है । जिसके पास जितना कम होगा, वह उतना ही बड़ा परिग्रही । मूर्च्छा की दृष्टि से भिखारी से बड़ा परिग्रही कौन ?

पकड़ से मुक्त होने का ही नाम वीतरागता की पहल है । त्याग अच्छा है, किन्तु त्याग की स्मृति को संजोना त्याग की अच्छाई से सौ गुना बुरा है । त्याग प्रवृत्ति है, उपभोग भी प्रवृत्ति है, किन्तु उसकी पकड़ वृत्ति है । भोग न तो अच्छे होते हैं, न बुरे । जैसी दृष्टि/वृत्ति होती है, उसके लिए वे वैसे ही होते हैं । इसलिये पत्तों की बजाय जड़ की ओर चलो, वृत्तिशून्य बनो । जो छूट जाये, वह छूट ही जाएगा । छोड़ने के प्रयास में त्याग की स्मृति बची रहेगी, मगर जो चीज जी से हट चुकी है, उस छूटने में चित्त-के-पर्दे पर कोई प्रभाव न पड़ेगा, उसका जिक्र भी न आयेगा जुबां पर ।

नदी के किनारे कई घंटों से बैठी एक महिला ने नदी पार करते किसी संत से कहा, मुझे भी जरा पार लगा दें । सन्त ने यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि हम साधु-सन्त स्त्री को नहीं छूते । थोड़ी देर में उसी सन्त के शिष्य से जब बुद्धिया ने निवेदन किया, तो उसने महिला का हाथ पकड़कर नदी पार लगा दिया । गुरु ने शिष्य को देख लिया ।

दोनों वहाँ से काफी आगे बढ़ गए । गुरु ने शिष्य से कहा, तुमने महिला को पार लगाया । स्त्री-स्पर्श के लिए तुम्हें प्रायश्चित्त करना पड़ेगा । शिष्य ने कहा, मैंने पार अवश्य लगाया, किन्तु मैं तो उसे वहीं छोड़ आया । और आप मन में उसे यहां तक लाए हैं ।

वह सन्त तो सिर्फ हाथ पकड़कर ही लाया, अच्छा होता वह उसे अपने कन्धे पर बैठाकर लाता । कम-से-कम एक के ही कपड़े भीगते । गुरु कहते हैं स्त्री-स्पर्श के लिए प्रायश्चित्त ! आश्चर्य ! जिस साधक की नजरें देह से ही ऊपर उठ गई है, उसके लिए क्या स्त्री और क्या

पुरुष ! वह स्त्री को नदी पार नहीं करा रहा, अपितु 'किसी' को पार करा रहा है । यदि स्त्री भी मानें तो हर स्त्री माँ है । 'मातृवत् परदारेषु' जैसी उक्ति उसके लिए नहीं है । उसके लिए तो 'मातृवत् सर्वदारेषु' सही है । क्या तीर्थंकर छाँट-छाँट कर पार लगाते हैं कि यह स्त्री- वह पुरुष ? यदि किसी को पार लगाया जा सकता है, तो लगाओ । स्त्री-पुरुष का भेद तो आम आदमी के लिए निर्दिष्ट है; साधक तो इस भेद से मुक्त है । राम ने निष्कासित किया, वाल्मीकि ने आश्रय दिया, ऋषि ने मुनित्व का परिचय दिया ।

तुम स्त्री के साथ संसार बसाना खतरनाक समझते हो, तो मत बसाओ, किन्तु उसके लिए घृणा की कटारें तो मत चलाओ । साधुता जीवन की आभा बने । साधुता को अन्तरजगत् में लाओ । मन से ही निष्कासित कर दो असाधुता को, मन की हवश को ।

हमारे लिए वह प्रवृत्ति खतरनाक होती है, जिसका असर हमारी मनोवृत्तियों पर पड़ता है । यदि हम प्रवृत्ति न भी करें, परन्तु वृत्ति पर उसका छायांकन हो गया, तो वह जीवन-घाती है । वह साधना-मार्ग पर स्वयं को भले ही आरूढ़ समझ ले, पर दमन-के-मार्ग से चलने वाला पांथ 'उपशान्त-कषायी' है । अस्तित्व-विशुद्धि के लिए उसे पुनः प्रयास करने होंगे । इसलिए जब तक वृत्तियों के दलदल में फंसे रहोगे, तब तक जीवन की नौका सागर के पार कतई न उतर पाएगी । वह तो टूटेगी चित्त के ही किनारे-दर-किनारे से थपेड़े खा-खाकर, टकरा-टकराकर । इस तरह तो मंजिल के आसपास चक्कर काटते हुए भी मंजिल से दूर बने रहोगे -

मंजिल को ढूँढते हैं, मंजिल के आस-पास ।

किशती डूबती है, साहिल के आस-पास ॥

यदि जीवन की ऊर्ध्वगामी मंजिलों को पाना है, तो आत्मबोध के करीब आना होगा और आत्मबोध के लिए वृत्ति-शून्यता को साकार करना होगा ।

हमें चलना चाहिए मन-के-पार, चित्त-के-पार । चित्त की गति वृत्ति है और उसकी प्रगति प्रवृत्ति । निवृत्ति वृत्तियों से रहित होना है ।

वृत्ति-मुक्ति ही जीवन-मोक्ष है। अर्हत्-मनीषा निवृत्ति का प्रतिपादन करती है। शैव इसे 'तुर्यावस्था' कहते हैं। बुद्ध का शब्द है 'परावृत्ति'। वृत्ति की उज्वलता ही परावृत्ति है। ध्यान के विज्ञान में 'परा' परमस्थिति का वाचक है। निवृत्ति और परावृत्ति अपने आखरी चरण में महाशून्य का रूप धर लेती हैं। वास्तव में जहाँ महाशून्य प्रगट है, वहीं 'स्वयं-का-जगत्' है।

वृत्तियों की पारदर्शी झिल्लियों का मिट जाना ही समाधि है। संन्यास और समाधि में बुनियादी भेद है। चित्त का सो जाना संन्यास है, किन्तु चित्त का शून्य हो जाना समाधि है। ध्यान इस समाधि में प्रवेश करवाता है, इसलिए ध्यान समाधि का प्रवेश-द्वार है। परन्तु ध्यान की आखरी मंजिल समाधि ही नहीं है। समाधि तो ध्यान का पहला चमत्कार है, प्रथम आनन्द-उत्सव है। समाधि वास्तव में तूफान-धिरे सरोवर का निस्तारंग होना है। यह आत्म-जाग्रति, यह दशा समाधि की है, प्रज्ञा की है। यह एक प्रकार की महामृत्यु है। जीवन में नया पुनर्जन्म है।

मृत्यु उसी की होती है, जो मरणधर्म है। शरीर मरणधर्म है, चित्त मरणधर्म है। मरने वाले मर गये, यही उनकी समाधि है। समाधि यानि कि मरणधर्म ने अपना धर्म पूरा किया। संन्यासी/श्रमण जीकर भी शरीर की दृष्टि से मृत होता है। इसलिए उनके अन्त्येष्टि-स्थल को 'समाधि' कहा जाता है। वे मुक्त तो जीते जी हो जाते हैं, पर शरीर का ऋण चुकाना बाकी होता है। शरीर छूटा और जैसे ज्योति आकाश की ओर उठकर खो जाती है, ऐसे ही अमृत-पुरुष विलीन हो जाते हैं।

जब व्यक्ति शरीर और चित्त दोनों के पार चला जाता है, तो समाधि से उसकी बखूबी मुलाकात होती है। देहातीत और मन-रहित स्थिति ही समाधि है। जहाँ हमारे 'आगे' भी कुछ नहीं बचता, 'पीछे' भी कुछ नहीं रहता, तभी समाधि की सम्भावना जीवन के हिमाच्छादित गौरीशंकर से अवतरित होती है। जहाँ कुछ नहीं है, वहीं समाधि है। जहाँ कुछ है, वहाँ किसी-न-किसी रूप में चित्तवृत्ति ही है। निर्विकल्प/विचार-रहित दशा का नाम समाधि है।

इसलिए समाधि महाशून्य है, चित्त के संसार का समापन है। जहाँ चित्त का संसार भीतर की निगाहों से ओझल हो जाता है; वहीं चेतना जीवन-गगन में अपने पर खोलती है। चित्त के संसार के पार है चेतना-का-विस्तार, चैतन्य-विहार। चित्त के पार होना चित्त की शुद्धावस्था की पहल है। यही तो वह स्थिति है जहाँ आत्मज्ञान घटित होता है, आत्मज्ञान द्वार है परमात्मा का। आत्मज्ञान के शिखर-पड़ाव पर परमात्मा प्रगट होता है; वह परमात्मा, जो प्रत्येक का स्वभाव-सिद्ध अधिकार है। तब वह 'वह' नहीं रह जाता, जो अभी तक रहा है। जो अभी है, वह तो खो जाता है। फिर तो 'वह' अवतरित होता है, जिसकी उसे तलाश रही। एक नयी आभा प्रगट होती है, अमृत-वर्षा होती है जीवन के डाल-डाल और पात-पात पर।

गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गंभीर ।
चहूँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥

फिर तो केवल ज्ञान यानी केवल का ज्ञान/ब्रह्मज्ञान मुँह से ही नहीं, आँखों से भी बोलने लगता है। सारा आकाश अमृत बरसाने लगता है। फिर तुम एक न रहोगे, अनन्त बन जाओगे। वाणी भी अनन्त बन जाएगी, हाथ भी अनन्त हो जाएंगे। करुणा और ध्यान भी अनन्त हो जाएगा। प्रकाश बहेगा रग-रग से रोशनदान की तरह।

महाशून्य में ही महाअमृत की वर्षा होती है। आओ, चलें चित्तवृत्तियों-के-पार ।



द्रष्टा-भाव : ध्यान की आत्मा

जीवन की उपलब्धि खुद जीवन को देखने में है। देखना दर्शन है। श्रद्धा और आस्तिकता का बीजांकुरण दर्शन से ही सम्भव है। अदर्शी मनुष्य जीवन-भर धर्म के द्वार पर जाकर भी नास्तिक रह सकता है।

आस्तिकता और नास्तिकता के कानून बड़े पेचिदे हैं। बाहर से आस्तिक नजर आने वाला महानुभाव भीतर से घोर नास्तिक हो सकता है। यह भी मुमकिन है कि बाहर का नास्तिक भीतर आस्तिक हो। मैंने आस्तिकों में भी दमित नास्तिकता की चिंगारियाँ देखी हैं और कथित नास्तिकों में बुलन्द आस्तिकता का परिदर्शन किया है।

यदि वेद को मानने वाले को ही आस्तिक समझा जाये, या मन्दिर-मठों में धोक लगाने वाले को ही आस्तिक कहा जाये, तब तो संसार में पाँच प्रतिशत लोग ही ऐसे हैं, जो आस्तिकता की इस जिम्मेदारी को निभाते हों। ऐसे पाँच प्रतिशत लोगों में निन्यानवें प्रतिशत लोग ऐसे हैं, जो पन्द्रह मिनट धर्मस्थानों में लगाते हैं, शेष समय दुनियादारी/दुकानदारी में।

नास्तिक और आस्तिक की अब तक जो परिभाषाएँ होती रही हैं, उससे तो धरती में आस्तिक 'पेड़ में एक टहनी के बराबर' हैं। पर मैंने जहाँ तक पाया है, उसके मुताबिक कथित नास्तिकों में आस्तिकता की बहुत बड़ी सम्भावना है। आस्तिकता किसी भी कोने से उभर सकती है। मछुआरे मछली-पकड़ने के लिए रवाना होने से पूर्व आकाश की ओर देखकर तीन बार भगवान् को याद करते हैं। फांसी लगाने वाले चाण्डाल कहते हैं, मरने से पहले खुदा को याद कर लो। वेश्या के रूप में गंदी मछली कहलाये जाने के बावजूद उसमें आस्तिकता की कोई किरण छिपी मिल सकती है।

कहते हैं, एक बार किसी मठाधीश की मृत्यु हो गयी। जिस समय

वह मरा, ठीक उसी वक्त एक वेश्या भी मरी । एक के लिए पूरा शहर उमड़ा, शोभायात्रा निकाली गई । दूसरे के लिए म्युनिसिपल बोर्ड की गाड़ी आयी और मरी हुई कुतिया की तरह उठाकर ले गई ।

धर्मराज के दरबार में दोनों के लिए सुनवाई हुई । धर्मराज ने कहा मठाधीश को झाड़ू निकालने का काम सौंपा जाए और और वेश्या को देवलोक का आधिपत्य । वेश्या ने कहा— जी, कहने में गलती हुई । मैं और आधिपत्य ! झाड़ू निकालने की भी गति मिल जाए, तो मैं इसे आपकी कृपा मानूँगी । मेरे भाग्य कहाँ ! मैंने तो जिन्दगी भर पाप-ही-पाप किये हैं ।

मठाधीश ने कहा— धर्मराज ! तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है । मैं और झाड़ूगिरी ! वेश्या और आधिपत्य ! तुमसे तो धरती के लोग भी भले हैं, जो सम्मानपूर्वक मेरी अर्थी निकाल रहे हैं । कुछ तो न्याय का सम्मान करते !

धर्मराज ने कहा— मठाधीश ! धर्मक्षेत्र में अन्याय नहीं होता । तुम मठाधीश होते हुए भी वेश्यागामी थे और वेश्या शरीर बेचकर भी मठाधीश/संन्यस्त थी ।

धर्मराज की बात से दोनों चौंके— मठाधीश भी, वेश्या भी । धर्मराज ने पहली सुलझाते हुए कहा— मठाधीश ! तुम पवित्र वेश में रहते हुए भी रात-दिन वेश्या के बारे में सोचते रहे और रास्ता ढूँढते रहे कि कैसे उसके साथ सहवास हो । वहीं वेश्या स्वयं को धिक्कारती रही और भगवान से प्रार्थना करती रही कि प्रभो ! यह दुष्कृत्य तुम और किसी से मत करवाना । काश मैं भी संन्यस्त हो पाती, मीरा की तरह तुममें समा जाती ।

धर्मराज का यह सत्य-दर्शन हमारे लिए भी है । कहीं ऐसा न हो कि हमें मठाधीश का स्थान मिले । जीवन के वास्तविक फूल अन्तर-धरातल पर खिलते हैं । जो अन्तर्-जीवन को जानने के लिए, उसके निर्माण और संस्कार के लिए उत्सुक है, वही वास्तव में आस्तिक है । अस्तित्व का स्वीकार ही आस्तिकता की पहचान है ।

आस्तिक के मायने हैं श्रद्धा-से-भरा पुरुष और नास्तिक का अर्थ है सन्देह-से-धिरा मनुष्य । अस्तित्व की परमता को श्रद्धा से तो पाया ही जाता है, सन्देह से भी पाया जा सकता है । शर्त यह है कि सन्देह भी समग्र हो, सम्यक् हो, जिसके निराकरण के लिए जीवन को दाँव पर लगा सकों ।

सन्देह को शीर्षसन कराने का एकमात्र उपाय है दर्शन । द्रष्टा बनकर देखना सन्देह-निवारण का आधार-सूत्र है । दर्शन से ही समझे जा सकते हैं संसार-के-सम्मोहन, सत्य-के-प्रकाश-स्रोत । दर्शन ही वह देहरी-दीप है, जिससे निहार सकें बाहर को भी, भीतर को भी । स्वयं की वास्तविकता से समालाप योग है और द्रष्टा-भाव योग का प्रवेश-द्वार है । ध्यान विकल्प के हजार जालों से मुक्ति का आयाम है और दर्शन विकल्प-बोध का बेबाक अध्याय है ।

द्रष्टाभाव ही अध्यात्म की बुनियाद है, आत्मक्रान्ति है, भेद-विज्ञान है । द्रष्टा तो 'जो होता है', उसे देखता है । मगर स्वागत वह उसी का करता है, जो उसे सत्य के और समीप ले जाए । द्रष्टा जीता है अचुनाव में । चयन मन का कर्मयोग है । द्रष्टा चयन चुनाव की राजनीति नहीं खेलता । वह चयन को भी विकल्प ही मानता है । आखिर दो विकल्पों में से किसी एक को चुनने का विचार भी एक विकल्प है । मन दर्जी की दुकान है, जहाँ विकल्पों की कतरन हर जहाँ दबी-बिखरी पड़ी है ।

द्रष्टा को होना होता है निर्विकल्प, निःस्वप्न । शुरुआत में तो वह सड़े-गले पत्तों को अलग करता है, परन्तु धीरे-धीरे उसकी यात्रा बीज की ओर होती है, मूल की ओर । पत्ते डालियों में समा जाते हैं, डालियाँ शाखा में, शाखा जड़ में और जड़ बीज में । बीज का वृक्ष-विस्तार से वापस बीज में आ जाना, गंगा का गंगोत्री से लौट आना ही स्वरूप-में-वापसी है । वापसी की यात्रा कठिन है, पर असम्भव नहीं । बहना सरल है, किन्तु तैरना कठिन । पर भुजाओं की प्रतिष्ठा बहने में नहीं, तैरने में है । शक्ति के मूल स्रोत तुम स्वयं हो । स्वयं में स्थित हो जाओ— यही शक्ति का संगठनात्मक रूप है । स्वपदम् शक्ति: — स्वयं में स्थिति ही शक्ति है ।

साधना की शुरुआत दर्शन से है। दर्शन ही सार है और दर्शन ही शुरुआत है आध्यात्मिक जीवन की। कुन्दकुन्द की नजरों में भ्रष्ट-पुरुष वही है, जो दर्शन-से-भ्रष्ट है। 'दंसण भट्टो भट्टो' ही आस्तिकता और नास्तिकता की खरी कसौटी है। जब तक सत्य-असत्य का भेद न जाना, तब तक नास्तिक और भेद जाना, तब आस्तिक। अगर प्रबुद्ध होना चाहते हो, तो द्रष्टाभाव को आत्मसात् होने दो।

घर-घर दीपक बरै, लखीं नहीं अन्ध।

लखत-लखत लखि परै, कटै जमफन्द ॥

अस्तित्व का आनन्द भोगो। अस्तित्व के आनन्द को भोगना ही समाधि-सुख है। दीये घर-घर में जल रहे हैं, भीतर देखो। जो भीतर नहीं देखता, वह अन्धा है। आम लोगों की नजरों में अन्धा वह है, जिसके आँख नहीं हैं। अमृत-पुरुषों की राय में तो भीतर न देखना अन्धापन है। अन्तर-दर्शन का अभाव आध्यात्मिक अन्धापन है। 'लखत लखत लखि परै'— देखते-देखते आखिर देख लगे। शून्य भी देख लगे, अमृत भी देख लगे।

सुबह एक साधक कह रहे थे— आपके पास आने के बाद ऐसे लग रहा है मानो मैं विकल्प-शून्य हुआ जा रहा हूँ— विकल्पदशा से मुक्त। अब मैं क्या करूँ? मैंने कहा करने को अब क्या है, अब तो सिर्फ होने को है। करना-धरना हो गया, अब तो होना है, खोना है, डूबना है; जो हो उसको देखना है। आनन्द का 'यह' पड़ाव आया है, तो 'वह' भी आएगा। मुबारक हो, तुम कुछ हो सके। मन की भगदड़ तुमने समझी, हृदय की धड़कन सुनी; अब सुनने हैं आत्मा के स्पन्दन, अहसास करनी है स्वयं की जीवन्तता। ध्यान सिर्फ यही रखना है कि बीच में सुस्ताना मत, प्रमत्त मत होना, अभी और तल पार करने हैं।

जीवन के कई तल हैं और जीवन के प्रति सजग होने वालों को उन्हें ध्यान में लेना चाहिये। जीवन-का-विज्ञान भी प्रयोगों में विश्वास रखता है। अन्तर-ज्ञान के प्रत्यक्ष हुए बिना वह सारे भरोसों को बैसाखियों का सहारा मानता है। ध्यान के विज्ञान में उन तलों को प्रकाशित किया गया

है । बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा— जीवन-विज्ञान के ये चार शिखर हैं । जैसे जमनोत्री से गंगोत्री ऊपर और गंगोत्री से गोमुख, गोमुख से कैलाश ऊपर है, परम है, वैसे ही हैं ये चार तल ।

पहला तल है बैखरी का— बोलने का । आदमी खूब बोलता है, किन्तु रोजाना बोल-बोलकर भी वही बोलता है, जिसे वह कई बार बोल चुका है । वैज्ञानिकों के मुताबिक मनुष्य अस्सी फीसदी वही बोलता है, जो बोला जा चुका है । तुम अपनी पत्नी से प्रेम की जिस ढंग से बात करते हो, तुम्हारा मित्र भी अपनी पत्नी से वैसे ही या उससे मिलती-जुलती बातें करता है । माता-पिता भी वैसे ही करते थे । आखिर शब्द सीमित हैं, लहजा बदलेगा, मूल में तब्दील नहीं होगी । हर संवाद स्मृति का पिष्टपेषण है । इस तरह आदमी 'आटे' को ही बार-बार पीसता रहता है ।

राजनेताओं के भाषण सुन लो । झूठे आश्वासन और जोशीले भाषण— इसी में उनकी जिन्दगी खफ़ा होती है ।

एक मंत्री मेरे पास आया करते थे । चुनाव का माहौल था । एक दिन शाम के वक्त थके-मांदे मेरे पास आये । कहने लगे सुबह से अभी तक दस ही मीटिंग हो पाई हैं और पाँच दिन बाद चुनाव हैं । दस जगह भाषण दे चुका हूँ, अभी तक चार जगह और सम्बोधन करना है । बोलते-बोलते उनका गला फट चुका था । मैंने पूछा, दस जगह ? एक-सा ही भाषण देते हो या जुदे-जुदे ? कहने लगे— भाषण तो एक ही है, सिर्फ स्थान बदल जाते हैं ।

बैखरी वक्तव्य की पुनरावृत्ति है । पता है लोकोक्ति कैसे बनती है ? जो बात लम्बे समय से लोगों की जुबां से गुजरती है । एक ही बात को सब दोहरा रहे हैं । इसलिए अपनी बात को सारगर्भित रूप दो । उतना ही बोलो, जितने से काम चल सकता है । सत्य तो यह है कि लम्बे वक्तव्य की बजाय छोटे वक्तव्य अधिक प्रभावशाली होते हैं । साहित्य-मनीषा कहती है— वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । रसात्मक वाक्य ही काव्य है । जो व्यक्ति चौबीस घंटे में बारह घंटे मौन रखता है, उसकी

वाणी सघन ऊर्जा से प्रतिष्ठित होती है ।

मितभाषी के हर वक्तव्य की प्रतीक्षा रहती है, उसका सम्मान होता है । दो पेज के पत्र की बजाय दो पंक्ति का तार अधिक प्रभावी होता है । तार में हर शब्द पर पचास पैसे लगते हैं, इसलिए आदमी शब्दों की बचत करता है । जितना अधिक बोलोगे, भीतर की ऊर्जा उतनी ही बाहर बिखरेगी । बोलो, मगर शब्द-संयम का अतिक्रमण करके नहीं ।

दूसरा तल है मध्यमा— सोचने का । बोलना और सोचना दोनों में याराना है । आदमी बोलता इसलिए है, क्योंकि वह सोचता है । सोच ही अगले कदम में बोल बन पाता है । सोच भी एक सत्य है, एक आलोक है । सोच यदि ध्यान में केन्द्रीभूत हो जाये, तो सत्य की एक नयी मुस्कान आविष्कार पाती है । किन्तु तुम्हारा सोच तुम्हारे लिए आविष्कार के स्थान पर तुम्हें घुटन क्यों लगता है ? तुमने सोच को विकेन्द्रित कर रखा है । हजार तरह के सोच तुम्हारे मन में बनते-बिसरते हैं । जहाँ पल-पल में सोच धूप-छाँह खेलते हैं, वहाँ तुम न तो पूरी तरह अन्धकार में हो, और न पूरी तरह प्रकाश में । अधर में लटका कहलायेगा जीवन-का-अध्यात्म । अध्यात्म सोच का परिष्कार है, केन्द्रीयकरण है । अपने मन के मेले से स्वयं को अलग ले चलो, ताकि बच्चे की तरह तुम भीड़ में भटक न सको ।

ध्यान का कार्यक्षेत्र है मन को शान्त करना । मन को शान्त करने का मतलब है दुनिया भर के भीड़भरे विचारों से स्वयं को मुक्त करना । जीवन के विज्ञान में मौन का प्रयोग इसलिये सार्थक हुआ । मौन रखो होठों का, मन का । ध्यान का यह महबूब चरण है । मैं इसे ऊर्जा-समीकरण— ध्यान कहूँगा । यदि इसे तुम प्रतिदिन करो, तो मानसिक तनाव तुम्हारी धमनियों में कभी भी संजीवित न हो पाएगा ।

शाम के वक्त चले आओ घर की छत पर, बागान में, कमरे में या ऐसे स्थान पर जहाँ सिर्फ तुम ही रहो, घर परिवार या भीड़ का कोलाहल न हो । आराम कुर्सी पर जाकर बैठो, बड़े आराम से, शिथिल-गात । आधे घंटे तक शान्त मन बैठे रहो । न कुछ देखना है, न कुछ सोचना है । बस ऐसे रहो

जैसे रात को सोते हो । रात को सोते समय शरीर सोता है, पर मन सपने के जाल बुनता है । यहाँ तुम्हें मन को सुलाना है होशपूर्वक रहकर । आधे घंटे की यह शान्ति भर देगी तुम्हें फूल-सी खिलती ताजगी से । तुम स्वयं को तनाव रहित, तरोताजा और स्वस्थ-मन पाओगे ।

यदि मन के कारण अधिक परेशान हो, तो एक और प्रक्रिया से गुजर सकते हो और वह है प्रतिक्रिया-मुक्ति । अच्छे-बुरे जो भी कार्य हों, होने दें; स्वयं को उससे न जोड़ें । क्रिया चालू रहे, पर प्रतिक्रिया नहीं । मानसिक तनाव, आक्रोश और असंतुलन का मुख्य कारण प्रतिक्रिया है । यह संकल्प करना ही काफी है कि मैं किसी भी क्रिया पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त न करूँगा । धीरे-धीरे आप पाएँगे कि भाग्य के उल्टे-सीधे खेल होने के बावजूद खुद शान्त हो, खुश हो । ध्यान की यह अनिवार्य भूमिका भी है ।

आम तौर पर हमारी जिन्दगी बोलने और सोचने में ही घिसती/सरकती है । आदमी जितना बोलता है, उससे अधिक वह सोचता है । जितना सोचता है उसका दसवाँ हिस्सा भी वह बोल नहीं पाता । अभिव्यक्ति अनुचिन्तन से बढ़कर नहीं हो सकती । पर हाँ, जिनका मन मितभाषी हो जाता है, वे उतना ही बोलते हैं, जितना वे सोचते हैं । अन्तरदृष्टि का द्वारोद्घाटन होने के बाद भी मन का उपयोग और वाणी का व्यवहार तो होता है, पर उतना ही जितना आवश्यक है । तीर्थकर, बुद्ध या ब्रह्मर्षि लोग नहीं बोलते हों, ऐसी बात नहीं है । मन और होठ, कण्ठ, तालू का उपयोग तो वे भी करते हैं, पर तुम्हारी तरह नहीं, जो बोलते तो हैं पाँच मिनट और सोचते रहते हैं दिन भर । तुम किसी से मिले, बात की; वह चला गया, पर्दा गिर जाना चाहिये, परन्तु तुम उसके चले जाने के बावजूद उसके बारे में सोचते रहते हो । सोच की यह प्रक्रिया ही तो मनुष्य के लिए तनाव की आधारशिला है ।

आत्मजागृत पुरुष तो दर्पण की तरह होते हैं । कोई आया दर्पण में, उसका प्रतिबिम्ब बना । वह चला गया, बात खत्म हुई । दर्पण चित्रांकन नहीं करता । वह केमरा नहीं है । खुद को उसमें देखना चाहोगे, तो वह दिखायेगा । तुम्हारी मुखाकृति हटी कि वह साफ-सुथरा, स्वच्छ, निर्मल-प्रतिबिम्ब मुक्त ।

जीवन-विज्ञान का तीसरा तल है पश्यन्ति— दर्शन का, देखने का । मन

के ऊहापोह भरे पहलू ठंडे हो जाने पर एक ऐसी क्षमता मुखर/प्रखर होती है, जिसे पश्यन्ति कहा गया है। यह अध्यात्म-क्रान्ति की बुनियाद है। पश्यन्ति में जो देखा जाता है, वह बाहरी आँखों से नहीं, भीतरी दृष्टि से, उपयोग-इन्द्रिय से, अतीन्द्रिय से। अन्तर्जगत् का दर्शन अतीन्द्रिय होता है। इसीलिये ऋषि-मुनि कहते हैं— हमने देखा। महावीर कहते हैं मैंने देखा, मैंने जाना। उनके तो साधना-सूत्रों में भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राथमिक हैं। बुद्ध के शब्दों में— पिटक-ज्ञान मैंने बोधि-क्षणों में देखा। मूसा को भी कमांडमेंट्स दिखाई पड़े।

देखने और सुनने में सिर्फ तीन इंच का फर्क नहीं है, फर्क है बोध की प्रखरता का। दर्शन मौलिक ज्ञान का प्रकाश-मार्ग है। श्रवण के बाद दर्शन की भूमिका है। श्रवण की कसौटी दर्शन ही है। 'कानों सुनी सो झूठी, आँखों देखी सो सच्ची'। सुनने से तो बस इशारा मिलता है। पहले सुनो— सुनने से पता चलेगा कि सच क्या है, झूठ क्या है। फिर उसको देखो। आँखों से देख लो, तो वह श्रुति नहीं, वह वेद हो जाएगा।

वेदों को पहले श्रुति कहा जाता था। श्रुति यानि सुना हुआ। जिन-पुरुषों और बुद्ध-पुरुषों ने कहा कि सुना हुआ सत्य हो सकता है, किन्तु पूर्ण सत्य तो देखा हुआ होता है। हम जो कह रहे हैं, उसे हमने देखा, सुना नहीं। सुनी हुई चीज को अभिव्यक्ति देते समय घटोतरी-बढ़ोतरी तो होती ही है। शब्दशः कहने में बुद्धि लड़खड़ाएगी। ज्ञान शब्द के पार भी है। फिर कथ्य की बोधगम्यता के लिए हम अपनी बुद्धि को भी सहकारी संस्था बना सकते हैं।

इसलिए परम्परा में मोड़ आया। श्रुति शब्द की जगह वेद शब्द प्रसारित हुआ। वेद का मतलब है जाना, अनुभव किया। वेद अनुभव किये हुए को कहना है। महावीर के समर्थकों/शिष्यों ने भी शास्त्र लिखे, किन्तु उन्होंने अपने हर शास्त्र के प्रारम्भ में एक बात बड़ी ईमानदारी से कही— 'सुयं मे'— मैंने सुना है। वे यह नहीं कहते कि हमने जाना है, देखा है। वे तो बेबाक कहते हैं— हमने सुना है। यह नामुमकिन नहीं है कि हमारे सुनने में, समझने में, सुने हुए को कहने-लिखने में कोई त्रुटि न हो। इसलिए यदि हमें किसी धर्मशास्त्र में कोई बात तर्कसंगत न लगे, अवैज्ञानिक लगे, तो इसका दोष किसी अमृत-पुरुष के मत्थे मत मढ़ना। सुनी हुई बातों को पढ़ लो, फिर उसे जाँचो-परखो,

देखो। शास्त्र का ज्ञान पराया है, अगर उसे आत्मसात् न किया। हमारा परम सत्य वही है, जो हमने देखा है, सम्यग् दर्शन किया है। परिदृष्ट सत्य का सन्दर्भों से मिलान करो, असंगत लगे तो उसे हटाने में संकोच भी मत करो और संगत लगे तो उस पर गर्व करते कतराना क्या ?

निर्णय करना हमारा अधिकार है। निर्णय वैसा हो, जिस पर कुर्बान कर सको स्वयं को। आत्म-निर्णय लक्ष्य-सिद्धि की पहली सफलता है।

कुछ बातें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध सीधे तौर पर न तो दर्शन से है, न श्रवण से। वे सिर्फ परम्परा बन कर चली हैं। मूल लक्ष्य तो खाई में गिर पड़े हैं, लीक पर चलने की विवशता अभी भी बची हुई है। आज सवेरे की परिचर्चा कौं ही ले लो। कुछ बातें ऐसी लगीं, जिन पर आम आदमी को भी, संघ-समाज को भी सोचना चाहिये। जैसे नंगे पाँव और नंगे बदन ही रहना-चलना चाहिये, या विकल्प स्वीकार किया जा सकता है ? पैदल ही चलना चाहिये, या यात्रा-साधनों का उपयोग कर सकते हैं ?

मैंने अनेक साधु-संन्यासियों को नंगे बदन शहर में चलते पाया। आम लोगों को अच्छा न लगे, तो धर्म प्रभावना कहाँ हुई ! नग्नता उनके लिए है जिनका समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है, जंगल में जाकर अपना ज्ञान-ध्यान करते हैं। एकान्तवास तो दराज में चला गया और वे समाज के बीच जीते हैं। वे ऐसे समाज में नग्न रहना चाहते हैं, जहाँ की अपनी सभ्यता है। समाज में आओ; पर कृपया अपनी नग्नता की बजाय अपनी साधुता को प्रगट करो।

वाराणसी में मैं गंगावासी 'देवरिया बाबा' से मिला। वे चौबीस घंटे में पांच-दस मिनट के लिए अपनी कुटिया से बाहर निकलते, ताकि भक्तों को दर्शन मिल सके। वे अपनी कुटिया में नग्न रहते थे, पर जब वे आम जनता के सामने आते तो सामाजिक दृष्टि से कंबल का एक अंगोछा पहन लेते। ऐसा करने में न तो संत की वीतरागता कुंठित होती है, न साधुता।

नंगे पाँव चलो, कोई हर्ज नहीं है। स्वास्थ्य के लिए भी लाभप्रद है। जहां तक हिंसा-अहिंसा का प्रश्न है, रबर की हवाई चप्पल या कपड़े के जूते पहिन सकते हो। इससे अहिंसा को कोई खतरा नहीं है। शायद इससे अहिंसा को और बल मिले। हवाई चप्पल पाँव की अपेक्षा अधिक नरम होती है।

पाँव के नीचे आई चींटी मर सकती है, मगर हवाई चप्पल से सम्भावना कम है ।

पद-यात्रा त्याग एवं तितिक्षा की प्रतीक है । भारतीय सन्त पैदल ही हजारों मील की यात्रा कर लेते हैं । पद-यात्रा का मुख्य उद्देश्य अहिंसा है । विज्ञान के यात्रा-साधनों में अल्पतम हिंसा से हजारों मील के पत्थर पार किये जा सकते हैं । ऐसे यात्रा-साधनों का उपयोग न हो, जिसे जानवर खींचते हों, जिन रिशकों को आदमी खींचते हों । डोली पर, ठेला गाड़ी पर बैठकर यात्रा करने की बजाय उस सरकारी रेल पर यात्रा करना बेहतर है, जो सार्वजनिक है । चाहे तुम बैठो या उससे दूर रहो, वह तो चलेगी ही । यह तो सरकारी व्यवस्था है ।

लकड़ियाँ जलाकर पानी गर्म करने की बजाय बिजली के हीटर से गर्म करना और पचास आदमियों की बजाय क्रेन से गाड़ी खींचना जैसे बेहतर है, वैसे ही कई तथ्य ऐसे ही बेहतर हो सकते हैं । विज्ञान के उन आविष्कारों को स्वीकार करने के लिए हमें शान्त दिमाग से सोचना चाहिये, जिनके कारण हिंसा कम हो सकती है, अहिंसा की अस्मिता बढ़ सकती है । अहिंसा बहुत बड़ा धर्म है, हमें इसके प्रायोगिक रूपों को और विकसित करना चाहिये । परम्परा में भी सच्चाई हो सकती है, पर समय यदि सच्चाई के और बेहतर हस्ताक्षर करे, तो हमें उसका स्वागत करना चाहिये, बौद्धिक और वैज्ञानिक लोगों का तो यही निवेदन है ।

विज्ञान भी दर्शन की ही एक कड़ी है । बाहर के विज्ञान की तरह भीतर भी विज्ञान है । जीवन-का-विज्ञान बैखरी और मध्यमा के उपरान्त पश्यन्ति की हंस-दृष्टि दर्शाता है । नीर-क्षीर का विवेक पश्यन्ति से ही निष्पन्न होता है । द्रष्टा द्वारा जो आत्मसात् होता है, वह है ज्ञान और देखने-की-क्रिया का नाम है पश्यन्ति । जहां यह कहा जाता है 'मैं कहता आँखन की देखी, तू कहता कागद की लेखी', वहाँ आँखों से देखने का मतलब इसी 'पश्यन्ति' से है, दर्शन से है । दर्शन के मायने हैं द्रश्य ने दृष्य से स्वयं को अलग देख लिया है, परिधियों से विरत होकर केन्द्र के लिए सफल सफर शुरू कर दी है । आखिर द्रष्टा ही तो अपने स्वरूप में स्थित होता है— तदा द्रष्टुः स्वरूपे-अवस्थानम् ।

द्रष्टा-पुरुष कैवल्य-स्थिति का सच्चा पान्थ है। उसे कैवल्य-बोध की शिखर ऊँचाइयां आत्मसात् होती हैं। द्रष्टा ही खोलते हैं द्वार स्थितप्रज्ञा के। इसलिए द्रष्टा होना स्थितप्रज्ञ होने की पहल है।

दर्शन के पार एक और मानक स्थिति है, जिसे 'परा' कहा जाता है। यह जीवन-विज्ञान का चौथा प्रयोग है, तल है। परा परम स्थिति है, महाशून्य की स्थिति है। सुनने और देखने के पार की मंजिल है। 'परा' के पार घटित होता है आत्मबोध। इसे पांचवीं स्थिति भले ही कह दें, पर यह स्थिति-मुक्त घटना है। परमात्मा का द्वार यहीं खुलता है।

परमात्मा हमारी वैयक्तिक चेतना का परम विकास है। हमें चलना चाहिए विकास के इस शिखर पर, महोत्सव के लिए। चाहें तो इस प्रक्रिया से गुजर सकते हैं। मित्र ! सबसे पहले देह-ऊर्जा के पार चलें। ध्यान में बैठ जायें और स्वयं को प्राण-ऊर्जा पर केन्द्रित करें, श्वास लें, श्वास छोड़ें। श्वास ही प्राण-ऊर्जा है। श्वास पर स्वयं को इतना केन्द्रित कर लें कि मानों हम सिर्फ श्वास हैं। जब प्राण-ऊर्जा का भरपूर उपयोग/ केन्द्रीकरण/लयबद्धता हो जाए, तो शरीर को शिथिल छोड़ दें और परम शान्त, परम मौन में डूबे रहें। शून्य-स्वरूप सहजतया अनुभूत होगा। यदि विचार/विकल्प आते-जाते लगें तो सजग होकर, होशपूर्वक उन्हें देखें। उनका साथ न निभायें। 'द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'— द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह द्रष्टा-भाव ही चित्त-वृत्तियों को शान्त करते हुए महाशून्य में प्रवेश कराएगा। अगले चरणों में होने वाला अनुभव ही आत्मबोध की दास्तान है।

इस सम्पूर्ण परा-परिवेश के लिए सर्वप्रथम पहल हो दर्शन के लिए, द्रष्टा-स्वरूप के लिए। ध्यान यहां तक पहुँचने में आपका सुख-दुःख में साथ निभाने वाला शुभाकांक्षी मित्र होगा। सबके भीतर विराजमान परमात्म-ज्योति को मेरे प्रणाम हैं। स्वीकार कीजिये।



ऊर्जा का समीकरण

जीवन ही जीवन का सबसे बेहतरीन मूल्य है । जीवन से बढ़कर उसका और कोई मूल्य नहीं है । जिस व्यक्ति की निगाहें जीवन-मूल्यों पर टिकी हैं, वही संसार का सबसे ज्यादा जीवंत पुरुष है । जीवन तो वह जीवन है, जो मृत्यु के पार होता है ।

हम सब लोगों के भीतर एक ऐसा जीवन है, जिसकी कभी भी मृत्यु नहीं होती । जिसकी मृत्यु होती है, उसका जीवन के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है । जीवन की मृत्यु नहीं होती, मृत्यु तो शरीर की होती है, विचारों की होती है, मन की होती है, और उनकी मृत्यु हो भी जानी चाहिए । यदि किसी का शरीर मर रहा है तो गम नहीं, परन्तु जहाँ जीवन-मूल्यों पर आघात लगता है, वहीं व्यक्ति की भीतर से मृत्यु हो जाती है । यदि शरीर खण्डहर हो रहा हो, यदि विचारों की मृत्यु हो रही हो, मन किसी मरघट पर जाकर शरीर का अन्तिम संस्कार करवा रहा हो, वह जीवन की सबसे बड़ी खुशहाली की घटना है ।

जीवन तो बस चलता हुआ प्रवाह है । जन्म से पहले भी यह प्रवाह तो था और जन्म के बाद भी यह प्रवाह जारी है । यह प्रवाह तो मृत्यु के बाद भी जारी रहेगा । तालाब सिकुड़ सकता है, मगर नदी नहीं । जन्म से पहले भी प्रवाह मिल रहा है, मृत्यु के बाद भी प्रवाह जारी है । जीवन एक प्रवाह है । प्रवाह का नाम ही जीवन है ।

जो लोग अपने प्रवाह में डूबना चाहते हैं, लीन होना चाहते हैं, वे या तो गंगासागर की यात्रा करते हैं या फिर गंगोत्री की । गंगा के बीच रहना जीवन की जीवन्तता नहीं है । अपनी नौका या तो गंगोत्री की ओर ले जाओ या फिर गंगासागर की ओर । गंगोत्री की ओर जाना महाशून्य

की तरफ जाना है । गंगासागर की ओर जाना विराटता की ओर जाना है । गंगासागर की ओर जाना, अपने आपको फैलाना है, अपना विस्तार करना है । इसके विपरीत गंगोत्री की तरफ जाना, उसी स्थान पर जाना है, जहाँ से गंगा पैदा हुई है । मौलिकता तो गंगोत्री में ही है, जहाँ से गंगा पैदा हुई है और गंगासागर की ओर बढ़ती जा रही है । मूल तो गंगोत्री ही है, शेष सब मूल को ही तूल देना है । वहाँ से कितनी धाराएँ निकलती हैं ! एक मूल कॉपी की जेरोक्स कॉपियाँ हैं । पॉजिटिव तो अनेक हैं, उनका निगेटिव एक ही है ।

जिन्दगी के दो रास्ते हैं; व्यक्ति या तो अपने को बाहर की तरफ फैला ले, या फिर भीतर की तरफ लौटा ले । आदमी के सामने ये दो ही यात्राएँ होती हैं । बाहर की, फैलाव की यात्रा भी कोई खतरनाक यात्रा नहीं है । व्यक्ति के लिए बाहर की यात्रा भी बेहतरीन हो सकती है और भीतर की यात्रा भी घाटेमंद हो सकती है । यदि कोई व्यक्ति अपने आपको बाहर फैलाना चाहता है तो फैलाए । सिर्फ परिवार और मोहल्ले तक ही फैलाकर उसे रुकना नहीं चाहिए । जो व्यक्ति अपने आपको परिवार और मोहल्ले तक ही फैलाता है, वह अपने हाथों से ही अपने पांवों में राग की बेड़ियाँ डाल रहा है और जो व्यक्ति अपने आपको अनन्त तक फैलाता चला जाता है, वह परमात्मा का अहोभाव जान जाता है । ऐसा आदमी अपने आपको अनन्त की लहरों में छोड़ रहा है और अपना विस्तार भी कर रहा है । वहाँ न राग है और न आसक्ति । वहाँ केवल आत्मा की तरंगों का फैलाव और विस्तार है । जहाँ व्यक्ति मन की लहरों में जकड़ता है, वहीं व्यक्ति डूबता है । जहाँ व्यक्ति आत्मा की लहरों में अपनी नौका छोड़ता है, वहीं व्यक्ति अपने आपको फैलाता है । यदि कोई व्यक्ति अपनी बाहर की यात्रा में स्वयं को अनन्त तक फैलाता है तो घाटा नहीं है । आप तो फैलाते चले जाओ, अनन्त तक, ब्रह्माण्ड के अन्तिम छोर तक और जब भीतर लौटने की यात्रा शुरू करो तो वे दो-चार कदम भी बेहतरीन ही होंगे । बाहर का फैलाव हो अनन्त तक और भीतर सम्पादन हो शून्य तक । अकेले रहो तो ध्यान और संगी-साथी हों तो प्यार । एक साथ दोनों को साधो, तो संसार में ही संन्यास घटित हो जायेगा ।

जब पाओ स्वयं को घर में अकेले, डूब जाओ स्वयं में, भूल जाओ संसार को, परिवार को । स्वयं में इतने डूब जाओ कि महाशून्यता साकार हो जाये, महाजीवन में प्रवेश हो जाये । जब पाओ किसी को अपने निकट, तो बरसाओ प्रेम की रसधार, अभिषेक कर दो उसका अपने अपनत्व से, अपनी सज्जनता से । यह शुद्ध प्रेम ही अहिंसा का मूल स्वर है ।

दुनिया में दो मोटी परम्पराएँ हैं— ध्यान की और भक्ति की । कोई धर्म ध्यान पर महत्व देगा और कोई भक्ति पर । मगर यह पद्धति ध्यान और भक्ति का समीकरण है । ध्यान और प्यार ही महाजीवन की अनुभूति के मुख्य आधार हैं ।

ध्यान है भीतर की यात्रा । भीतर की यात्रा तो बहुत ही छोटी है, कोई लम्बी-चौड़ी यात्रा नहीं है, कोई हजारों मील की यात्रा नहीं है । भीतर की यात्रा के लिए उठाए जाने वाले ये दो-चार कदम भी बेहतरीन होंगे । भीतर की साधना का एक मात्र उपाय यह है कि जब व्यक्ति ध्यान में प्रवेश करे, तो अपने आपको उसके लिए पूरी तरह तैयार कर ले । उसके लिए संकल्प कर ले, बिना संकल्प ध्यान सधता नहीं है । जो व्यक्ति ध्यान में संकल्पवान होकर प्रवेश करता है, उसके लिए ध्यान की सिद्धि शत-प्रतिशत होती है ।

संकल्प का अर्थ होता है अपनी सारी उर्जा को किसी एक बिन्दु पर एकत्र कर लेना । अपने मन में किसी बात को ठान लेना संकल्प नहीं है ।

मैं जो बातें कहूँगा, वे लोहार वाली हैं, सुनार वाली बातें मैं नहीं करूँगा । सुनार सौ दिन तक धीरे-धीरे वार करता है और सोना घड़ता है । इसके विपरीत लोहार एक दिन की चोट में ही अपना काम कर डालता है । मेरी हथौड़ी भी लोहार वाली है, जो सुनार की सौ-सौ चोटों के बराबर एक-एक चोट लगाती है ।

जिन्दगी में या तो रूपान्तरण हो जाएगा या फिर आप मुझसे छूट जाएंगे । मेरा प्रयास तो यह रहेगा कि आपकी जिन्दगी में रूपान्तरण हो जाए । ऐसा रूपान्तरण, जो जिन्दगी में दीक्षा घटित कर दे । इसलिए

इस लोहार के हथौड़े को अपने भीतर त्रक जाने देना, क्योंकि अगर सुनार की हथौड़ी लाऊंगा तो उसका कोई अर्थ ही न होगा। सुनार की हथौड़ी तो वही काम कर सकेगी, जहाँ सोने का तार हो। जहाँ लोहे पर जंग लगा है, वहाँ तो लोहार की हथौड़ी ही काम कर सकेगी।

इसलिए मैं सबसे पहले चेष्टा करूँगा कि आदमी अपनी सारी ऊर्जा, शक्ति एक बिन्दु पर केन्द्रित कर ले। जो व्यक्ति अपनी ऊर्जा को सग्रगता से एकत्र कर जीता है, उसी व्यक्ति की एकाग्रता सधती है। उस व्यक्ति की जिन्दगी में टुकड़े-टुकड़े होने वाली ऊर्जा का संग्रह होता है। जो चित्त, जो चेतना टुकड़ों में बटँती जा रही है, उसका एकीकरण, समीकरण करने का नाम ही समाधि है। चेतना का बिखराव ही मुखौटों का निर्माण है। जीवन के प्रति ईमानदार वह है, जो चेतना को सग्रगता से संजोता है, उसमें जीता है।

अहत्-मनीषा ने एक अच्छा शब्द दिया— प्रतिक्रमण। इसका अर्थ होता है जहाँ-जहाँ चेतना जाकर जुड़ रही है, उसे वहाँ-वहाँ से लौटा लाना। अगर मेरी चेतना आपसे जाकर जुड़ी, तो मैं उसे वापस बुला रहा हूँ, क्योंकि घर का राग बुला रहा है। याद बुला रही है। घर की याद ही संकल्प-निर्माण की आधारशिला है।

अपनी ऊर्जा को केन्द्रित करना है तो सबसे उपयुक्त स्थान है— दो आँखों के बीच ज्योति-केन्द्र। इस केन्द्र में अपनी ऊर्जा को केन्द्रित करो। अपनी सारी ऊर्जा केन्द्रित करने के बाद यदि आत्मा का स्पन्दन न हो, चेतना की अनुभूति भी न हो तो एक बात पक्की है कि आपकी प्रज्ञा बिल्कुल सध जाएगी। आपके मस्तिष्क में प्रज्ञा पूरी तरह से खुल जाएगी। जो व्यक्ति अपने भीतर की चेतना को मस्तिष्क में ले जाकर केन्द्रित करता है, उसकी प्रज्ञा पूरी खुली रहती है।

आप कल्पना करिये। मैं भी छोटा-सा जीव हूँ। मैंने प्रयास किया कि मैं अपने विचारों की, मन की ऊर्जा को ले जाकर केन्द्रित कर लिया। मैं यह कहूँगा कि आप सिर्फ सात दिन ही अपनी ऊर्जा को, चेतना-शक्ति को यहाँ लाकर केन्द्रित कर लें तो सात दिन के भीतर आपको

चेतना के स्पन्दन का अनुभव होने लगेगा ।

जो चेतना शरीर में बँट रही है, बिखर रही है, उसे आप एक जगह एकत्र होता देखेंगे । जैसे घड़ी चलती है, आत्म-अनुभवों का स्पन्दन भी इसी प्रकार होता है । स्पन्दन का अनुभव भी होगा । यह ज्योति मस्तिष्क में केन्द्रित हो जाती है और आत्म-स्पन्दनों का यह अनुभव होना ही होता है, यदि आदमी अपनी सारी ऊर्जा, चेतना को एक स्थान पर केन्द्रित करे । नल की पानी की धार किसी एक स्थान पर निरन्तर गिरती रहे, तो पत्थर पर भी गड़्ढा हो जाएगा ।

आदमी ने अपनी ऊर्जा को बाँट दिया है । थोड़ी ऊर्जा धन में, तो थोड़ी धर्म में । थोड़ी ऊर्जा कमाई में लगा दी तो थोड़ी मन्दिर बनाने में । आदमी के भीतर की नदी को पच्चीस टुकड़ों में बाँट दिया गया है । अब वहाँ नदी कहाँ रह पाएगी । वहाँ तो छोटे-छोटे नाले बन गए हैं । हम इन सभी नालों को मिला दें तो फिर से नदी बन जाएगी । नदी जहाँ एक प्रवाह से बहेगी, वहाँ विद्युत को, ऊर्जा को उत्पन्न होना ही है । कोई ऐसा कारण नहीं है कि वहाँ बिजली पैदा न हो ।

आपने कभी बिजली पैदा होते देखी है ? किसी बाँध पर चले जाइए । आप पाएंगे कि पानी को एक जगह एकत्र कर फिर तेज प्रवाह से उसे एक चक्र पर छोड़ा जाता है, पानी की धार निरन्तर उस चक्र पर गिरने से बिजली पैदा होगी । जहाँ एक धार, एक रस, एकाग्रता होगी, वहाँ बिजली को, ऊर्जा को पैदा होना ही होगा । अगर ध्यान में सफलता न मिले तो अपनी आत्मा को टटोलिएगा, फिर भीतर पूछना कि कहाँ खामी रह गई ।

ऊर्जा को एक स्थान पर ले जा रहे हो तो वहाँ पर भुजाओं की प्रतिष्ठा होगी, आत्म-बल का सम्मान होगा । वहाँ अपमान और फिसलन का नामोनिशान नहीं होगा । मैं तो चाहता हूँ कि व्यक्ति अपने आपको भीतर से पूरी तरह बदल डाले । छिटपुट होने वाली बूँदाबाँदी क्या बारिश है ? वर्षा उतनी तो होनी ही चाहिए, जिससे फसल उग सके । वह बारिश किस काम की, जिससे धरती की धूल भी गीली नहीं होती ।

एक अच्छा शब्द है— व्रत । व्रत का मतलब होता है अलग हो जाना । उस चीज से अलग हो जाना, जिसका परिणाम संसार के दुःख से जुड़ा हो । लोगों ने व्रत को बाँट दिया है । कहते हैं एक होता है अणुव्रत और दूसरा महाव्रत । अणुव्रत का मतलब होता है त्यागा भी, भोगा भी । भोगते समय थोड़ा-सा त्यागना अणुव्रत है । महाव्रत भोग से पूरा अलगाव है । व्रत हमेशा महाव्रत ही होता है । यदि भोगने के भाव शेष हैं तो व्रत अपने मायने में पूरा हुआ ही नहीं । व्रत है, तृष्णा-से-विमुक्ति । मैं आपसे कहूँगा कि अणुव्रत में विश्वास उतना मत करना, जितना महाव्रत में । मेरी समझ से तो अणुव्रत मात्र व्यक्ति को फुसलाना है । जिन्दगी में क्रांति घटित होनी चाहिए । या तो इस पार या उस पार । या तो पूरी तरह चोर बनो या पूरी तरह ईमानदार बनो । यह बीच का कौन-सा रास्ता अपनाया जा रहा है । बाहर तो आदमी ईमानदार बना हुआ है और भीतर दरवाजे के अन्दर बन्द होकर घालमेल की जा रही है ।

आदमी की जिन्दगी खुली किताब होनी चाहिए । हथेली की तरह बिल्कुल साफ और सपाट । जो भी है, वह ईमानदारी के साथ है । जिन्दगी या तो इस तरफ बढ़े या उस तरफ । बीच के रास्ते पर अपने आपको मत डालिएगा । आदमी सिगरेट छोड़ता है । जरा ध्यान दीजिए । एक आदमी दिन में बीस सिगरेट पीता है । वह कहता है कि आज से मैंने पाँच सिगरेट कम कर दी है । वह अणुव्रती हो गया । पता नहीं अणुव्रत का उसका अनुशासन कैसा है । पाँच सिगरेट कम कर दी, मगर पन्द्रह तो पी ही रहे हो । सिगरेट पीने की तृष्णा और खुमारी तो अभी शेष है । या तो बीस ही पियो या फिर पूरी तरह छोड़ दो । थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ा तो क्या छोड़ा ! थोड़े की बणिया-बुद्धि लगाने की चेष्टा न करो ।

कण-कण से, बूँद-बूँद से घड़ा भरता है, यह सोचा तो घड़ा भरने तक जिन्दगी ही बीत जाएगी, फिर भी घड़ा भर पाएगा या नहीं, यह तय नहीं है । इसलिए अपना घड़ा समग्रता के साथ भर लो । धूम्रपान छोड़ना है तो एक साथ छोड़ दो । आदमी डरता भी है और पीना भी चाहता

है । धूम्रपान की चिन्ता छोड़ो । ध्यान में डूबो । वह अपने आप छूट जाएगा । स्वयं का रस जग गया, तो परायों के प्रति जुड़ाव स्वतः कम होगा ।

मेरे पास लोग आते हैं, कहते हैं 'मुझे गुस्सा बहुत आता है, इसे छोड़ने के लिए मैं क्या करूँ ?' मैं उन्हें रास्ता बताता हूँ कि रोजाना एक घण्टा समग्रता के साथ ध्यान कर लिया करो । वे पूछते हैं साहब ! मैं तो पूछ रहा हूँ गुस्सा कैसे कम करूँ और आप कहते हैं 'ध्यान करो' । इन दोनों का तो तालमेल ही नहीं बैठता मेरी समझ में । मैं उसे समझाता हूँ कि तू गुस्से की माथापच्ची को छोड़ दे । अगर सिगरेट पीता है तो उसकी स्मृति से हल्का हो जा । तू भूल जा कि सिगरेट पीता है । तुम्हारा काम सिर्फ यह है कि सुबह-शाम एक-एक घण्टा ध्यान कर लो । ध्यान की यह गोली, जो तुम सुबह लोगे, दिन-भर असर करेगी और शाम को जो खुराक लोगे, वह अगले दिन सुबह तक असर करेगी । तुम सात दिन तक ऐसा करके देख लो, फिर बताना कि तुम्हारा गुस्सा कम हुआ या नहीं । मेरा प्रयास सिर्फ इतना है कि व्यक्ति अपनी ऊर्जा को एक जगह ले जाकर केन्द्रित कर ले । ऊर्जा को सिगरेट में बाँटा, धन में बाँटोगे । ऊर्जा जितनी बाँटती है, वहाँ तृष्णा का जन्म होता है, कामना पैदा होती है और जहाँ कामना पैदा होगी, वहाँ उतनी ही मृत्यु निकट होगी ।

आदमी अपने भीतर की ऊर्जा को एकत्र करने का प्रयास करे । ऐसा आदमी ही संकल्पवान है । आदमी संकल्प के साथ कुछ पा सकता है । इसलिए लड़ो ध्यान से, मुठभेड़ ध्यान से करो । धूम्रपान भूल जाना, सिर्फ ध्यान ही ध्यान शेष रह जाए । लड़ना हो तो ध्यान से लड़ो, धूम्रपान से क्या लड़ना ।

एक बार शेर और गधा जंगल में आमने-सामने मिल गए । गधे ने कहा, 'मैं तुमसे युद्ध करूँगा ।' शेर ने कहा— 'तू मेरे से क्या लड़ेगा ?' गधा बोला— 'ज्यादा शेखी मत बघार । मेरी एक लात पड़ गई तो तू कहीं-का-कहीं पहुंच जाएगा ।' शेर थोड़ी देर तक तो गधे की बक-बक सुनता रहा, फिर एक तरफ चल दिया । अब गधा अपनी हांकेने लगा— 'मैंने शेर को भगा दिया' । इधर शेर को रास्ते में एक लोमड़ी

मिली । उसने पूछा— 'हे जंगल के राजा ! तुम चाहते तो गधे को दिन में तारे दिखा सकते थे, फिर तुम लौट क्यों गए ?' शेर बोला— 'लोमड़ी ! आजकल तेरी बुद्धि को क्या हो गया है ? इतनी-सी बात नहीं समझी । दरअसल मैं किससे लड़ूँ, गधे से, जिसका और मेरा कोई मुकाबला ही नहीं है । इसके बाद भी मैं गधे से लड़कर उसे हरा दूँ और जीत जाऊँ तो लोग कहेंगे इसमें क्या बड़ी बात है । शेर और गधे की लड़ाई में तो शेर को ही जीतना था । बेचारा गधा उसके सामने कहाँ ठहरता । शेर को भी अक्ल नहीं है, लड़ा भी तो किससे, गधे से ? अरे शेर की अक्ल कहाँ गई ? इसके अलावा मान लो गधे की दुलती कहीं गलत जगह पड़ गई और मैं हार जाऊँ तो लोग यही कहेंगे— शेर होकर गधे से हार गया । इसलिए अपने स्तर से नीचे के जीवों से क्या लड़ना, उन पर क्या बहादुरी दिखाना ।'

यही फर्क है, लड़ना है तो क्रोध से लड़ो, मान से लड़ो । जिन्दगी का असली शेर तो यही है । इससे लड़ो । मेरे पास गधे नहीं हैं, शेर हैं । आओ शेर से लड़ो । मैं आपको शेर से लड़ना सिखाता हूँ । यह मत सोचो कि आपके पास ताकत नहीं है । आपके पास ताकत है । फर्क यही है कि आपको इस ताकत की पहचान नहीं है । ताकत आपके अन्तरमन में छिपी है । उसे खोजने और पहचानने की जरूरत है ।

एक बुढ़िया कहां करती थी कि मैं अशक्त हो गई हूँ, मेरे पास ताकत नहीं है । वह हमेशा लकड़ी लेकर चला करती थी । एक रात वह जब पलंग पर सो रही थी । अचानक एक साँप वहाँ आ गया । उसे देखते ही बुढ़िया में न जाने कहाँ से दुनिया-भर की ताकत आ गई और वह 'साँप ! साँप !' चिल्लाती पलंग से कूदकर भागती चली गई । कहाँ तो वह बुढ़िया लकड़ी के बिना चल ही नहीं सकती थी और साँप को देखते ही उसकी शक्ति लौट आई ।

जहाँ मनुष्य अपनी सारी ऊर्जा एकत्र कर लेगा, वहीं रोशनी पैदा हो जाएगी । नए जीवन का स्वागत होगा । ऊर्जा को एकत्र करने का नाम ही ध्यान है । इसलिए अपनी सारी ऊर्जा को यहाँ लाकर एकत्र कर लेना । इस ऊर्जा को फिर सही उपयोग में लेना । अपने आपको बाहर

तक, अन्त तक फैलाना जरूर, मगर पहले भीतर को पहचान लेना । जब तक भीतर को नहीं पहचाना, तब तक राम की पहचान क्या खाक होगी । पहचानने चले हो राम को, परमात्मा को । अरे ! अपने आपको तो पहचान लो । मगर ऐसा नहीं हो रहा है ।

आदमी गधे पर सवार है और दौड़ रहा है । रास्ते में किसी ने पूछ लिया भाई, कहाँ जा रहे हो ? वह बोला— ‘गधे को ढूँढ़ने जा रहा हूँ ।’ राहगीर हँसा, बोला— भले आदमी, गधे पर तो तुम बैठे हो । अरे ! यह तो ध्यान ही नहीं आया । जिस पर बैठे हो, उसी की तलाश में दौड़ रहे हो । वह सम्पदा तो तुम्हारे पास ही है, उसे ढूँढ़ने के लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं है ।

एक दिन, ध्यान-साधना में रुचि रखने वाले एक सज्जन मेरे पास आए । बोले— ‘मैं ईश्वर को खोज रहा हूँ ।’ मुझे उनकी बात सुनकर हँसी आई— ‘ईश्वर को खोज रहे हो, ईश्वर खोया ही कब था, जो खोज रहे हो ।’ जो खोया हो, उसे तो खोजा भी जा सकता है । जब कुछ खोया ही नहीं तो खोजना क्या ? उसे (ईश्वर को) खोजना नहीं है । वह तो तुम्हारे पास बैठा है और तुम्हारी नादानी पर हँस रहा है । उसे खोजने की नहीं, तुम्हें सिर्फ अपनी आँख खोलने की जरूरत है ।

दिया तो जला हुआ है, न उसमें तेल है, न बाती, फिर भी जल रहा है । ‘अप्प दीवो भव ।’ तुम ऐसे ही दीपक हो, आँधी उसे बुझा नहीं सकती । पहचानो उस दीपक को । उसकी लौ, रोशनी बाहर नहीं आ रही है । जिन पर्दों ने उस रोशनी को ढक दिया है, उन्हें हटाने की जरूरत है । दिया बुझा ही कब था, वह तो जल रहा है युगों-युगों से । वह बुझ गया तो राम नाम सत्त है । भीतर का दिया तो कभी नहीं बुझता, वह तो सनातन है । हमेशा से जलता रहा है, जल रहा है और जलता रहेगा । आदमी कितना भी पुण्यात्मा से पुण्यात्मा और पापी से पापी बन जाए, चाहे मृत्यु की गोद में जाओ या जीवन की क्रोड़ में, यह शाश्वत दिया तो जलता रहेगा । उसे बुझाने का कोई तरीका भी नहीं है । कितना भी प्रलय हो जाए, वह दिया बुझने वाला नहीं है । जरूरत है सिर्फ आँखें खोलने की :

तेरो तेरे पास है, अपने मांही टटोल,
राई घटै ना तिल बढ़े, हरि बोलौ हरि बोल ।

शब्द बड़े सुलझे हुए हैं । तुम्हारा तुम्हारे आस-पास, टटोल सको स्वयं में काश । आखिर हमारी परछाई हमारे इर्द-गिर्द ही होगी, हमसे सौ कोस दूर नहीं । उस आदमी को आप क्या कहेंगे जिसका पर्स जेब में है और उसकी खोज में आदमी जा रहा है पुलिस थाने में । स्वयं की आँखों की रोशनी बाहर से जुड़ी है, इसलिए आदमी पहल भी बाहर की खोज में ही कर रहा है । बाहर की रोशनी तो किसी और की है, तुम्हारी रोशनी तो स्वयं तुमसे ही जुड़ी है । उसकी सम्भावना तो स्वयं तुममें ही है । जब मेरी सम्भावना मुझसे जुड़ी है तो उसकी तलाश कहीं और क्यों ? हरि तुम हो । जरा प्रेम से स्वयं को पुकारो तो सही । स्वयं की मौलिकताओं से प्रेम करना ही तो अध्यात्म-जगत से साक्षात्कार है ।

एक बात और है : केवल हरि-हरि का नाम लेने से भी काम चलने वाला नहीं है । कहने से हरि नहीं मिलता, कुछ करने से हरि मिलता है । जप-जप करने से जप नहीं होता, बल्कि होने से जप होता है । आपको मालूम है कि हरि का अर्थ क्या होता है ? लोग सोचते हैं हरि का मतलब भगवान होगा । नहीं ! हरि का अर्थ भगवान नहीं होता । भगवान तो आमन्त्रित अर्थ है । जैनी अरिहंत को पूजते हैं । समझते हैं यह ही भगवान है । अरे, इनके अर्थ तो बड़े विचित्र हैं । हरि का अर्थ होता है— हरण करने वाला । लुटेरे का क्या काम है हड़पना । हरि का काम है हरण करना । जो हरण करता है, वही हरि है । मनुष्य में जहाँ-जहाँ कमजोरियाँ हैं, अवगुण हैं, उन्हें जो हरता है, वह हरि है । अरिहंत का अर्थ है— मारने वाला । किसे मारना है, कपड़े कूटेगा ? शत्रुओं को जीतने वाला, पता नहीं कौन-से हिटलर को जीतने निकला है ? कौन-से नेपोलियन को जीतना है ? यही तो सब अर्थ होते हैं जिनकी तह में जाने पर ही पहचान होती है । ये अर्थ दबे पड़े हैं अन्दर । गहराइयों में जाने पर ही इनकी पहचान होगी । इन अर्थों को दूढ़ना पड़ेगा ।

आत्मविजयी अरिहंत है । वही हमारा हरि है जो हमारे अवगुणों

को हर ले । इसलिए हरि के पास जाओ तो वहाँ हरि-हरि बोलने से कुछ नहीं होगा । कुछ होने से ही जप होता है और हरि मिलता है । व्यक्ति जहाँ कुछ होता है, बनता है, वहीं हरि का बोध पैदा होता है ।

मनुष्य जो हरि-हरि बोल रहा है, वह बाहर ही दूँढ़ना है । जब हम कुछ होते हैं तो हरि भीतर से बोलता है । उस समय जो आत्म-साक्षात्कार होता है, वही निःशब्द-की-यात्रा है । वहीं हरि का बोध होता है । वहाँ परा की ध्वनि गूँजती है । वहाँ हरि के दर्शन होते हैं । परमात्मा का साक्षात्कार होता है ।

जो व्यक्ति सिर्फ बाहर दूँढ़ने का प्रयास करते हैं, उन्हें चाहिए कि बाहर जाओ मगर पहले अपने भीतर तो टटोल लो । अपने भीतर तो दूँढ़ लो, जहाँ तुम स्वयं बैठे हो । क्योंकि वह कभी खोया ही नहीं, जिसे तुम दूँढ़ रहे हो । वह तो पाया हुआ है । कमाने की जरूरत नहीं है, वह तो तुम्हारे ही पास है । जेब में हाथ डालो और निकाल लो । आपका धन तो आपकी जेब में ही है । हाथ डालो तो आपका और न डालो तो आपका होते हुए भी आप फकीर ही रहे । आप दूँढ़ते हैं मेरे पास और मैं दूँढ़ता हूँ आपके पास । आदमी यही कर रहा है जो चीज उसके पास है, उसकी खोज वह कहीं ओर कर रहा है और इसी का नाम मृगतृष्णा है ।

अधिक पुरानी बात नहीं है । एक साधु अपनी झोपड़ी में सोया था । उसे सपना आया कि यहाँ से ठीक चार किलोमीटर दूर एक नदी है । उसके किनारे एक पेड़ है । उस पेड़ के नीचे धन गड़ा है । धन देखते ही साधु की आँख खुल गई । सोचा सपना है । अगले दिन, तीसरे दिन भी जब वही सपना आया तो अब साधु से नहीं रहा गया । उसने सोचा जरूर कुछ-न-कुछ तो है, नहीं तो रोज एक ही सपना आने का क्या तुक । साधु रवाना हुआ । ठीक चार किलोमीटर चलने पर नदी नजर आई । उसके पास पेड़ भी देखा । पेड़ के नीचे एक सिपाही बैठा है । अब साधु परेशान कि पेड़ के नीचे खुदाई कर धन कैसे निकाले । सिपाही के जाने का इन्तजार कर साधु वापस अपनी झोपड़ी की ओर लौट गया । साधु दूसरे दिन भी आया और तीसरे दिन भी, मगर सिपाही को वहाँ से हिलता न देख लौट गया ।

चार दिन बाद साधु उधर आया तो सिपाही ने उसे रोका और कहने लगा— साधु महाराज, मुझे आपसे एक बात पूछनी है। साधु ने कहा— पूछो। सिपाही बोला— मैं तीन दिन से एक सपना देख रहा हूँ। साधु बोला— मैं भी एक सपना देख रहा हूँ और उसे पूरा करने ही इधर आ रहा हूँ। सिपाही बोला— पहले मेरा सपना सुनो। मुझे सपना आ रहा है कि यहाँ से चार किलोमीटर दूर एक झोपड़ी है, जहाँ एक फकीर सोया है। उसके पलंग के नीचे बहुत-सा धन गड़ा है। कहीं वो साधु तुम ही तो नहीं हो ? साधु इतना सुनते ही अपनी झोपड़ी की ओर दौड़ पड़ा। अरे, धन तो मेरे पास ही था और मैं उसकी तलाश में कहीं और भटक रहा था।

यही हो रहा है। सिपाही साधु के पास धन खोज रहा है और साधु कहीं ओर धन की तलाश कर रहा है। यहाँ हर व्यक्ति एक-दूसरे के बीच धन को, परमात्मा को तलाश रहा है। अपने भीतर देखने का प्रयास कोई नहीं कर रहा है। भगवान तो कहते हैं कि अपने भीतर के धन को जानना ही धन देखने का प्रयास है और वही धनवान है। अपने धन को आपने बिसरा दिया तो समझो कंगाल हो गए। मेरे पास आओ। यहाँ बहुत-सा धन गड़ा है। सिर्फ अपने आपको पहचानो कि तुम्हारे पास कितना धन बिखरा पड़ा है।

आत्मधन के मुकाबले दुनिया का और कोई भी धन नहीं है। जरा उस वक्त को याद करो, जिस समय बिना मुहूर्त के तुम्हारी डोली उठा ली जाएगी। आत्म-धन विलीन हो जाएगा और दुनिया का धन यहीं-का-यहीं धरा रह जाएगा। तुम स्वयं माटी के हो, बर्तन तूने सारे सोने के सजाए हैं। तू छोट-सा है, लेकिन तेरे अरमान तो आसमान जैसे हैं, पर एक बात तय है कि जिस दिन माटी माटी में समाएगी, उस दिन न सोना काम आएगा और न चाँदी काम आएगी। दुनिया का धन खो भी जाये, पर अपना धन बच जाये तो जान बची लाखों पाये। मूल प्रति अपने हाथ में हो और उसकी फोटो कॉपी खो भी जाए तो मौलिकता को कौन-सी आँच आती है। स्वयं की मौलिकता की ओर आँख उठाना ही सम्बोधि है।

ध्यान स्वयं की मौलिकता में वापसी है। ध्यान है स्वयं-में-प्रत्यावर्तन

की-प्रक्रिया । जो स्वयं में लौटा, वह अपने धन से धनवान बना । समाधि उस धनवत्ता का ही दूसरा नाम है ।

ध्यान अगर स्वयं में लवलीन होने में सार्थक हो जाए तो जीवन के द्वार पर कैवल्य की दस्तक हो सकती है । कैवल्य का अर्थ है स्वयं की पहचान । ध्यान इस सारे परिवेश में प्रवेश करने के लिए आधार है । स्वयं में प्रवेश ही धर्म है और ध्यान धर्म की कुंजी है । ध्यान ही धर्म का सार है । यों समझिये कि धर्म का जन्म ही ध्यान है ।

ध्यान का पहला सूत्र है स्वयं के प्रति जिज्ञासा । दूसरा सूत्र है स्वयं की स्वीकृति । तीसरा सूत्र है स्वयं में डुबकी ।

दुनिया में ध्यान की जितनी भी परम्पराएँ विकसित हुई हैं, ये तीन सूत्र उनका प्रथम अध्याय भी हैं और ध्यान के सम्पूर्ण विस्तार का उपसंहार भी ।

आदमी की जिन्दगी अपरिचितों से मिलने में, दो-चार किताबों को पढ़ने में खत्म हुई जा रही है । दूसरे की मौत आपके लिए चुनौती है । जीवन बूँद-बूँद रिसता जा रहा है । जीवन मिटे, उससे पहले जीवन को बना लेना चाहिए, नश्वरता में छिपे शाश्वतता को बटोर लेना चाहिए । आखिर जाना अकेला है । सारे सम्बन्धों को छोड़कर जाना है । काश! जीते-जी अकेलेपन का बोध प्रगट कर लो । सम्बन्ध संसार है और अकेलापन संन्यास है । मेरी पुकार उसी संन्यास के लिए है । निर्लिप्त कर लो स्वयं को, जल में कमल की तरह । ध्यान आपकी इसमें मदद करेगा । भरपूर मदद लो । सूर्य तुम्हें खिलाने के लिए आसमान में उभरने वाला है । ध्यानमय संकल्पों के साथ समर्पित हो जाओ अपने अन्तर्-कमल को कीचड़ से बाहर निकालने के लिए, ताकि सूरज अपनी किरणों से खिला सके कमल की पंखुड़ियाँ । ऐसा होना ही अनन्त-से-साक्षात्कार है ।



दस्तक शून्य के द्वार पर

जीवन भाषा में नहीं, भाव में जीवित है । भाव हृदय की धड़कन है । जीवन गूंगे का भी हो सकता है, किन्तु हृदय-विहीन जीवन मात्र चलता-फिरता शव है । जहाँ हृदय नहीं, वहाँ ली-दी जाने वाली आमन्त्रण-पत्रिका निरी व्यावहारिकता है, कोरी औपचारिकता है ।

हृदय भाव-भरा है । शब्द ओछे हो सकते हैं । भाषा बौनी जो ठहरी । हृदय बौने शरीर में रहने वाला विराट है । आँसू हृदय से आते हैं । आँसुओं को देखा तो आँखों से जाता है, किन्तु पहचाना हृदय से जाता है । यदि कुछ हृदय से कहा जाये तो वह जीवन की बोलती गाथा होगी ।

जीवन के शिलालेख पर दोनों तरह की रेखाएँ खिंची मिलती हैं— उत्थान की भी, पतन की भी । जीवन उत्थान-पतन, मीठे-तीखे अनुभवों का लम्बा-चौड़ा इतिहास है । जीवन के इस इतिहास को पढ़ने-निरखने का नाम ही स्वाध्याय है ।

आओ, बैठें तरु के नीचे ।
कहने को गाथा जीवन की,
जीवन के उत्थान-पतन की,
अपना मुँह खोलें, जब सारा
जग है अपनी आँखें मींचे ।
अर्ध्य बने थे ये देवल के,
अंक चढ़े थे ये अंचल के,
आओ, भूल इसे आँसू से,
अब निर्जीव जड़ों को सींचें ।

भाव-भरा उर, शब्द न आते,
 पहुँच न इन तक आँसू पाते,
 आओ, तृण से शुष्क धरा पर,
 अर्थ सहित रेखाएँ खींचें ।
 आओ, बैठें तरु के नीचे ।

तरु के नीचे बैठने का मतलब है जीवन के इतिहास को शान्त चित्त से पढ़ना । पढ़ लिया हो तो सोचना और सोच लिया हो तो सम्बोधि को आत्मसात् करना । समाधि के शिखर पर आरोहण करने के लिए इस सारी प्रक्रिया को अनुभूतिजन्य अनिवार्यता मानें ।

साधक की बैठक होती है शिखर पर शान्त चित्त ही उसकी समाधि का अपर नाम है । प्रज्ञा की आँख सोयी नहीं रहनी चाहिए । वह निष्पटल रहे, तो ही कैवल्य-दर्शन पास फटकता है । बाहर के लिए उत्सुकताएँ कम रहनी चाहिए । उसके आचरण में उदासी मुखर होनी चाहिए । उदासीनता वीतरागी चेहरे पर झलके, तो ही अन्तर् की माधुरी का आस्वाद लिया जा सकता है । स्वयं के ध्रुव रूप को उजागर करने के लिए यही स्वस्तिकर है ।

उदासीनता का मतलब है— निर्लिप्तता । उदासीनता की बारीकियों को अपनाएँ तो साधना के द्वार पर सहज दस्तक होगी । उदासीनता 'छोड़ने' से नहीं आती, 'छूटने' से आती है । 'छोड़ने' का सम्बन्ध बाहर से है और 'छूटने' का सम्बन्ध मन से है । छोड़ना छूटना नहीं है । पर हाँ, छूट जाये तो छोड़ने की माथाकूट नहीं करनी पड़ती । उदासीनता छूट जाने का ही नाम है । 'देहानुभूति-शून्य हूँ'— ऐसा कहने से देह-भाव नहीं छूटेगा । देह-भाव छूटने से देहानुभूति-शून्य स्वयं बन जाएंगे । ध्यान जितना प्रगाढ़ होगा, उदासीनता उतनी ही जीवन्त होगी ।

स्वयं का होश और बाहर से बेहोश— यही उदासीनता की मूल गहराई है । मुँह लटकाना उदासीनता नहीं है, वरन् शून्य के द्वार पर दस्तक है ।

साधना का प्रथम चरण उदासीनता में प्रवेश है, तो अन्तिम चरण उदासीनता की उपलब्धि है । यह सच है कि वही साधक आसन पर शासन कर पाता है, जिसने असत्य के प्रति उदासीनता को आत्मसात् कर

लिया हो । आसन का मतलब है, बिछावट और उदासीनता का अर्थ है, ऐसी बिछावट जो संसार से ऊपर हो, अडोल हो, कमल हो । जिसका आसन संसार से उपरत है, वही साधना की सीढ़ी पर चढ़ रहा है । उदासीन होना यानी ऊँचा आसन करना— उत्+आसन । उदास होना यानी आशा-अभिलाषा से ऊपर उठना । आखिर उदासीनता ही तो मायाजाल से मुक्ति का अभियान है ।

जीवन में संन्यास अंगीकार करने का मतलब है स्वयं के आसन को मायाजाल से मुक्त करना, संसार के दावानल से ऊपर करना । संन्यास है ममत्व-की-मृत्यु । माता, पिता, भाई, पत्नी, बच्चे— ये सब ममत्व के ही पारिवारिक सदस्य हैं । संन्यास परिवार से दूरी है । इसलिए एक व्यक्ति का संन्यास उससे सम्बन्धित परिवार के बीच रेशम-डोर से बँधे रिश्तों पर कैची चलाना है । उसे जीना होता है शिखर पर । शिखर से अभिप्राय है संसार से ऊपर । फिर चाहे हल्दी घाटी में तलवारें चलें या कुरूक्षेत्र में चक्रव्यूह रचे, पर साधक इन सबसे बेखबर होगा । वह अप्रभावित रहेगा । सारे दृश्य होंगे, मगर वह दृश्य का ग्राहक नहीं होगा । दर्शक देखता है, अभिनय नहीं करता । विश्व को चलचित्र की भाँति मूकदर्शक बने देखना ही अन्तर्जागरण की पहल है ।

मन भी अपनी चंचलता दर्शाता है, पर द्रष्टाभाव को मक्कम कर लो तो मन हमारा नौकर होगा । मन में पचासों विचार चलते हैं । वह घोड़े की तरह खुंदी करेगा ही । मन के मुताबिक करेंगे तो यह कहा जाएगा कि हम किसी और के कहे में आ गए । मन के अनुसार कृति की, तो हम पर केस चलेगा । द्रष्टा और दृश्य में भेद रखा, मन से विलग रहे, तो कहाँ रहेगा सजा से सम्बन्ध ! मन का मानना तो आसमान में थँगले लगाना है ।

उदासीनता हो, तो दर्शन, गमन, स्पर्शन होते हुए भी कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी । वह क्रिया कभी बन्धनकर नहीं होती, जिसके प्रति अन्तर् में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है । प्रतिक्रिया से मुक्त होने का नाम ही ध्यान-सिद्धि है । धन-धरती वगैरह के प्रति आसक्तिमूलक या घृणामूलक प्रतिक्रियात्मक रवैया अपनाने वाले ही फँसते/कूल्हते हैं ।

क्रिया गमन है, किन्तु प्रतिक्रिया लुढ़कना है। उसकी दशा उस पानी जैसी है, जिसके भाग्य में नीचे की ओर जाना ही लिखा है। मैं आरोहण के लिए कहूँगा, पर ऊर्ध्वारोहण करें। यात्रा हो ऊपर की ओर; गंगोत्री की ओर।

उर्ध्वारोहण की प्रतीक है ज्योति। ज्योति का जन्म शून्य में है और अन्त विराट में। ज्योति हमेशा ऊँचाईयों को छूने का प्रयास करती है और पानी ऊपर चढ़ाये जाने के बावजूद सिर के बल ही गिरता है। ज्योति का व्यक्तित्व चढ़ना है और पानी का आचरण लुढ़कना है। चेतना तो ज्योति स्वरूप है। उसे वह पानी न समझें जो शिखर से पादमूल की ओर बहता है। बहना मुर्दापन है। उसने मुर्दापन के साथ गलबांही कर रखी है। जीवन की जिन्दादिली और जीवन्तता तो मात्र इसी में है कि हम बहना नहीं, अपितु तैरना सीखें। जो पानी में बहता है, वह लाचार है। अन्तेष्टि-संस्कार हो चुका है उसके बाहुबल का।

एक मित्र-साधक अपनी अलमस्ती में बैठा है शिखर पर, तरु के नीचे। कहने में भले ही कह दें आसन पर, पर वो बैठा है अपने आप में। भीतर की बैठक में सर्वेक्षण कर रहा है स्वयं का। चालू हो चुकी है प्रज्ञा-की-धरा-पर-परिक्रमा मन्दिर में लगाई जाने वाली फेरी-सी, प्रदक्षिणा-सी। पर उसका पाँव 'चरैवेति-चरैवेति' का सूत्रधार नहीं है। स्वयं कुछ दृश्य उसकी बन्द आँखों में आ रहे हैं। मानों पाताल-लोक से कोई अजनबी जनम रहा है। वह ठहरा द्रष्टा, आते-जाते दृश्य तो उसके लिए ठीक वैसे ही हैं, जैसे बगल में हवा का झोंका।

पहला दृश्य : एक गर्भवती महिला जा रही है अस्पताल की ओर। बीच रास्ते में उसे प्रसव पीड़ा घेर लेती है। नवजात बच्चा रोने लगता है। आखिर रोते हुए ही तो सभी आते हैं। परिवार वाले आते हैं और जच्चे-बच्चे को ले जाते हैं।

दूसरा दृश्य : साधक देखता है एक ऐसे व्यक्ति को जो खाँसता-खाँसता चला जा रहा है। दो अंगुलियों के बीच सिगरेट थमी है। मुँह से दमघोंटू धुंआ निकल लहा है। छाती जल रही है। खाँसी रुक नहीं रही है। पर सिगरेट और उसके धुएँ का सम्मोहन कहाँ छूट पा रहा है ! वहीं

लड़खड़ाता हुआ गिर पड़ता है। अस्पताल में, कानों में डॉक्टर के शब्द आते हैं- 'सिगरेट एक-दूजे के लिए नहीं, कैसर के लिए।'

तीसरा दृश्य : एक बूढ़ा चल रहा है। हाथ में लाठी, झुकी गर्दन, टेढ़ी कमर, हांफती सांस। बूढ़े ने आगे बढ़ने के लिए इस दफा जैसे ही लाठी आगे रखी, लाठी के नीचे केले का छिलका आ गया, लाठी फिसली और बूढ़ा गिर पड़ा। जैसे-तैसे सम्भल, खड़ा हुआ, फिर चलने लगा पर इस बार किसी से टक्कर लग गयी। आदमी ने कहा, बूढ़े ! अन्धे हो क्या ? देखकर नहीं चलते ? बूढ़े ने कहा, बूढ़ा हूँ। मेरी आँखें कमजोर हैं। पर तुम तो जवान हो। सही आँखें होते हुए भी टकराने वाला सूरदास है।

चौथा दृश्य : वह अनन्त का यात्री निरपेक्ष था। यात्रा मौन थी, लोगों की दर्द भरी आवाज के बीच। पांथ अकेला था साथियों के कन्धे पर। नयन मुंदे थे भीड़ की खुली आँखों में। स्वयं एड़ी-से-चोटी तक सजा था, संगी-साथी उघाड़े थे। जीवन-संगिनी विदाई दे चुकी थी घर की देहरी से। टिकट मिल चुका था। शमशान में डेरा लग गया। सब जला रहे थे, वह जल रहा था। साथ में वे कोई न जले, जिनके लिए उसने अपना जीवन जलाया। शमशान के करीब से गुजरते संत ने कहा, दुनिया सरायखाना है। इसमें ठहरे राहगीर के लिए आँसू ? उसके लिए नहीं, अपने लिए रोओ। यह तुम्हें तुम्हारी मृत्यु की सूचना है। ज्योति बुझे, उससे पहले अपनी सम्पदा के 'दूँढ़िया' बनो। यही 'तेरा पंथ' है।

दृश्यों का तांता खत्म हो गया। ये चार दृश्य चार-दिन की जिन्दगी की फोटोग्राफी है। तरुवर के नीचे बैठे साधक ने सारे दृश्यों को साक्षी बनकर देखा। आँखें खोलीं। उनमें एक मन्द मुस्कान थी। उस रहस्यमयी मुस्कान में अनुगूँज थी -

ये ऐश के बन्दे सोते रहे, फिर जागे भी तो क्या जागे ?

सूरज का उभरना याद रहा और दिन का ढलना भूल गये ?

धन, धरती, रूप, मजा में फँसा/कराहता मनुष्य सदा ऊँध में रहा

। पहचाना ही नहीं कभी अपनी ऊँध को, नींद को । कार चलाना तो याद रहा, पर ब्रेक लगाना भूल बैठा । जन्म और जन्म-दिवस की स्मृति बनाये रखी, पर मृत्यु और मृत्यु-दिवस का सोच भी पैदा न हुआ ।

जीवन के सूरज का उपयोग वही कर सकता है, जो उसके उदय और अस्त दोनों स्थितियों को याद रखता है ।

जिन्दगी मृत्यु के करीब होती जाती है । यहाँ यात्रा भी मृत्यु है और मंजिल भी मृत्यु । मृत्यु तो मृत्यु है ही, पर जिन्दगी भी मृत्यु के लिए है । जन्म और जिन्दगी याद रहे, पर मृत्यु को बिसरा बैठे ।

अगर संसार से कुछ सीखे हो तो मरना ही होगा । मृत्यु ध्यान की पूर्णता है, समाधि की पहल है । मौत जीवन की नहीं, चित्त पर रोज-ब-रोज आते संस्कारों की धूल की करनी है । आदमी को रोज मरना ही चाहिए । हर अगला दिन पुनर्जन्म है । कल और कल की बातें मर जाएँ तो मानसिक और वैचारिक उठापठक की पकड़ ढीली होती जाएगी । हर अगले दिन आप नवजात शिशु होने चाहिये । यह हमारा सौभाग्य है कि हमें मात्र इसी जन्म की बातें याद हैं । यह ऊपर वाले की मेहरबानी है कि हमें पूर्व जन्म की बातें याद नहीं हैं । चित्त की पकड़ उस तक नहीं है, अन्यथा उस गये/बीते अतीत को चित्त से हटाने में बड़ी कड़ी मेहनत करनी पड़ती । सोचें, जब एक जन्म के ही संस्कारों से शून्य होने में इतनी उठापठक करनी पड़ती है, तो जन्मों-जन्मों के चित्त संस्कारों की स्वच्छता के लिए कितने लम्बे-चौड़े अभियान चलाने पड़ते ।

अतीत के प्रति मूकता और वर्तमान के प्रति जागरूकता भविष्य के द्वार पर सहज दस्तक है । वर्तमान की नजरों से परखने के लिए ही मैंने तरुवर के नीचे बैठने को सुधरी सलाह दी । तरु जीवन्तता है, हरीतिमा है । पत्ते-पत्ते में जीवन के गीत हैं, तबले की थाप भी है, कण्ठ के आलाप भी हैं, नृत्य-संगीत भी है ।

तरु साधक है । वह खुद भी साधक है । अतीत का संन्यासी और वर्तमान का अनुपश्यी है वह । कल को भूल बैठा है । वर्तमान का द्रष्टा बन भोग रहा है । भोग हो, पर द्रष्टा-भाव सध जाये तो वह भोग

योग का विपरीत नहीं हो सकता ।

द्रष्टा हर क्रियाकलाप के बीच तटस्थ रहता है । तरु तटस्थ है । तटस्थता न्याय है । न्यायाधीश तटस्थता का ही पर्याय है । वह सत्य को देखता है । दोनों पक्षों के प्रति वह एकसम रहता है । वह सबकी सुनता है, देखता है, पर समर्थन मात्र सत्य का करता है । सत्य के लिए जान जोखिम में डालने वाले आखिरी दम तक जीवन-कलश में सत्य-सुधा भरते रहते हैं ।

सब कुछ होता रहे, किन्तु उस होने में-से मात्र सत्य की अनुमोदना हो तो वही सत्यार्थ-प्रकाश है ।

मैं यह न कहूँगा देखना छोड़ो, सुनना छोड़ो, सूँघना छोड़ो । क्योंकि ये क्रियाएँ तो उस समय भी चालू रहती हैं जब समाधि 'चरण-चेरी' बन जाती है । इसलिए मैं कहूँगा पकड़ना छोड़ो । आँख बन्द भी कर लो, कान में रूई डाल दोगे, तो भी मन देखेगा, सुनेगा, कहेगा । उसकी पहुँच बन्द आँखों में भी है और खुली आँखों में भी । हमारा दायित्व मात्र इतना ही है कि देखना, 'देखना' ही रहे । देखे हुए को अगर चित्त पर आमन्त्रित/छायांकित कर दिया, तो वह देखना हमारी शान्त होती वृत्तियों का अतिक्रमण होगा । कमल कीचड़ में रहे, रहना भी पड़ेगा; पर कीचड़ कमल पर न चढ़े इसके लिए आठों याम चौकसी रखनी बुद्धिमानी है ।

मुक्त बनें, मन से मुक्त बनें । वह आकाश बनें, जिससे सब कुछ अस्पृश्य रहता है । आँधी चले या मेघ गरजे, दिन उगे या रात पले, पर आकाश को उन सब का कहाँ स्पर्श ! जिसमें कोई स्पर्श नहीं होता, वह मन-से-मुक्त है । रास-लीलाएँ चलती रहें, तो रहें, पर व्यक्ति के चित्त पर वे न झलकें । द्रष्टाभाव में रहने के बाद होने वाली रास-लीला भी स्वयमेव उदासीनता को बुलाएगी । ऐसे ही तो होती है शून्य से शिखर की यात्रा । परम-जागरण परम सहकारी है शिखर की यात्रा के लिए ।

हमें अपनी खुमारी को समझना चाहिए । हम अपनी तन्द्रा को पहचानें और जागें । सुन्दिरों में बजाये जाने वाले बड़े-बड़े घण्टों का यही रहस्य है । घण्टा बजाना आम है। क्या घण्टा बजाकर तुम अपने आने

की खबर परमात्मा तक पहुँचा रहे हो या भगवान को सोया समझ जगाने की पहल कर रहे हो ?

मन्दिर में घण्टा परमात्मा के लिए नहीं, अपने लिए बजाया जाता है । उस चित्त को जगाने के लिए बजाया जाता है, जो सारे जहान की तन्द्रा में तल्लीन है । स्वयं को जगाने के लिए घण्टारव है । खुद जगे तो खुदा जगा । खुदा उसके लिए हर-हमेश सोया रहेगा, जो खुद सोया है ।

जागरण भगवान् की भगवत्ता को आत्मसात् करने का पहला चरण भी है और आखिरी भी । दूसरे के मन की बातों को जानने के लिए स्वयं की भाव-उर्मियों को दूसरों के हृदय में प्रतिबिम्बित करने ले लिए आत्म-जागरण सर्वोपरि है । इसकी सानी का कोई विकल्प नहीं है । जागरण-समाधि ही ध्यान-समाधि का प्रवेश-द्वार है ।

अगर जागरण जीवन्त है, तो संसार की हर घटना खुद को खुद के पास ले जाएगी । खुद में चलने के लिए प्रेरित करेगी । खुद में खुद के चलने का नाम ही ब्रह्मचर्य है । यदि हम जागरण का दीप जीवन की देहलीज पर रख दें, तो उजाला बाहर भी होगा और भीतर भी । फिर संसार हमारे लिए बन्धन नहीं, मुक्ति में मददगार होगा । जन्म-मरण की लहरों से भरे संसार के समन्दर में आत्म-जाग्रत पुरुष होगा दीप-शिखा, गति, प्राण-प्रतिष्ठा ।

हम सीखें अशब्द को सुनना । अशब्द में जीना ही ध्यान है । भीड़-भरी दुनिया में अकेले होने का मजा चखें । अपनी आँखों को अर्थ-भरी करें । परम त्याग और परम ध्यान के पथ पर चलने के लिए मित्र भाइयों को खुल्ला न्यौता है ।

मैं चाहता हूँ कि कोई भी व्यक्ति मानवीय दृष्टि से विकलांग न हो । जीवन का कोई भी क्षण दर्द और दुःख से व्यथित न पाए । व्यक्तित्व के किसी भी अंग का पक्षाघात न हो ।

जीवन महान् उपलब्धि है । उसे सुख और शांति की अनुभूति के

साथ जीना है । जीवन का कोई भी क्षण अर्थहीन न बने । जीवन को परम श्रेय के साथ मंजिल तक ले जाना ही आध्यात्मिक जीवन को आचरण में प्रकट करना है । यही जीवन का विधायक इन्कलाब है ।

स्वयं की बुद्धि को जगाएँ । खुद की बुद्धि सुस्त रखेंगे तो मेरा कोई प्रयोजन नहीं होगा । शास्त्र हमारे लिए जीवन के अनुशास्ता नहीं बन पायेंगे । आँखें ही नहीं, तो आईना किस काम का ? मेरे दिल में उसके प्रति स्वागत-भाव रहता है, जिसके हृदय में जागरण-का-स्वागत है । भगवान् हमारे द्वार पर है, स्वागत गीत गाएँ, आरती उतारें ।

मानस में जागरण इतना प्राणवन्त हो जाये कि भेद-विज्ञान उससे जुदा न रह पाये, परा स्वयं आये अनक्षर बन, मन-की-शून्यता में, समाधि हमसफर बन जाये, साँसों की हर ऊर्ध्वता और नम्रता में । फिर खुद-ब-खुद हो जाएगा मन के अनन्त संसार का अन्त; हमारी ही बौनी अंगुलियाँ खीचेंगी उस अनन्त की सीमा-रेखा ।



खोलें, अन्तर के पट

मनुष्य ऊर्जा का संवाहक है। ऊर्जा का त्रिकोणात्मक सम्मेलन हुआ है उसमें। पहली ऊर्जा है— देह-ऊर्जा, दूसरी है प्राण-ऊर्जा और तीसरी है आत्म-ऊर्जा। पहली ऊर्जा स्थूल है, दूसरी पहली की अपेक्षा सूक्ष्म है और तीसरी दूसरी से सूक्ष्मतर है।

आत्म-ऊर्जा की अस्मिता सर्वाधिक सूक्ष्म है। वह पहली और दूसरी ऊर्जा से भी अधिक सशक्त है। सच्चाई तो यह बयान करती है कि आत्म-ऊर्जा के कारण ही देह-ऊर्जा और प्राण-ऊर्जा का अस्तित्व होता है। आत्म-ऊर्जा-संवाही अंश न केवल मनुष्य-शरीर में, बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त है।

देह-ऊर्जा का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को है। शरीर के हर भाग-विभाग को छूकर/देखकर जाना-पहचाना जा सकता है। मनुष्य देह-ऊर्जा का उपयोग भी कसकर करता है। प्राण-ऊर्जा सहजतया गतिशील है। जरा श्वास-स्पर्श का अनुभव करो। श्वास ही तो प्राण है। कोई भी मिनट ऐसा नहीं होता कि श्वास रुकी-थमी हो। यह ऊर्जा की हवाई भूमिका है। जीवन श्वास ऊर्जा का नाम नहीं है। जीवन तो श्वास-ऊर्जा के भी पार है। श्वाँस तो जीवन की मात्र अभिव्यक्ति है।

योगी जीवन जीते हैं। वे श्वास को रोक भी सकते हैं। प्राणायाम की प्रक्रिया में 'कुम्भक' श्वास को रोकना है और आश्चर्य यह है कि श्वास रुकने के बाद भी मनुष्य जीवित रहता है। यदि अभ्यास करें, तो यह प्रयोग हर कोई कर सकता है। कई योगी, संन्यासी, फकीर जमीन में समाधि ले लेते हैं और काफी समय तक वे उसमें रह लेते हैं। वे वास्तव में जान लेते हैं कि जीवन का रहस्य क्या है।

जीवन का असली रहस्य आत्म-ऊर्जा है। आत्म-ऊर्जा के बारे में आम आदमी बेखबर है। हाँ, वह इतना जरूर जानता है कि शरीर में कोई-न-कोई ऐसी ऊर्जा/शक्ति (आत्म-ऊर्जा) अवश्य है, जिसके कारण शरीर है और जिसके निकल जाने के बाद शरीर माटी का मेल बना रह जाता है। श्वास का रुकना जीवन का वियोग नहीं है, किन्तु आत्म-वियोग होने पर श्वास-निरोध अवश्यम्भावी है।

माँ के गर्भ में हम मात्र अणु थे, उससे पूर्व थे अदृश्य आत्मा। आत्मा अणु में वैसे ही प्रविष्ट हुई जैसे कमरे में हवा। धीरे-धीरे शरीर बना, इन्द्रियाँ बनीं, जन्म हुआ; बड़े हुए। 'प्रतिक्रमण' जीवन के अतीत को झांकना है। यदि पीछे लौटें तो पाएंगे कि अति सूक्ष्म में हमारी गंगोत्री है, जहाँ से प्रसारित हुई है जीवन-की-गंगा। गंगा गंगोत्री के कारण है। यदि मूल स्रोत रुक जाए, तो पंछी उड़ जाएगा, पिंजरा यहीं पड़ा रह जाएगा।

मनुष्य अपने आप में एक सृष्टि है और सृष्टि सदा अपनी सृष्टि में तल्लीन रहता है। परतन्त्र वह इसलिए है, क्योंकि उसके पास आत्म-स्वतंत्रता का कोई नारा नहीं है, जिसके तहत वह जीवन के धर्म-मण्डप में जिन्दाबाद-मुर्दाबाद कर सके। चैतन्य-जगत् के लिए अभीप्सा जिन्दाबाद है, शेष तो मुर्दाबाद के कन्धे पर जिन्दाबाद की राजनीति है।

मनुष्य के पास ऐसी कोई प्यास दिखाई नहीं देती, जिसके लिए वह जीवन को दाँव पर लगा सके। उसका सारा जोर शरीर के लिए है। आँख न होने पर वह भगवान् की प्रार्थना करेगा, किन्तु आँख मिलने के बाद वह वेश्या का द्वार खटखटाएगा। मनुष्य की निगाहें निगाहों पर नहीं, देह पर केन्द्रित हैं। वह इन्सान शैतान है, जिसकी नजर माँ के दूध पर नहीं, नारी के जन्म-स्थान पर टिकी रहती है। जिस देह को मनुष्य सजा-बचाकर रखना चाहता है, वह तो रोज-ब-रोज जर्जर हुई जा रही है। देह मृत्यु-का-घर है। मृत्यु के क्षणों में आनन्दघन के वे गीत— 'अब चलो संग हमारे काया'— मनुष्य के लिए अनसुने/अनबूझे रहे हैं।

महावीर की ध्यान-पद्धति का एक चरण है— कायोत्सर्ग। यह वास्तव

में देह-राग से ऊपर उठने के लिए है । काश, मनुष्य आत्म-समीकरण के लिए जीवन का कोई संपादन करता ।

आत्म-ऊर्जा से अभिप्राय है हमारे जीवन की मौलिकता, अस्तित्व की वास्तविकता । अदृश्य या सूक्ष्म कहकर उसे नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता । सम्भव है, किसी की नजरों में परमाणु का कोई मूल्य न हो, परन्तु एक परमाणु में हिरोशिमा की भाग्य-रेखा खींची हो सकती है । सागर को एक बूँद में चखा जा सकता है । परमात्मा विराट है, तुम बूँद हो । जो बूँद को चख लेता है, सागर उससे छिपा नहीं रह पाता ।

हम सघन ऊर्जा के धारक हैं । आत्म-ऊर्जा की सशक्तता को चुनौती नहीं दी जा सकती । उससे प्यार किया जा सकता है, उसमें निमग्न होकर स्वयं को विराट किया जा सकता है । दूसरों से प्यार खूब हुआ, चुम्मा-चुम्मा, तम्मा-तम्मा भी खूब गाया-किया, पर हर बार प्यार प्रवंचना बना । वह व्यक्ति 'महा-मानव' है, जो स्वयं से प्यार करता है । स्वयं से प्यार करने वाला कभी किसी के प्रति वैमनस्य नहीं रख सकता, परन्तु दूसरों से ही प्रेम का सम्बन्ध जोड़ने वाला कदम-दर-कदम विषाणुओं से घिरा है । महत्त्व जीवन-प्रेम का है ।

कृपया स्वयं से भी जुड़ें और आत्म-घनत्व को मूल्य दें । मनुष्य बीज रूप है । बीज यदि बीज ही बना रहे, तो उसके अस्तित्व का आत्म-विस्तार कहाँ हो पाएगा ! बीज में भूमा सम्भावनाएँ हैं; खेद है वह अपनी इस ओजस्विता से अपिरिचित है । जिस दिन उसे अहसास होगा स्वयं की अन्तर्गर्भित सम्भावना का, वह परमात्मा की कृषि-धरा को समर्पित कर देगा खुद को, ताकि अपने आपको हरा-भरा कर सके, बाँहों को बुलन्द जोश/होश के साथ फैलाकर स्वयं की जीवन्तता को उद्घाटित कर सके ।

बीज में अनन्त का आलिङ्गन भरती सम्भावनाएँ जरूर हैं, पर वह अपनी सम्भावना को शायद देख नहीं पाता । मनुष्य भी बीज रूप है, परन्तु वह अपने भीतर झांक सकता है । अन्तर्-घर में सतत् झांकना स्वयं की अनखिली संभावनाओं का निरीक्षण है । अपने भीतर की ओर झांकना ही तो आत्म-भावना से साक्षात्कार की पहल है । जिज्ञासापूर्वक भीतर झांकना

ही ध्यान है, उसमें दिल भर डूब जाना ही योग है ।

मेरे पाँव हिमालय की तराई पर हैं, और दृष्टि पर्वताधिराज के अष्टपद से मंडित कैलाश पर । खिंचे-खिंचे आप मुझ तक आ गये हैं । कई परिचित हैं, कई अपरिचित । क्या आप तैयार हैं अन्तर-झंकरन के लिए ? आश्वस्त रहें, मैं सहयोग करूँगा, भीतर झाँकें । चूँकि आप भीतर झाँक सकते हैं, बीज स्वयं का अन्तःकरण झाँक नहीं पाता, इसीलिए जीवन-दर्शन की अधिक उज्ज्वल सम्भावनाएँ आपसे ही जुड़ी हैं । स्वयं के प्रति स्वयं की चेतना को और संवेदनशील बनाएँ । धन्यवाद है उस बीज को, जो आत्म-स्थिति से बेखबर होते हुए भी स्वयं के आँगन में आकाश उतार लेता है । वह मनुष्य नासमझ है, जो सक्षम होते हुए भी खुद की सक्षमता से कोई सरोकार नहीं रखता ।

तुम जीते हो दुनिया में, दुनिया के लिए । दुनिया के लिए कहना भी ठीक न होगा; जीते हो पाँच-पच्चीस लोगों के साथ रागात्मक सम्बन्धों में, सौ-दो-सौ गज जमीन के ममत्व-पोषण में । अपने लिए कहाँ जीते हो ! अपने लिए तो निरन्तर मृत्यु की ओर बढ़ रहे हो । जीवन मरने के लिए नहीं, जीने के लिए है— निजत्व के फूल को बेबाक खोलने के लिए है । हम लगे हैं दूसरों को जानने में । पर क्या अब तक किसी को जान पाये ? पुत्र पिता तक को नहीं जान पाया । कौन आदमी भीतर से कैसा है, कोई नहीं कह सकता । दूसरों को जाना नहीं जा सकता, मगर खुद को जाना जा सकता है । चूँकि स्वयं को जानना सम्भव है, इसीलिए तो निवेदन कर रहा हूँ । काश, जी सकते आत्म-अस्तित्व के लिए, सारा संसार अस्तित्व की उज्ज्वलताओं से भरा होता । फिर स्वतन्त्रता के गीत किसी राष्ट्र के नहीं, वरन् खुद के गाये जाते, प्राणि मात्र के गाये जाते । जरूरत है बोध के रूपान्तरण की ।

मनुष्य के पाँव हैं कारागृह में । स्थिति इतनी विचित्र है कि हमने कारागृह को बन्धन नहीं, बल्कि घर मान लिया है । गुरु का दायित्व है पिंजरा खोलना । मगर मुसीबत तो यह है कि यदि कोई पिंजरे को खोले भी, तो भी पंछी उड़ने के लिए तैयार नहीं है । वह सोचता है 'कारा' ही सही, पर है तो जाना-पहचाना, चिर-परिचित । आकाश की विराटता

अज्ञात है। आकाश के लिए मधुरिम संगान सुने काफी हैं, पर क्या पता, वह पिंजरे से खतरनाक हो। पाँवों में जंजीर भले हो, निकासी का द्वार बन्द हो, पर रहने-खाने का तो प्रबन्ध है ही, असुरक्षित तो नहीं है। कौन उड़े अज्ञात में, अज्ञेय में? लाखों में वही, जो विराट होने का इच्छुक है, स्वयं के पंखों की क्षमता से विराटता को आत्मसात् करना चाहता है।

कहते हैं, एक राहगीर किसी मुसाफिरखाना में रुका। वह रात को बिस्तर पर सोया ही था कि कमरे में टंगे पिंजरे से तोते की आवाज ने उसका ध्यान आकर्षित किया। तोता एक ही शब्द बार-बार दुहरा रहा था— 'स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता'। शायद मालिक ने उसे यह सिखाया था। स्वतन्त्रता शब्द सुनते ही राहगीर को अपना अतीत याद हो आया। वह भी तो अपने देश के लिए कटघरे में, कारागृह में एक ही आवाज लगाया करता था— 'स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता'। मेरा राष्ट्र आजाद हुआ। तोता भी आजादी के लिए तिलमिला रहा है। पता नहीं, किस मुए ने इसे कैद कर रखा है। उसे तोते पर तरस आयी। उसने पिंजरे का द्वार खोल दिया। पर यह देखकर उसे आश्चर्य हुआ कि तोता पिंजरे से बाहर निकलने की बजाय और भीतर सिकुड़कर बैठ गया और स्वतन्त्रता का आलाप गाये जा रहा है। राहगीर ने सोचा, शायद तोता उससे भयभीत है। उसने पिंजरे में हाथ डाला और बड़ी कठिनाई से तोते को बाहर निकालकर आसमान में उड़ा दिया। वह प्रसन्न था, उस बात से कि आज उसने किसी को स्वतन्त्रता दी। वह आराम से सोया, उसकी नींद तब खुली, जब उसने सवेरे तोते की आवाज सुनी— स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता.....। उसने पाया तोता पिंजरे में बैठा आराम से भीगे चने और मिर्ची खा रहा है और बीच-बीच में उषा-गीत गा रहा है— स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता.....।

हँस रहे हो। अरे, सबकी यही स्थिति है, अरदास स्वतन्त्रता की करते हो और कार्य परतन्त्रता के। अशान्ति से उकता भी गये हो और उसे छोड़ना भी नहीं चाहते। परमात्मा को पाना चाहते हो, पर उसके लिए न्यौछावर होने को तैयार नहीं हो।

लोग मेरे पास आते हैं, कहते हैं परमात्मा को कैसे प्राप्त करें; मन

से बड़े परेशान हैं । मैं कहता हूँ परमात्मा की बात बाद में करना, पहले स्वयं को शान्त करो । ध्यान की सारी विधियाँ परमात्मा को पाने के लिए नहीं हैं, वरन् मन को शान्त करने के लिए हैं । शान्त मन ही परमात्मा का प्रवेश-द्वार है । पर हम हैं ऐसे, कुछ शान्ति मिली कि लौट चले । फिर अशान्त हुए, फिर मेरे पास आए ।

अशान्ति तब तक रहेगी, जब तक हम कुछ देखना चाहते हैं, सोचते हैं । नींद लेते समय जैसे हम शरीर को शान्त करते हैं, वैसे ही मन को भी सुला दें । मन का सोना ही हमारे लिए शान्ति का आधारभूत अनुष्ठान है ।

निश्चय ही, आज नहीं, तो कल, हर व्यक्ति अस्तित्व-बोध के लिए समर्पित होगा । अभी कहाँ जी रहे हो, जरा मन से पूछो । मन मस्ती का प्यासा है । उसकी सारी सक्रियता किसी-न-किसी मस्ती के आलम को टोहती है । स्वर्ग की तलाश में हाथ क्या आते हैं ? कांटे । उस स्वर्ग को कांटा न कहूँ, तो और क्या कहूँ जिसे पाने के बाद भी कुछ और, कहीं और पाना चाहते हो । स्वर्ग की सैर करके भी गर सन्तुष्ट न हो पाये तो वह स्वर्ग भी नरक की ही पीठ है ।

मन की एक सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए बेहतरीन प्रेरक प्रवचन देता है, किन्तु प्राप्त होने पर वह जल्दी उससे ऊब जाता है । इसलिए मन की मस्ती मनुष्य के लिए घुटन है, गलाघोट संघर्ष है । पता नहीं, मन कहाँ-कहाँ की फेरी लगाता फिरता है । मनुष्य की निगाहें तो दो हैं, पर मन के पास हजार आँखों का विश्व-कीर्तिमान है । सहस्राक्षी है मन । वह पर्यटन प्रेमी है । भटकता रहता है वह । दिन में ही नहीं, रात में भी । दिन में वैचारिक विकल्पों के रूप में और रात को स्वप्न के रूप में । 'स्वप्नो विकल्पाः' (शिव-दर्शन) विकल्प ही स्वप्न है । स्वप्न और विकल्प में कोई बुनियादी भेद नहीं है । दिन में उठने वाले विकल्प दबे हुए स्वप्न हैं और रात को आने वाले स्वप्न विकल्पों का हवाई परिदर्शन है, अ-दूरदर्शन है । स्वप्न-मुक्त होना, निर्विकल्प हो जाना, मन की यात्रा का विराम पाना ही आत्म-बोध का सिंह-द्वार है ।

विकल्प हमारे भीतर की वृत्ति है । जब तक वृत्तियों के पार न चलोगे, तब तक जीवन की वास्तविकता वृत्तियाँ ही लगेंगी । 'वृत्ति-सारूप्यम्' (योग-दर्शन) वह वृत्ति के अनुरूप ही अपना स्वरूप समझेगा । यह आत्म-प्रवचना है । जब तक ऐसा है, वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न हो पाएगा । ज्ञान-बोध के बिना मनुष्य अस्तित्वगामी नहीं, वरन् मन-का-अनुगामी होगा ।

मनुष्य के पाँव चलते हैं एक दिशा में, मगर 'मनुआं तो दहुं दिसि फिरै' मन तो दसों दिशाओं में घूमता है । वह चक्रवर्ती है । उसकी पहुँच चारों ओर है । बड़ी-बड़ी हस्तियों को नतमस्तक रहना पड़ता है उसके राज-दरबार में । परन्तु एक ऐसा दरबार है, जहाँ उसका दबदबा नहीं है, एक ऐसी दिशा है— ग्यारहवीं दिशा— जहाँ वह नहीं पहुँचता वह दरबार व्यक्ति के अन्तस्तल में है । ग्यारहवीं दिशा स्वयं व्यक्ति के भीतर है । आठ दिशाएँ चारों तरफ हैं— पूर्व से ईशान तक, एक ऊपर है और एक नीचे, किन्तु ग्यारहवीं दिशा तो तुम स्वयं हो । वहाँ मन की कोई गति नहीं है । वहाँ का प्रवेश-द्वार है— अमन, मनोमुक्ति ।

एक व्यक्ति चश्मुद्दीन था । उसकी आँख पर चश्मा लगा था; एक चश्मा हाथ में था । फिर भी वह एक चश्मा और खरीद रहा था । मैंने कारण पूछा, कहने लगा, एक चश्मा दूर के लिए है, एक नजदीक के लिए । मैंने पूछा, और ये तीसरा ? बोला तीसरे की जरूरत इन दोनों को तलाशने के लिए । मैंने कहा, तब एक चश्मा और खरीद लो । कहने लगा— वह किसलिए ? मैंने कहा, खुद को देखने के लिए, वह उपनेत्र भी चाहिये, जो दिखा सके तुम्हें मन के पार, निजता को ।

हमें देखना-दूँढ़ना चाहिए वह लोक, जहाँ मन की गति नहीं है । जहाँ सिर्फ अन्तरदृष्टि एवं अन्तरतल्लीनता की गति है । पहचानें मन के व्यक्तित्व को और उजागर करें द्रष्टा-स्वरूप को, ज्ञाता-स्वरूप को, साक्षी-स्वरूप को । एक बात का ध्यान रखें कि मन स्वयं कोई ऊर्जा नहीं है । वह तो मशीन है । जब मनुष्य उसे ऊर्जा देता है, तो वह गतिशील होता है । यदि गाड़ी को धक्का लगाना बन्द कर दो, तो वह आपोआप ठप्प हो जाए । गाड़ी को रोकना भी चाहते हो और धक्का भी लगातार

अविराम मारे जा रहे हो, तो गाड़ी भला रुकेगी कैसे ? घड़ी में जब तक चाबी भरते रहोगे, वह टिक-टिक करती रहेगी । यदि टिक-टिक तुम्हारा जीना, सोना हराम कर रही है, तो चाबी भरनी बन्द करो । उसे ढीली छोड़ो । द्रष्टा-भाव का सूर्योदय होने दो अस्तित्व के आंगन में ।

यह घटना जीवन के द्वार पर आत्म-जागरण की पहल है । होने वाला होता रहेगा, तुम अलिप्त रहोगे । द्रष्टा को कैसा लेप ! जहाँ मन शान्त होगा, वहीं हृदय में प्रवेश होगा, हृदयेश के साथ 'हथलेवा' होगा ।

आमतौर पर हर आदमी की यह शिकायत रहती है 'मन बड़ा दौड़ता है' । मन तो दौड़ेगा ही, जब तक दौड़ का साथ निभाओगे । दो पाँवों में से किसी एक पाँव को तो रोको, दूसरा स्वयमेव रुक जाएगा । गाड़ी का कोई-सा एक चक्का खोल दो, गाड़ी खुद-ब-खुद रुक जाएगी, दूसरे चक्के को बिना खोले ही ।

सुमिरन सुरत लगाइकै, मुख ते कछु न बोल ।
बाहर के पट देइकै, अन्तर के पट खोल । ।

लोग बैठते हैं पूजा के वक्त लाउड-स्पीकर लगाकर । शायद यही सोचकर कि भगवान् तक उनकी प्रार्थना की आवाज पहुँचे । भगवान् यदि आकाश में, स्वर्ग में या स्वर्ग से ऊपर रहते हैं, तब भी आवाज नहीं जा सकती, चाहे लाउड-स्पीकर लगा लो और यदि परमात्मा कण-कण में, स्वयं के पास है, तो वह गूंगे की भी प्रार्थना सुन लेगा ।

हरिद्वार में एक आश्रम में मैं ठहरा था । सवेरे पाँच बजे वहाँ के पुजारी ने मन्दिर में बैठकर लाउड-स्पीकर में भगवान् की प्रार्थना के स्तोत्र बोलने शुरू किये । वैसे भी सन्त की आवाज जोर की थी और उसमें भी लाउड-स्पीकर तेज । मैंने कहा, मन्दिर में और कोई नहीं, आप मन में ही स्तोत्र-स्मरण कर लें; कहने लगे, स्तोत्र तो जोर से ही बोलने चाहिए, ताकि। मैंने कहा, ताकि भगवान् सुन सकें । कहने लगे नहीं, लोग सुन सकें ।

पुजारी भगवान् के लिए नहीं, लोगों के लिए स्तोत्र-पाठ कर रहा

है । लोग जान लें कि पुजारी ने स्तोत्र-पाठ कर लिया है, ताकि पुजारी की दान-दक्षिणा में सुविधा रहे ।

प्रार्थना जोर से भगवान् को पुकारना नहीं है । प्रार्थना तो परमात्म-स्मृति है, अहोभाव है । हम मन्दिर इसलिए जाते हैं, क्योंकि वहाँ जाने से शांति मिलती है । पर जहाँ कोलाहल-ही-कोलाहल हो रहा हो, वहाँ शांति कहाँ ! मन्दिर जाओ, मौनपूर्वक, परमात्मा-की-स्मृति-से-भरे । काव्य-पाठ बहुत हो गये, अब खुद काव्य बनो । अब तो मौन साधो, मन-का-मौन, वृत्तियों-का-मौन । एक ऐसी गहन चुप्पी अन्तर्मन में उतरने दो, ताकि सुन सको अन्तरात्मा का वंशी-रव, पहचान सको परमात्मा का मधुरिम स्वर । आत्मा और परमात्मा के बोल इतने धीमे हैं कि उन्हें सुनने और पहचानने के लिए आदमी को गहन चुप होना होगा । इतना शान्त होना होगा, जितना ये हिमालय है, देवदार के वृक्ष हैं । परम मौन परम स्वरूप के परिचय की पूर्व भूमिका है ।



जलती रहे मशाल

विश्व सागर की तरह विराट् है । इसमें भिन्न-भिन्न रूप वाले व्यक्ति हैं । एक रूप के दो व्यक्ति नहीं होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है । यद्यपि करोड़ों लोगों की आँख नाक, मुँह, कान, हाथ, पैर आदि सब समान हैं । पर समान होते हुए भी हमशक्ल कोई भी नहीं है । कुछ-न-कुछ बदलाव जरूर मिल जाएगा । कभी-कभी जुड़वे लोगों में थोड़ी एकरूपता नजर आती है, फिर भी गौर से देखने पर दोनों में भेद स्पष्ट हो जाता है । 'गिनेज बुक ऑफ रिकार्डस्' में जुड़वे बच्चों का जो विश्व-रिकार्ड आँका गया है, वह है एक साथ एक माँ के पेट से छह बच्चों का जनमना । गहराई से देखते हैं तो छह-के-छह बच्चों में भेद की रेखाएँ शीशे की तरह साफ-साफ झलकती दिखाई देती हैं । जब रूप की यह बात, तो वाणी और कर्म में तो और ज्यादा भिन्नता होगी । इतनी भिन्नता होगी, मानो बीच में लक्ष्मण-रेखाएँ खींची हों । मुर्गे की कुकडु-कू को सुनकर आप यह पहचान नहीं सकते कि यह किस मुर्गे की आवाज है । किसी डाल पर दो कोयलें बैठी हों, और उनमें एक कूक उठे, तो क्या आप पहचान लेंगे कि यह किस कोयल की आवाज है ? लेकिन व्यक्ति इसका अपवाद है । प्रकृति ने यह विकल्प बनाया है । जब रिकार्ड बजता है, तो आप कह उठते हैं यह तो लता की आवाज है कि मुकेश या किशोर के बोल हैं । आवाज तो आवाज है । पैर की ध्वनि सुनते ही आप समझ जाते हैं कि यह अमुक आदमी है । दरवाजे की खटखटाहट सुनकर भी आप पहचान जाते हैं कि कौन खटखटा रहा है ।

मनुष्य के रूप और गुण-धर्म में बुनियादी फर्क है । फलस्वरूप व्यक्ति का व्यक्तित्व भी विशेषता लिये होता है । प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है । मनुष्य का व्यक्तित्व स्थायी नहीं होता । प्रयास से उसमें विकास

और हास के ज्वारभाटे उभरते रहते हैं । व्यक्ति प्रतिक्षण बिगड़ता और बनता है । हर क्षण वह मरता है और जीता है । व्यक्ति के विनाश होने के बाद भी व्यक्तित्व का विनाश नहीं होता । व्यक्ति तो पानी का बुलबुला है, पर व्यक्तित्व सागर की लहरों की तरह अनन्तता-अथाहता को अपने आँचल में समेटे रहता है ।

व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए बहुत कुछ आहुति देनी पड़ती है । व्यक्तित्व-निर्माण का कार्य मनुष्य के लिए अतिशय टेढ़ी खीर है । प्रकृति ने तो मनुष्य को छोड़कर दूसरे प्राणियों को जैसा-जिसको चाहा, वैसा व्यक्तित्व दे दिया । शेर को हिंसक बना दिया, गाय को शाकाहारी बना दिया । मगर मनुष्य को कुछ नहीं बनाया । उसने उसी पर छोड़ दिया कि जैसा तुम्हें बनना पसन्द हो, स्वयं को वैसा ही बना लो ।

एक चूहे के बच्चे को नदी की धारा में डाल दीजिए या कुत्ते को तालाब में फेंक दीजिए, तो वह अपने आप तैरकर बाहर निकल आयेगा । उसे किसी ने तैरना नहीं सिखाया । पर मनुष्य के बच्चे की बात तो छोड़ दीजिए, नौजवान को भी यदि तैरना न सिखाया जाये, तो वह नदी की धार में गिरने से डूबेगा ही, उबरेगा नहीं । जो लोग तैराक नहीं हैं, उन्हें पानी देखते ही डर लगेगा । कोई पानी में धक्का भी दे दे तो उसे नानी याद आ जाती है ।

मुझे याद है कि एक नौजवान पलंग पर लेटे-लेटे हाथ-पैर मार रहा था । जब किसी ने पूछा कि भैया ! यह क्या कर रहे हो ? तो उसने बताया यार ! तैराकी सीख रहा हूँ । पूछनेवाले ने फिर पूछा कि यही बात है तो नदी किनारे क्यों नहीं चले जाते ? घर में बिस्तर पर हाथ-पैर चलाकर तैराकी सीखोगे ? क्या आप जानते हैं कि उसने क्या उत्तर दिया । उसने कहा कि नहीं, मैं नदी किनारे जाने से डरता हूँ । कहीं डूब गया तो !

सच पूछिये तो उसका यह उत्तर मनुष्य की प्रकृति को ही उजागर करता है । प्रकृति ने मनुष्य को बुद्धि देकर उसके सारे गुण-धर्म छीन लिये हैं । उसे अपनी बुद्धि से ही अच्छाई और बुराई की कसावट करनी होगी । प्रकृति बस संकेत मात्र देती है, इशारे करती है ।

हर चीज की तीन अवस्थाएँ होती हैं— प्रकृति, विकृति और संस्कृति । आप एक चावल को लीजिये । बाजार में वह जिस रूप में मिलता है, उसकी वह अवस्था उसकी प्रकृति है । यह अवस्था उसे प्रकृति से मिलती है । आप उसे अपने उपयोग के लिए अपने घर लाते हैं । अपने उपयोग के लिए उसे हंडी में पकाते हैं । जब वह पक जाता है उसमें अच्छे संस्कार आ जाते हैं, तो चावल की यह अवस्था उसकी संस्कृति है । इस संस्कृति को लाने के लिए मनुष्य को श्रम करना पड़ता है । थोड़ा-सा भी ध्यान डिग जाये, तो चावल जल सकता है या अधिक गलकर अपना अस्तित्व ही मिटा देता है । इस तरह उसमें अनेक विकृतियाँ आ सकती हैं । वस्तु में विकृतियों के आने के अनेक प्रवेश-द्वार हैं । वह कीड़ों का शिकार हो सकता है, सड़ सकता है, गल सकता है, जल सकता है, और मिट्टी भी बन सकता है । मिट्टी के ढेले बड़े हत्यारे हैं । वे सबको निगलने के लिए सदा मुँह खोले रहते हैं ।

मनुष्य भी इन तीनों दायरों से बाहर नहीं है । कभी प्रकृति, तो कभी विकृति, तो कभी संस्कृति के उतरते-चढ़ते सोपानों पर अपने चरण रखता है । मनुष्य स्वभाव से ही विकृति-प्रेमी होता है । उसे गन्दी बातों और बुरे कर्मों में बड़ा मजा आता है । अच्छे शब्द और अच्छे कर्म उसे सीखने पड़ते हैं । सीखते समय उसका मन ऊबता है, उचटता है, भागता है । बड़ी देख-रेख और बड़े श्रम के बाद अच्छाइयाँ उसके व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित होती हैं । सभी चाहते हैं कि समाज में हम अच्छे कहलायें, सब हमारा सम्मान करें, सभी हमें सत्यवादी हरिश्चन्द्र मानें । किन्तु ऐसा होता नहीं है । अच्छा बनना या अच्छा कहलाना बात-की-बात में नहीं होता । समाज इतना बुद्ध नहीं है । समाज तो जिसको जिस रूप में देखता है, उसका उसी रूप में मूल्यांकन करता है । अच्छे बनने के लिए हमें अपने विषपायी व्यक्तित्व को तलाक देना होगा और अमृतवाही व्यक्तित्व को अपना जीवन-साथी बनाना होगा । थामनी होगी हमें अपने व्यक्तित्व की ज्योतिर्मय मशाल को, जिसकी आभा में ही हम अपने मधुर और दिव्य स्वरूप को पा सकते हैं ।

व्यक्ति एक मशाल है । उस मशाल की आग ही व्यक्तित्व है ।

यदि आग बुझ गई तो मशाल एक लकड़ी का डंडा मात्र रह जाएगी । मशाल की उपयोगिता उसकी आग और रोशनी के कारण ही है । व्यक्ति की ज्योतिर्मयता भी उसके व्यक्तित्व पर ही टिकी है । बिना व्यक्तित्व का व्यक्ति निष्प्राण है, निस्तेज है, चलता-फिरता शव है ।

व्यक्तित्व वैयक्तिक जीवन का एक आदर्श है । वह डींग हाँकना नहीं है, सौन्दर्य का प्रदर्शन नहीं है; वह तो यथार्थ की जीवन में झंक्रुति है । महान् व्यक्ति वे माने जाते हैं जो महान् व्यक्तित्व के स्वामी होते हैं । व्यक्ति के कृतित्व की समीक्षा भी उसके व्यक्तित्व के आईने से ही होती है । संसार किसी व्यक्ति को आदर भी देता है, तो उसके व्यक्तित्व के कारण ही है । उसके लिए व्यक्ति नहीं, व्यक्ति का व्यक्तित्व मुख्य होता है । व्यक्ति तो राम और रावण दोनों ही थे । महावीर और गौशालक भी व्यक्ति थे । गांधी और हिटलर भी व्यक्ति ही थे । पर उनके व्यक्तित्व ने उनकी सत्ता को अलग-अलग मुखौटा पहना दिया ।

व्यक्तित्व जीवन की आभा है । बड़ी-बड़ी महिमाएँ भरी हुई हैं इसमें। अन्तर-शक्तियों का उद्रेक है यह । यदि व्यक्तित्व ऊर्ध्वगामी बन जाए तो वह राम रूप है । यदि वह अधोगामी बन जाए तो रावण के कर्तृत्व आते हैं ।

संसार का इतिहास बहुत लम्बा-चौड़ा है । पता नहीं, आज तक कितने व्यक्तित्व उभरे हैं और कितने डूबे हैं । उभरने वाले व्यक्तित्व सदियों के बाद भी उभरे हुए ही हैं । उभरने वाले व्यक्तित्वों की संख्या कोई बहुत ज्यादा नहीं है । मानव-मन का यह एक स्वभाव है कि उसमें अच्छाई कम और बुराई ज्यादा होती है । इसलिए अच्छे लोग कम होते हैं और बुरे लोग ज्यादा । राम, कृष्ण, महावीर, गौतम और ईसा जैसे व्यक्तित्व कोई बहुत ज्यादा नहीं हुए हैं । रावण, कंस, शिशुपाल, ओरंगजेब, चंगेज खाँ, नादिरशाह और हिटलर जैसे लोगों की संख्या गिनने जाओ तो सीमा भी नहीं आएगी । क्या हम ऐसे व्यक्तित्व पर कभी गर्व कर सकते हैं, जिसने जिन्दगी-भर विनाश-लीलाएँ रचीं, संसार में प्रलय मचाया, शान्ति और सुखद जीवन को दर-दर का भिखारी बनाया ? मानव-जाति उन व्यक्तियों को कभी भी माफ नहीं करेगी । उन लोगों की मर्मन्तक तबाहियों का लेखा-जोखा एक दो नहीं, सैकड़ों ग्रन्थों में भी नहीं

समा सकता। उन अधोगामी व्यक्तियों का एक-एक कदम विनाश का स्वतन्त्र कोश है, एनसाइक्लोपीडिया है।

व्यक्ति तो हम सभी हैं। हमारा सबका अपना-अपना व्यक्तित्व है। हमें अपने व्यक्तित्व की ईमानदारी से कसावट करनी होगी। हमें गहराई से यह सोचना पड़ेगा कि वह विनाश के कगार पर है या विकास के सोपान पर। हमारा व्यक्तित्व हमारे लिए भारभूत बना है या उसकी कोई अर्थवत्ता भी है।

मुझे तो विश्व के व्यक्तित्व का ग्लोब काफी घिसा-पिटा लगता है। उसके रंग उड़ते हुए लगते हैं। ग्लोब तो है, पर आत्म-निर्भर नहीं है, दीया तो है, पर ज्योतिर्मय नहीं है। यात्रा तो है, पर सही दिशा में नहीं है। आज व्यक्तित्व हो गया है विपथगामी। विश्व में आये हो, तो इसे और रंगों से भरो। फूलों से लबालब कर दो यहां का उपवन।

हमें व्यक्तित्व-विकास के लिए ढूँढना है ऐसा मार्ग, जिससे हम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। जीवन इतना बोझिल बनता जा रहा है कि दबदबा और त्राहि-त्राहि महसूस होती है। व्यक्तित्व की आभा धुंधली होती जा रही है। जैसे राम और महावीर ने अपने व्यक्तित्व को सजाया, सँवारा, निखारा, वैसे ही हमारे भी कदम बढ़ाएँ। उन्होंने अपने व्यक्तित्व की मशाल से जैसे जनमानस को उजला किया, वैसे ही हम भी करें। जहर का पान करते-करते तो कई जन्म बीत गये, अब पीना है अमृत को, अमरत्व को, ज्योतिर्मयता को। हम समझें फार्मूले को। यदि हम अपने व्यक्तित्व के तरुवर का सिंचन नहीं करेंगे, तो वह ठूँठ बन जायेगा, अस्थि-कंकाल मात्र रह जायेगा। मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का विकास करना पड़ता है। उसका विकास अपने-आप नहीं होता, जैसा घास-फूस का होता है। प्रकृति और मनुष्य में यही बुनियादी भेद है। प्रकृति का विकास होता है और मनुष्य को अपना विकास करना पड़ता है। डार्विन के सिद्धान्त मनुष्य पर कभी लागू नहीं हो सकते। प्रकृति का जो विकास होता है, वह स्वभावतया हो जाता है। मनुष्य का जो विकास होता है, उसमें पुरुषार्थ के स्वर सुनाई देते हैं। इसलिए मनुष्य द्वारा जो होता है, वह विकास नहीं, वरन क्रान्ति है। हमें करनी है जीवन के रग-रग में क्रान्ति, महाक्रान्ति।

जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को भारमुक्त और स्वस्थ करना चाहता है, उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ करना होगा। करने के लिए जोश जरूरी है, मगर सोडावाटरी उफान भरा जोश काम नहीं देगा। समुद्र की लहरों की तरह निरन्तर जोश रहेगा, तभी व्यक्तित्व-विकास हो सकेगा।

हम सब व्यक्ति हैं। व्यक्तित्व हमारी चाँदनी है। हमें अपने व्यक्तित्व के विकास एवं स्वातन्त्र्य में किसी तरह का न तो शक रहना चाहिए और न किसी तरह का डर। निःसंशयशीलता और निर्भयता व्यक्तित्व-विकास की पहली सीढ़ी है। व्यक्तित्व-विकास के लिए व्यक्ति को निरन्तर कर्मयोगी बनना पड़ेगा। उसका काम कर्म करना है, उसके फल की आशा सँजोए रहना नहीं है। स्वार्थ एवं चाह की चाय-की-लत छोड़ने से ही व्यक्तित्व में लोक-कल्याणी स्रोत उभरेंगे। व्यक्तित्व के विकास के लिए हमें न तो अपनी डींगें हाँकनी चाहिये और न ही अपनी भलाई करने वाले के साथ बुराई करनी चाहिये। यदि स्वयं से कोई अपराध हो जाये, या खुद की कोई कमी हो तो उसे दूसरों के समक्ष रख दें, किन्तु औरों की बुराइयों का ढिंढोरा न पीटें। जो व्यक्ति औरों को एक अंगुली दिखाता है, तो उसकी स्वयं की ओर तीन अंगुलियाँ आएँगी। दूसरों के दोष-दर्शन से अपने व्यक्तित्व को लाभ नहीं है। पर यदि कोई व्यक्ति अपने उज्ज्वल व्यक्तित्व से पथ-च्युत होता हुआ लगे तो हमें उसे समझाना चाहिये, गिरते हुए को उठाना चाहिये। व्यक्ति को चाहिये कि वह किसी से घृणा न करे। मानवता के प्रति उसके मन में सम्मान रहना चाहिये। बीमारों की सेवा करने में और दुःखियों को सुख देने में उसे आनन्द महसूस करना चाहिये।

हमारा व्यक्तित्व हमारे जीवन की बहुमूल्य सम्पत्ति है। इसे हम ही उपार्जित कर सकते हैं। यह काम किसी प्रतिनिधि के हाथों नहीं हो सकता। हमारे मन में अपने व्यक्तित्व के प्रति आस्था होनी चाहिये। हमें अपने कृतित्व को किसी की गुलामी में नहीं रखना है। यदि कोई ऐसी बात भी कहे तो हमें उसके प्रति अपना स्वाभिमान जागरूक रखना चाहिये। कोई हमें कितना भी बड़ा लालच दे, पर जब हमारे लिए हमारा व्यक्तित्व ही सर्वोच्च मूल्यवान् होगा, तभी हमारा व्यक्तित्व संसार के लिए

आदर्श बन पाएगा ।

हमारे मन में सबके प्रति भाईचारे का, प्रेम का व्यवहार होना चाहिये । यदि हम सबसे वैसा रिश्ता जोड़ सकें जो गाय और बछड़े के बीच रहता है, तो हमारे व्यक्तित्व में कामधेनु अपना अमृत दूहेगी । केवल अपने ही व्यक्तित्व के प्रति नहीं, अपितु सारे समाज एवं विश्व के प्रति भी गौर रखना चाहिये । जिससे सूरजमुखी फूल की तरह हमारा व्यक्तित्व भी खिला-खिला, महका-महका रहे, इसी में हमारे व्यक्तित्व की विशेषता है ।

हमारा व्यक्तित्व ऐसा बन जाये कि अनायास प्रभावना हो । हमारे पहुँचते ही सारा वातावरण संगीतमय बन जाये । झूमने लग जाये पेड़ों की पत्तियाँ, बज उठें प्रेम की पायजेबें । हमें अपने व्यक्तित्व को इतना प्रभावक बना लेना चाहिये कि हमारे बिना समाज स्वयं को रीता समझे । हमें कूप-मण्डूकता से बाहर आना पड़ेगा । पारिवारिकता का कुआ ही सर्वस्व नहीं है । जैसे कुएँ तो दुनिया में कदम-कदम पर हैं । कदम रखें कुएँ के बाहर तो पता लगेगा कि और भी कहीं संगीत उमड़ता है, व्यक्तित्व को उजागर करने के और भी पगथिये हैं । भगवान् महावीर उन पगथियों को गुणस्थान-सोपान कहते हैं । पगथिये भी ऐसे हैं जो ब्रह्माण्ड के चारों कोनों में हैं । ये खुद को ऊपर चढ़ाएँगे, पर खुदी का खात्मा कर देंगे । उसमें स्वार्थ की दीवारें टूट जाएंगी, मोह की मीनारें ढह जाएंगी। यदि कुछ रहेगा तो वह है खुद का व्यक्तित्व, जिसमें जगती रहेगी निर्धूम ज्योति ।

सामान्यतया दुनिया में जड़ व्यक्तित्व अधिक होते हैं । वे इतने मूढ़ होते हैं, मूर्खता के गुलाम होते हैं, कि वे गोबर के गणेश बने रह जाते हैं । गोबर-गणेश यानी जड़ बुद्धि, महामूर्ख । ऐसे लोग अपने व्यक्तित्व के विकास के बारे में पहल नहीं करते ।

बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने के लिए, उसे एवरेस्ट तक चढ़ाने के लिए मेहनत कई बार करते हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिल पाती है । यह रास्ता तो सचमुच काई-भरा है, फिसलन-भरा है ।

व्यक्तित्व-विकास के यात्री प्रायः दुलमुल यकीन वाले होते हैं । वे व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए कदम तो मंजिल की ओर बढ़ाते हैं,

पर उन्हें मंजिल के प्रति शक रहता है । इसलिए वे वापस तीसरी सीढ़ी से नीचे लौट जाते हैं ।

जबकि अपने व्यक्तित्व को सही मायने में व्यक्तित्व का रूप तभी दिया जा सकता है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की उज्ज्वलता के प्रति लग्नशील होगा । व्यक्तित्व के विकास की भूमिका पर आरोहण करने के लिए यह चौथा दर्जा है । ऐसे लोग कुछ करते-धरते दिखाई नहीं देते । वे मात्र अपने अन्तर-व्यक्तित्व के पत्थर को ठोकते-पीटते रहते हैं । उसे ईश्वरीय मूर्ति बनाने की आशाओं को संजोए रहते हैं ।

पर मात्र लग्नशील होने से भी कुछ नहीं होगा । उसे कर्तव्यशील भी बनना पड़ेगा । व्यक्तित्व-विकास की पाँचवीं सीढ़ी पर पैर रखते ही व्यक्ति कर्मयोगी बन जाता है । कर्तव्यशील और कर्मयोगी हो जाने से उसे पूर्व की कक्षाएँ कीचड़ सनी लगती हैं । वह जान जाता है कि जब मैं पूर्व कक्षाओं में था तो खारा जल पीता था । अब मुझे मीठा जल मिल रहा है तो खारे जल का सेवन करना बेवकूफी नहीं तो और क्या है ? व्यक्तित्व की इस पाँचवी कक्षा में पढ़नेवाला स्वयं को तो संस्कृत बनाने में लगा ही रहता है । दूसरों को आगे बढ़ाने और सच्चाई को कायम करने में भी वह अपना शक्तियों को समायोजित कर लेता है । उसके कदम उड़ान भरने लगते हैं महकते बदरी-वन की ओर ।

आगे उसकी यात्रा तो होती है, पर यात्रा करते-करते परिश्रान्त भी तो हो जाता है । मंजिलें अपनी जगह होती हैं, रास्ते अपनी जगह रहते हैं, अगर कदम ही साथ न देंगे तो मुसाफिर बेचारा क्या क्या करेगा ? इसलिए विश्राम के लिए इस छट्ठे मील के पत्थर के पास एक विश्राम-गृह है, आरामगृह है । यहाँ रुककर आदमी थोड़ा दम भरता है । चैन की साँस लेता है, पर यहाँ रहकर आदमी पूरी तरह रुकता नहीं है । वह आगे की यात्रा के लिए सामग्री सँजोता-समेटता है । विश्राम-गृह तो मात्र रात बिताने का आरामगाह है ।

सातवीं कक्षा यानी सूर्योदय । प्रभातकालीन सात बजे के टंकारे । अब व्यक्ति स्वयं को पुनः तन्दुरुस्त समझता है । अप्रमत्त वेग से उसके

कदम आगे-से-आगे बढ़ते हैं। वह भारण्ड पक्षी की तरह जागस्क रहता है। अपने व्यक्तित्व को प्रगति के पथ पर आगे-से-आगे बढ़ाने के लिए उसके कार्य बेमिसाल हो जाते हैं। उसका कर्तृत्व कमाल का बन जाता है। इस दर्जे में पहुँचने वाले लोगों का दर्जा काफी ऊँचा होता है। वे फिर सही अर्थों में वी. आई. पी. हो जाते हैं। उन्हें खास शब्दों में 'वेरी इम्पोर्टेन्ट पर्सन' कह सकते हैं। इस दशा में व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली हो जाता है कि उसकी रग-रग से उज्ज्वलता की किरणें फूटने लगती हैं। जैसे सूर्य की किरणों से फूल खिल जाते हैं वैसे ही उसके सम्पर्क से दुनिया की मुरझायी कलियाँ किलकारियाँ मारने लगती हैं। उसके पास बैठने मात्र से ही व्यक्ति के मन-की-वीणा संगीत झंकृत करने के लिए मचलने लगती है। यह सोपान वास्तव में व्यक्तित्व के परिवेश में एक महान् क्रान्ति है।

अब तक हमने सात सोपानों के संगमरमरी सौंदर्य का रसास्वादन किया। अब हम चढ़ेंगे स्वर्णिम हिमाच्छादित बुद्धत्व की ओर, व्यक्तित्व के चरम लक्ष्य की ओर। अब तक की यात्रा से, व्यक्तित्व की आभा आठवें दर्जे से गुजरने से ही मुखरित होती है। व्यक्ति को यहाँ आन्तरिक शक्तियों का पता लगने लगता है। उसका चेहरा मुरझाया हुआ नहीं होता है। उसके चेहरे पर हमेशा राम-सी मुस्कान रहती है। कोई उन्हें तकलीफ भी दे दे, पेड़ पर औंधे मुँह भी लटका दे, तो भी उन पर असर नहीं होता। उनका व्यक्तित्व आत्मदर्शी बन जाता है।

आत्मदर्शी जब समदर्शी बन जाये, तो उसके व्यक्तित्व में चार-चाँद लग जाते हैं। नौवें मंच में अहम्-संघर्ष नहीं रहता। वे बाहुबली की तरह मन में रहने वाली अंहकार की बेड़ियों को पहचान लेते हैं। व्यक्ति समदर्शी का व्यक्तित्व तभी पा सकता है, जब आदमी अंहकार के मदमाते हाथी से नीचे उतरेगा। अहं के हाथी पर चढ़े-चढ़े क्या व्यक्तित्व में पूर्णता आ सकती है ?

बाहुबली ने संयम लिया, घोर तपस्या में लीन हो गये। पर घोर तपस्या करने मात्र से व्यक्तित्व पर आनेवाली धुंधलाहट समाप्त नहीं हो जाती। व्यक्तित्व पूर्णता के लिए तभी सफल बन पाता है, जब वह

व्यक्तित्व-विकास की इस नौवीं कक्षा में मनन करता है। समदर्शी बनकर व्यक्तित्व को निखारता है।

बाहुबली का व्यक्तित्व पूर्णता कैसे पाता, मन में अहम् और कुंठा की ग्रन्थियाँ जो अटकी थीं। बाहुबली की बहिनें ब्राह्मी और सुन्दरी उनके पास जाती हैं। वे बोलीं, भाई! हाथी से नीते उतरो, अपने पैरों पर खड़े होओ।

बाहुबली बहिनों की आवाज सुनकर चौंक गये। सोचा, अरे ! मैं और हाथी पर चढ़ा हुआ ? उनके व्यक्तित्व की नौका को गहरा धक्का लगा। उन्होंने स्वयं को अंहकार के मदमाते हाथी पर बैठा पाया। जैसे ही समदर्शिता उभरी, थोड़ी ही देर में उन्होंने स्वयं के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण पाया।

दसवें घर का जो लोग दरवाजा खटखटाते हैं, उसमें प्रवेश कर लेते हैं, संसार उस ओर उमड़ता है। इस गृह-स्वामी के दर्शनमात्र से लोगों को खुशी होती है।

ग्यारहवीं सीढ़ी बहुत खतरनाक है। ऐसा समझिये, इस सीढ़ी पर केले के छिलके पड़े हैं। पैर रखा कि फिसला। यह काम करती है— दमित क्रोध, मान, माया, लोभ की चाण्डाल-चौकड़ी। यह दबी हुई माया हमारे मुँह पर थपड़ लगाती है। इसलिए व्यक्तित्व-विकास की पगडंडी पर चलने वाले व्यक्ति को ग्यारहवीं सीढ़ी पर पैर नहीं रखना चाहिये। इसे फाँदकर आगे बढ़ना है, पर फाँद भी वही सकता है, जिसने चाण्डाल-चौकड़ी को कभी पास नहीं फटकने दिया।

बारहवें स्थान में उसी का आसन लग सकता है, जिसने स्वार्थ की रस्ती-रस्ती भस्मीभूत कर डाली। उसका व्यक्तित्व फिर खुद के लिए ही नहीं, अपितु दुनिया के लिए वरदायी बन जाता है। यहाँ व्यक्ति व्यक्ति ही नहीं रहता, वह महापुरुष बन जाता है। अन्तर्-व्यक्तित्व में छिपी ईश्वरीय शक्तियाँ जग जाती हैं। 'ता ते मानी खुदाय दर ख्वाबस्त, तो न मानी चु ओ शनद बेदार'— यदि व्यक्ति मैं-मैं करेगा, तब तक ईश्वर हममें सोया रहता है। जब मैं-मैं छूट जाएगी, तो भीतर का ईश्वर जाग जाएगा।

यानी व्यक्तित्व-विकास की, पूर्णता की देहरी पर कदम रख देगा । यह स्थान हमारे व्यक्तित्व की परिपक्व अवस्था है । यहाँ खतरा नहीं है, अन्तर-तृप्ति है । आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगता है । संसार पर करुणा की अमी-धारा उससे बरसने लगती है ।

व्यक्तित्व के तेरहवें मंच पर पहुँचने वाले भाग्यशाली हैं । यह व्यक्तित्व की सर्वोच्चता है, जीवन-मुक्तता है । प्रकाश के आवरणों का छिन्न-भिन्न होना है । इससे ऊँचा व्यक्तित्व मानव द्वारा सम्भव नहीं है । वे जो कुछ भी कहते हैं, उनके व्यक्तित्व की वह विश्व पर कृपा है । उसकी बातें सच्ची होती हैं, सीधी होती हैं, पर पैनापन अपूर्व होता है । जैसे ही, जब भी वह व्यक्ति कहीं से गुजरेगा, तो सारा समा ही बदल जायेगा । उनके व्यक्तित्व के गुलाबी फूलों से सारा वातावरण सुरभित हो जाता है ।

चौदहवीं सीढ़ी मंजिल को छुई हुई है । यात्री की यात्रा पूरी हो जाती है, उसे गंतव्य मिल जाता है । उसका व्यक्तित्व सिद्ध बन जाता है । विश्व उसकी चरण-धूलि को पाकर स्वयं को कृतार्थ समझता है । समर्पित हो जाते हैं उनके चरणों पर अनगिनत श्रद्धा-पुरुष ।

इस तरह जो व्यक्ति जनमों-जनमों से विषपायी होता है, वही अमृतपायी बन जाता है । कुदरत उसके व्यक्तित्व के लक्षकोणों के हर एक कोने में सूरज साकार कर देती है । ऐसे व्यक्तित्व ही बनते हैं अवतार, ईश्वर, तीर्थंकर, बुद्ध । काश ! हमारा व्यक्तित्व भी ज्योतिर्मान होकर इतना योग्य बन जाये ।



वृत्ति : बोध और निरोध

चित्त जीवन की सूक्ष्म संहिता है । यह शरीर की अन्तर-रचना है । इसका निर्माण परमाणुओं के जरिये हुआ है । इसलिए चित्त वास्तव में परमाणुओं की ढेरी है । जितने परमाणु, उतने ही चित्त के अभिव्यक्त रूप । परमाणुओं का क्या, सुई की नोक में अनगिनत परमाणु समा सकते हैं । इस हिसाब से चित्त के परमाणु अनन्त हैं । रेगिस्तान के रेती-टीलों की तरह यह सटा-बिखरा पड़ा है । रेगिस्तान का हर कण टीले की तलहटी पर भी स्वतन्त्र है और उसके शिखर पर भी । चित्त के सारे परमाणु एक-जैसे ही हों, यह कोई अनिवार्य नहीं है । चित्त के हजार जाल हैं । समान और समानान्तर— दोनों सम्भावनाओं को यह अपने गर्भ-गृह में समेटे रख सकता है । देख नहीं रहे हो, जीवन कितने विरोधाभासों से भरा है । और उन सारे विरोधाभासों का सम्मेलन स्वयं हमारा चित्त है ।

हमारे हिस्से के, सब ख्याब बंटते जाते हैं ।
वो दिन भी कट गये, ये दिन भी कटते जाते हैं ।

चित्त के द्वारा की जाने वाली हर पहल नये निर्माण का संकल्प है; किन्तु उसका प्रत्येक निर्माण स्वयं उसी के लिए चुनौती है । आखिर जीवन के चौराहे पर एक ही मार्ग से यात्रा की जा सकती है, पर मनुष्य के लिए सबसे बड़ी जीवन्त समस्या यही है कि वह चौराहे के चारों मार्गों को माप लेना चाहता है । नतीजतन उसका हर निर्णय सन्देह के गलियारों में अभिशप्त होकर भटकता रहता है ।

मैं धर्म को जीवन की चिकित्सा और जीवन का स्वास्थ्य स्वीकार करता हूँ । जीवन की जीवन्तता मात्र शरीर की नीरोगता में नहीं है, वरन् चित्त की स्वस्थता में है । जीवन कोरा शरीर नहीं है । वह शरीर और

चित्त का मिलाप है । उसके पार भी है । चैतन्य-गंगोत्री ही तो वह आधार है, जहाँ से जीवन के सारे घटकों को ऊर्जा की ताजा धार मिलती है ।

धर्म का अर्थ किसी के सामने केवल मत्था टेकना नहीं है, वरन् जीवन-की-धारा को बँटने बिखरने से रोकना है । धर्म योग है । और-पंतजलि की भाषा में निरोध योग की पहल है । 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' । मैं धर्म की परिभाषा सिर्फ निरोध तक ही नहीं जोड़ूँगा क्योंकि धर्म योग है और योग निरोध से भी बेहतर है । योग हमें जोड़ता है, एक धारा से, जीवन की धारा से । योग न केवल चित्त की वृत्तियों से हमें निवृत्त करता है वरन् चैतन्य-जगत् की ओर प्रवृत्त भी करता है ।

चैतन्य-प्रेम ही तो अहिंसा की अस्मिता है । चैतन्य का आह्वान हो सकता है । चैतन्य से प्रेम हो सकता है । प्रेम तो हमेशा अच्छा ही होता है । खतरा तो तब पैदा होता है जब प्रेम सिर्फ शरीर-का-शरीर-के-साथ होता है । यह चैतन्य-प्रेम नहीं है । यह तो भोग-प्रेम है और हर भोग-प्रेम जीवन् पर मन एवं वृत्तियों का प्रभुत्व है ।

चैतन्य-जगत् से प्यार करने वाले के लिए न करुणा है, न वात्सल्य । उसके लिए तो सिर्फ प्रेम और मैत्री ही है । करुणा हम तब करेंगे जब अपने से ज्यादा किसी को करुणाशील मानेंगे । वात्सल्य की बारिश हमारे द्वारा तब होगी जब दूसरों को स्वयं से छोटा मानेंगे । क्या कभी सोचा कि महावीर जैसे बुद्ध पुरुष भी अपने शिष्यों को नमस्कार करते थे ? महावीर की 'णमो तित्थस्स' शब्दावली की मूल अस्मिता यही है । नमस्कार छोटे कद, बड़े कद; छोटी उम्र, बड़ी उम्र से जुड़ा नहीं होता । नमस्कार का सम्बन्ध तो चैतन्य-अस्मिता से है । जीवित को नमस्कार किया जाता है और मृत को दफनाया जाता है । जिसे हम क्षुद्र समझते हैं, चैतन्य-पुरुष की दृष्टि में उनमें भी वे ही विराट सम्भावनाएँ हैं, जो स्वयं उसमें गुलाब के फूल की पंखुड़ियों की तरह खिली हैं । उन सम्भावनाओं को मेरे भी प्रणाम हैं ।

और मैं यह कहना चाहूँगा कि वे विराट सम्भावनाएँ हम सब से

जुड़ी हैं। जब तक आत्मसात् न हो जायें तब तक सिर्फ वाणी-विलास लगती है। अभिव्यक्ति बलवती तो तब होती है, जब वह अनुभूति के सांचे से ढलकर गुजरती है। अभ्यास से सब कुछ सहज होता है, अगर बाहर में राहों को तलाशती आँखें जरा भीतर मुड़ जायें, तो जीवन के देवदार वृक्षों पर बड़ी आसानी से चढ़ सकोगे और स्वयं की सम्भावनाओं को साकार भी कर सकोगे। जीवन के बाहरी दायरों में आनन्द को ढूँढती निगाहों को थोड़ा समझाओ। आकर्षण और विकर्षण से थोड़ा ऊपर उठो और साधो स्वयं को प्रयत्नपूर्वक 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'।

चित्त की वृत्तियों का विरोध अभ्यास और वैराग्य से सम्पन्न होता है। यदि जीवन के अन्तर-विश्व का ग्लोब बड़ी बारीकी से पढ़ना है तो चित्त-वृत्तियों के कोहरे के धुँधलेपन को पहले साफ करना होगा। हम देखना तो चाहते हैं हिमालय के इन बर्फीले पर्वतों को, पर ये जो कोहरा छाया है, वातावरण में जो ओस घिरी है, तो कहाँ से दिखाई देंगे वे। अनुमान से अगर हल्की-सी झलक भी पा लो, तो बात अलग है। पत्ते की बात तो कोहरे के हटने पर ही निर्भर है; इसलिए सबसे पहले हम समझें कोहरे को, कोहरे के कारणों को, चित्त को, चित्त की वृत्तियों को।

चित्त के टीले इसी हिमालय की तरह लम्बे-चौड़े और बिखरे-बसे हैं। चित्त के धरातल पर उसके अपने समाज हैं, विद्यालय हैं, खेत-खलिहान हैं, पहाड़ी रास्ते हैं। उसका अपना आकाश है और अपना रसातल है। वहाँ वसन्त के रंग भी हैं और पतझड़ के पत्र-झरे वृक्ष-कंकाल भी। चित्त की अपनी सम्भावनाएं होती हैं। आखिर सबका लेखा-जोखा दो टूक शब्दों में तो नहीं किया जा सकता। जहां वर्णन और विश्लेषण करते हुए आदमी थक जाता है, वहाँ सीमा पर अनन्त शब्द उभरने लगता है। इसलिए यही कहना बेहतर होगा कि चित्त की वृत्तियाँ अनन्त हैं यानी इतनी हैं जिन्हें न गिना जा सकता है, और न मापा जा सकता है। पर हाँ, अगर ध्यान दो तो चीन्हा अवश्य जाता है।

हिमालय में बैठे हैं हम, पर कुदरत के रंग कितने तब्दील होते जा रहे हैं। कुदरत के सौ रूप दिन-भर में दिखाई देते हैं। चित्त के भी ऐसे ही खेल होते हैं। महावीर ने चित्त-वृत्तियों को समझने के लिए एक

माकूल उदाहरण दरसाया है। वे कहते हैं कि छह राहगीर किसी पहाड़ी रास्ते से गुजर रहे थे। उन्हें भूख लगी। उन्होंने दूर से एक वृक्ष देखा, जो फलों से लदा हुआ था। उसमें से एक राहगीर ने सोचा कि इस पेड़ को जड़ से उखाड़ दिया जाए ताकि फल तोड़ने के लिए पेड़ पर चढ़ने की जरूरत ही नहीं रहे। भर-पेट फल खाऊँगा और आगे चलते समय अपना झोला भी भर लूँगा। दूसरे राहगीर के मन में तना काटने का विकल्प बना। तीसरे ने शाखा काटने की सोची। चौथे ने डाली और पाँचवे ने फल तोड़ने का विचार किया; परन्तु साथ चल रहे छठे राहगीर ने सोचा, पेड़ हरा-भरा है और फलों से लदा है। फल पेड़ की सम्पत्ति है। उसे भी जीने का अधिकार है। मुझे भूख लगी है, जरूर पेड़ के नीचे कुछ-न-कुछ फल पेड़ से गिरे/पड़े मिल जाएंगे। मैं उन्हें खाऊँगा और परितृप्त होकर आगे की यात्रा करूँगा।

महावीर की यह कथा प्रतीकात्मक है। वे इन छह राहगीरों के माध्यम से मनुष्य की छह चित्तवृत्तियाँ समझाने की कोशिश करते हैं। उनके अनुसार जो आदमी किसी को जड़ से उखाड़ने की सोचता है, वह कलुषित है। उसकी अन्तर्वृत्तियाँ काली-कलूटी हैं। तना काटने की सोचने वाला इंसान जड़ वाले की अपेक्षा कुछ कम कलुषित है। यों समझिये, वह नीले रंग का है। शाखा तोड़ने की सोचने वाला नीले से कुछ ठीक है। समझने के लिये उसका रंग आकाशी या कबूतरी है। डाली के विकल्प वाला इन तीनों की अपेक्षा कुछ तेजस्वी है। उसका रंग ढलते सूरज की तरह है। फल के विकल्प वाला होठों के मुस्कुराते गुलाबी रंग जैसा है। वहीं छठा राहगीर जो वृत्तियों से स्वस्थ है, किसी को सुख देते हुए स्वयं को सुखी महसूस करता है, सत्वयोगी है। किसी के फलों को छीनना अतिक्रमण है। अस्तित्व की पूर्ति के लिए वृक्ष स्वयं फल देता है। ऐसे वृत्ति-स्वस्थ लोगों के चित्त के आकाश में पूर्णिमा-सा चाँद खिला रहता है। जिसका अन्तःकरण साफ-सुथरा और स्वच्छ है, वह उतना ही अमल-धवल है, जितना यह हिमालय।

वृत्ति का यह आरोहण और अवरोहण महावीर की भाषा में लेश्या है। वृत्ति के ये छः प्रतीक वास्तव में लेश्या के छः सोपान हैं। योग जिसे षट्चक्र कहता है, अर्हत् उसे षट्लेश्या कहते हैं। इन छः लेश्याओं

और छः चक्रों को हम षट् शरीर भी कह सकते हैं । आभाचक्र (आँरो) की उज्ज्वलता और कलुषता इसी लेश्या-शुद्धि पर निर्भर है ।

वृत्ति उज्ज्वल भी क्यों न हो, आखिर है तो वृत्ति ही । जिसे चिन्तकों ने निवृत्ति कहा है, वह कोई सामान्य वृत्ति से परे होना नहीं है । निवृत्ति सही अर्थों में तभी जीवन की क्रान्तिकारी चेतना बन पाती है, जब व्यक्ति अमल-धवल, शुक्ल-वृत्ति से भी चार कदम आगे बढ़ जाता है । आत्म-बोध और आत्म-सर्वज्ञता वृत्ति-से-मुक्त होने पर ही पल्लवित होते हैं ।

कुछ वृत्तियाँ शुभ होती हैं और कुछ अशुभ । अशुभ से शुभ भली है, किन्तु शुद्धता तो अशुभ और शुभ दोनों के पार है । पांवों की जंजीरों लोहे की हों, बरदास्त के बाहर है। सोने की जंजीरें सुहार्येंगी जरूर, किन्तु बांधकर तो वे भी रखेंगी । सोने और लोहे का भेद तो मात्र मूल्यांकन का दृष्टिभेद है । आकाश में उड़ान तो तभी हो पाएगी, जब पंछी पिंजरे के सींखचों से मुक्त होगा ।

वृत्तियाँ क्लिष्ट भी हो सकती हैं और अक्लिष्ट भी । अक्लिष्ट वृत्तियों की रोशनी क्लिष्ट वृत्तियों के अंधकार को जीवन के जंग-मैदान से खदेड़ने के लिए है । दूर करें अक्लेश से क्लेश को, शुभ से अशुभ को, सत् से असत् को । मृत्योर्मा अमृतं गमय— हे प्रभो ! ले चलो हमें मर्त्य से अमर्त्य की ओर, अमृत की ओर ।

हम अपनी वृत्तियों का बोध प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी कर सकते हैं, अनुमानों से भी कर सकते हैं और सद्गुरु के अमृत वचनों से भी । राग क्लिष्ट है और वैराग्य अक्लिष्ट; किन्तु वीतरागता राग व विराग दोनों का अतिक्रमण है । संसार में स्वयं की संलग्नता व गतिविधियों के कारण हम मानसिक तनाव को प्रत्यक्षतः झेलते हैं, किन्तु समाधि को दुःख से अतीत होने का आधार मान सकते हैं । यदि व्यक्ति अज्ञान में दिशाएँ भूल चुका है तो सद्गुरु ही उसके जीवन का सही मार्ग-दर्शन कर सकता है । जहाँ सद्गुरु-का-बाण किसी व्यक्ति के हृदय को बीधता है तो भीतर की सारी रोम-राजि पुलकित हो जाती है । रोशनी की बौछारें बरसने लगती हैं । जीवन का चोला चन्दन के केशरिया फुहारों से भीग जाता है ।

गूंगा हुआ बावरा, बहरा हुआ कान ।
पांवा तैं पंगुल भया, सद्गुरु मार्या बाण ॥

सद्गुरु तो बाण लिये खड़ा है । उसका तो प्रयास यही है कि उसका ज्ञान का बाण किसी के हृदय को बींधे । वह बाण छोड़ता तो कइयों पर है, पर बिंधते तो सौ में दो ही हैं । तुम बाण को देखते ही या तो स्वयं को पत्थर-हृदय बना लेते हो या दुबककर लक्ष्य से स्वयं को खिसका लेते हो । उल्लू अपनी आंखों को खुला भी रखना चाहता है और स्वयं को रोशनी में भी ले जाना चाहता है । यदि बिदक जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । महाज्योति को आत्मसात् भी करना चाहते हो और वहां जाते हुए कटे अंग की तरह भय के मारे काँप भी रहे हो ।

‘मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो अरुझाई रे ।’ सद्गुरु तो समाधान की बात कह रहा है और तुम उसे उलझन समझ रहे हो । ‘मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे ।’ सद्गुरु तो आत्म-जागृति के गीत सुना रहा है और तुम हो ऐसे जो गीत को लोरी मान रहे हो । खाट के पलने में लला की तरह बेसुध सो रहे हो । जरा जागो, मित्र ! जरा संभलो । जब तक स्वयं कुछ न हो जाओ, तब तक वही होने दो जो सद्गुरु चाहता है ।

वृत्ति का एक और स्थूल रूप है, जिसे विपर्यय कहा जाता है । विपर्यय अज्ञान है । जो जैसा है, उसके बिल्कुल विपरीत मान लेना विपर्यय है । जैसे सीप में चांदी का अहसास होता है । साँप रस्सी की भाँति दिखाई देता है । यह मिथ्या ज्ञान है, अविद्या है, माया है । रस्सी को सर्प मानोगे तो यह अज्ञान उतना खतरनाक नहीं होगा, जितना साँप को रस्सी मानकर पकड़ लेना । विपर्यय कलष्ट वृत्ति है । यदि प्रत्यक्ष प्रमाण के आसार उपलब्ध हो जायें तो बोधि के द्वार उद्घाटित हो सकते हैं ।

चित्त की एक सबसे भयंकर और खतरे से घिरी वृत्ति है विकल्प । विकल्प शब्द-का-अनुयायी होता है । वास्तव में जिसका विषय ही नहीं है वही विकल्प है । शब्द के आधार पर पदार्थ की कल्पना करने वाली जो चित्त-वृत्ति है, वह विकल्प वृत्ति है । विकल्प ही स्वप्न बनते हैं । जिनका न कोई तीर है,

न तुक्का; कोई ओर है, न छोर, उसे दिमाग में चलते रहने देते हो तो मनुष्य के लिए अशांति और बैचेनी भरा कोलाहल है ।

आदमी सिर्फ रात में ही सपने नहीं देखता, दिन में भी स्वप्न-भरी पहाड़ी पगडंडियों पर विचरता है । दिन में स्वप्न विकल्प बन जाते हैं और रात में वही विकल्प स्वप्न के पंख पहन लेते हैं । स्वप्न तो दिन में भी ले रहे हो, पर आँखें रोजमर्रा की जिन्दगी में इस तरह लगी हैं कि वे स्वप्न नहीं देख पातीं । वे स्वप्न दबे-हुए स्वप्न हैं । रात को जब खाट पर आराम से सोते हो तब वे फुरसत के क्षणों में स्वप्न की साकारता ले लेते हैं ।

यही कारण है कि वृत्तियों में प्रमुख वृत्ति विकल्प ही मानी जाती है । जो निर्विकल्प हो गया वह सिर्फ विकल्पों से ही मुक्त नहीं हुआ, अपितु वृत्ति-यात्रा से ही शून्य हो गया; क्योंकि आखिर चाहे प्रमाण-वृत्ति हो या विपर्यय सब विकल्प ही हैं ।

विपर्यय-वृत्ति में विद्यमान वस्तु के स्वरूप का विपरीत ज्ञान होता है और विकल्प-वृत्ति में वस्तु का तो कहीं कोई अता-पता ही नहीं होता । सिर्फ शाब्दिक कल्पना के ताने-बाने गूँथे जाते हैं । कैसा मधुर व्यंग्य है कि नग्नता के लिए भी चर्खे पर रूई काती जा रही है । विकल्प केवल संसार के ही नहीं होते, संन्यास के भी होते हैं ।

कई बार लोग मुझे कहते हैं कि हमें ध्यान में आज अमुक तीर्थ या तीर्थ-की-मूर्ति के दर्शन हुए । यह ध्यान की प्राथमिक उपलब्धि है, पर आखिरी उपलब्धि नहीं । यह अक्लिष्ट विकल्प की अभिव्यक्ति है । ध्यान में कोई भगवान या देवी-देवता की मूर्ति दिखाई देती हो तो यह वही देख रहे हो, जिसे पहले देख चुके हो । ध्यान में यदि कुछ प्रगट होता है तो वह मूर्ति के रूप में नहीं, अपितु भगवत्ता के रूप में आत्मसात् होता है । ध्यान की मंजिल के करीब पहुँचते-पहुँचते तो साधक गुरु, ग्रंथ और मूर्ति-तीनों के पार चला जाता है । जब चेतना स्वयं ही परमात्म-स्वरूप बन रही हो, तो वह मन्दिर-मस्जिद की आँख-मिचौली नहीं खेलेगा । उस देहरी पर जो होगा, वास्तविक होगा । जैसा होगा, जीवन्त होगा । फिर हवा

के कारण पेड़ के पते नहीं झूमेंगे वरन् अपनी जीवन्तता के कारण झूमेंगे । अपने बनाये या किराये पर लिये हुए उधार खाते के विकल्पो से ऊपर उठें । जितना देखा और जितना जाना, उसका सागर-मंथन करें और फिर सार को गही रहें और थोथा को फूंक मारें ।

चित्त की एक और कही जा सकने वाली वृत्ति है, और वह है मूर्च्छा । पतंजलि जिसे निद्रा कहते हैं, वही मूर्च्छा है । मूर्च्छा बेहोशी है । बेहोशी में किया गया पुण्य भी पाप का कारण बन सकता है और होशपूर्वक किया गया पाप भी पुण्य की भूमिका का निर्माण कर सकता है । प्रश्न न तो पाप का है, न पुण्य का । महत्त्व सिर्फ होश और जागरूकता का है । जहां जागरूकता है, वहां चैतन्य की पहल है । यह जागरूकता ही 'यतना' है, यही विवेक है और यही सम्बोधि है । जागृति धर्म है और निद्रा अधर्म । धार्मिक जगे; क्योंकि उसका जगना ही श्रेयस्कर है । भगवान् अधर्मियों को सदा सोये रखे, क्योंकि इसी में विश्व का कल्याण है । जिस दिन अधार्मिक जगा, उस दिन खुदा की नींद भी हराता हो जाएगी और यह कहते हुए खुद विधाता को धरती पर आना होगा—

यदा-यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

इसलिए आत्म-जागरण ही धर्म का प्रास्ताविक है और यही ध्यान-योग का उपसंहार भी । जहां सम्राट भरत और नरेश जनक जैसी अनासक्ति तथा अन्तर्जागरूकता है, वहाँ गृहस्थ-जीवन में भी सन्यास के शिखर चरण-चरे बन जाते हैं ।

चित्त की एक और वृत्ति है स्मृति । यही तो वह वृत्ति है, जिसके कारण जीवन का अध्यात्म पेंडुलम की तरह अधरे में लटका रहता है । जीवन वर्तमान है, पर जो लोग जीवन को स्मृति के कटघरे में खड़ा रखते हैं, वे या तो अतीत के अन्धे कूप में गिरे रह कर काले पानी में गल-सड़ जाते हैं और या फिर भविष्य के अन्तरिक्ष में कल्पनाओं के धक्के के कारण अनरुके चक्कर लगाते रहते हैं ।

शाश्वतता तो न केवल अतीत और भविष्य से अपना अलग अस्तित्व

रखती है, अपितु वर्तमान की चुगलखोरी से भी मुक्त है। अतीत, वर्तमान या भविष्य जैसे शब्द शाश्वतता के शब्द-कोष में नहीं आते। उसके साथ न कभी 'था' का प्रयोग होता है और न कभी 'गा' का। उसके लिए तो सिर्फ 'है' का प्रयोग होता है। अतीत में भी और भविष्य में भी।

चित्त की वृत्तियाँ चंचल हैं। लक्ष्मी की तरह नहीं, अपितु लक्ष्मी से भी ज्यादा चंचल हैं। मौसम की तरह नहीं, अपितु मौसम से भी बढ़कर। तुम देख रहे हो सागर की तरंगें और मैं देख रहा हूँ हवा की लहरें, पर कभी-कभी ऐसा लगता है कि चित्त का अश्व हवा से भी ज्यादा खूँदी करता है। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' किन्तु अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध संभव है। चित्त की स्थिरता के लिए प्रयत्न करना अभ्यास है तथा देखे और सुने हुए विषयों का उपभोक्ता होने के बजाय दृष्ट हो जाना, उन्हें पाने की आशा और स्मृति से रहित हो जाना वैराग्य है।

जहाँ वैराग्य है और अभ्यास भी है, वहाँ योग के अन्तर-द्वार स्वतः उघड़ने लगते हैं। आइये वहाँ तक चलें, क्योंकि वहाँ हमारी प्रतीक्षा है।



चैतन्य-बोध : संसार से पुनर्वापसी

जीवन-गंगा की पहली धारा बड़ी बारीक है । यदि हम जीवन की यात्रा को गहराई पूर्वक निहारें, तो जीवन का बोध आत्मसात् हो सकता है । अध्यात्म की प्यास जीवन के सर्वेक्षण से ही जगती है । प्यास की लौ जितनी तीव्र होगी, अतिक्रमण प्रतिक्रमण में रूपान्तरित होता जाएगा ।

जीवन के घेरे में दो दिशाएँ नजर मुहैया होती हैं । उनमें एक तो है आक्रमण और दूसरी है प्रतिक्रमण । दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं—पूर्व पश्चिम की तरह । अतिक्रमण की भाषा आक्रमण के कण्ठ से ही निष्पन्न होती है । आक्रमण पौरुष का संघर्ष है । अतिक्रमण आक्रमण की खतरनाक व्यूह-रचना है । हमारी जीवन्तता और सम्बोधि, मर्यादा और औचित्य सब को लांघ जाता है अतिक्रमण । अतिक्रमण बलात् चेष्टा है, ज्यादाती है ।

प्रतिक्रमण जोश की भाषा नहीं है; होश की परिभाषा है । इसमें जोर-जबरन कुछ भी नहीं होता । इसमें सिर्फ नमन होता है, समर्पण होता है ।

प्रतिक्रमण चित्त-के-चक्र-का-अतिक्रमण है, चैतन्य-बोध है, संसार-से-पुनर्वापसी है । जीवन के उलझे मकड़ी-जाल से मुक्त होने का आधार है प्रतिक्रमण । चित्त-वृत्तियों का जहाँ-जहाँ से नाता जुड़ा है, उसे बिसरा कर खुद के लिए अंगड़ाई लेना है । पंछी का नीड़ की ओर लौट आना ही तो प्रतिक्रमण-की-पगडण्डी-से-वापसी है ।

स्वयं के जीवन को शान्त चित्त से निहारना ध्यान की प्रथम और अनिवार्य शर्त है । जो जीवन की बारीकियों से वाकिफ़ नहीं है, वह सिर्फ ध्यान में ही नहीं, जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं कमा पाता । कृपया निहारो

जीवन के उस मूल स्रोत को, जहाँ से जीवन-की-धारा बही है ।

अपने शैशव की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाओ । हम बच्चे रहे, लेकिन बच्चे से पहले क्या थे ? उससे पहले माँ के गर्भ में थे । जीवन-निर्माण की एक नौ-मासी यात्रा वहाँ पूरी की है हमने । उस यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु क्या है ? यूँ तो कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता कि सागर सर्वप्रथम सिर्फ एक बूँद रहा । सागर बूँद का ही विस्तार है । जब जीवन के नाभि-स्रोत को ढूँढोगे, तो हम स्वयं को एक अणु का विस्तार ही पाएँगे । अणु प्रकृति की पहली और सबसे छोटी इकाई है । हमारा शरीर उसी एक अणु का पल्लवन है । आखिर हर बरगद का भविष्य बीज में ही समाहित होता है ।

बीज मूल है और बरगद उसका तूल । अब बात को तूल मत दो, मूल पर लौट आओ । मूल का पहला अंश अणु है, पर जीवन-की-संहिता अणु के पार भी झाँकने के लिए प्रेरित करती है । अणु के पहले हम एक अदृश्य आत्मा रहे हैं । अदृश्य आत्मा ने अणु में प्रवेश किया और बीज बरगद बनने के लिए गतिशील हुआ । अणु की विकास-यात्रा उसकी विभु-यात्रा है । वह विभु भी है, मूल रूप में अणु भी । इस तरह जीवन के मूल स्रोत दो तत्त्वों में सांयोगिक हैं— एक है आत्मा और दूसरा है अणु । नजर मुहैया होने वाला जीवन उसी आत्मा और अणु का 'कर्मी-सम्मेलन' है ।

आत्मा पुरुष है, अणु प्रकृति । हर मनुष्य अर्द्धनारीश्वर है । उसमें पौरुष भी है, स्त्रीण-गुण भी है । 'शंकर' का आधा शरीर शिव बनाम पुरुष का है और पार्वती बनाम स्त्री/प्रकृति का है । शंकर के द्विभागी देह-चित्र इसी अर्थ के प्रतीक हैं ।

आत्मा और अणु, पुरुष और प्रकृति— दोनों में फर्क समझ लेना ही भेद-विज्ञान है । भेद-विज्ञान दोनों के बीच विभाजक-रेखा खींचता है । प्रकृति के गुणों में आनन्द की किरण ढूँढना 'मृग-तृष्णा' है । 'मृग' तृष्णा का आधार है । किरण को जल-स्रोत मान, पेड़ की छाँह को तरैया मानना, कस्तूरी को दिशाओं में ढूँढना— मृग के ये कर्तृत्व ही तो तृष्णा के व्यक्तित्व

हैं। इसके चलते तो भगवत्-पुरुष भी चक्कर खा जाते हैं और नकली स्वर्ण-मृग के पीछे असली सीता को खो बैठते हैं। अक्ल तो तब आती है, जब तृष्णा दुलत्ती मारकर सात समुन्दर पार पहुँच जाती है।

भेद-विज्ञान तृष्णा और मूर्च्छा का बोध है। आवाज सुनकर या पानी के छींटे खाकर जगना भली बात है, पर वे लोग 'सम्मूर्च्छिम' - प्रगाढ़ मूर्च्छित हैं, जो समुन्दर में गिरकर या आग के घर में होकर भी यह कहते हैं- थोड़ा और ऊँघ लेने दो भाई, इतनी भी क्या जल्दी है !

तृष्णा 'तृष्णा-बोध' से ही जर्जर होती है। वैराग्य प्रकृति-की-गुणधर्मा तृष्णा से ऊपर उठना है। आत्मा के लिए प्रकृति की हर अभिव्यक्ति 'पर' है और योग-दर्शन प्रकृति के गुणों में तृष्णा के सर्वथा समाप्त हो जाने को 'पर-वैराग्य' कहता है। 'पर-वैराग्य' चैतन्य-क्रान्ति है।

एक सन्त-महिला हुई हैं- विचक्षणश्री। वह साधुता के अर्थों में सौ टंच खरी उतरी। उस साध्वी को कैसर की व्याधि ने घेरा, औरों की अपेक्षा उसकी व्याधि कुछ अधिक ही भयंकर रही। पर उसके चेहरे पर समाधि मुस्कराया करती। डाक्टर चकित थे, वह देहातीत थी। सहिष्णु रही हो, ऐसी बात भी नहीं है। व्याधि के असर से, दर्द की अनुभूति से ऊपर उठा लिया था उसने अपने आपको।

प्रकृति से स्वयं की अलग अस्मिता मानने-जानने वाला न केवल देह से, मन से भी मुक्त हो जाता है। फूल खिलता है अपनी निजता से। निजत्व के प्रति अभिरुचि ही भेद-विज्ञान की नींव है, पर-वैराग्य की बुनियाद है। पर-वैराग्य हमेशा पुरुष के ज्ञान से, आत्मा के बोध से साकार होता है- तत्परं पुरुषख्यातेः गुणवैतृष्यम्।

साधक को जब पर-वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है, तब वह अपने स्वभाव-सिद्ध अधिकारों में रमण करता है। वह पदार्थ से ही उपरत हो जाता है। सिर्फ संसार के ही पदार्थ नहीं, वह स्वयं से जुड़े पदार्थों से भी ऊपर उठ जाता है। प्रकृति जो अणु बनकर उसके साथ जुड़ी थी, उसके साथ उसका लगाव टूट जाता है। दोनों के भेद-विज्ञान की प्रतीति का नाम ही 'विराम-प्रत्यय' है। जड़ और चैतन्य- दोनों के बीच विराम

होने की प्रतीति ही 'विराम-प्रत्यय है । इस भूमिका में चित्त का संस्कार बिल्कुल सामान्य रहता है, ना-के-बराबर । जब इस प्रतीति का अभ्यास-क्रम भी बन्द हो जाता है, तब चित्त दर्पण-सा साफ-स्वच्छ हो जाता है । तब वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है ।

यह मुक्त-दशा है । सम्भव है, इस दशा में आत्मा शरीर में रहे, पर वह रहना सिर्फ सांयोगिक है । जीवन में कुछ कर्ज ऐसे होते हैं, जिसका नाता शरीर के साथ होता है । जब कर्ज चुक जाते हैं, तो वह पदार्थ और परमाणु के हर दबाव से मुक्त हो जाती है । यह कैवल्य-दशा है । पंतजलि ने इसे ही निर्बीज-समाधि कहा है । एक जीवन-मुक्ति है और एक विदेह-मुक्ति । महावीर के अनुसार सम्बुद्ध-पुरुष का कैवल्य-दशा में प्रवास करना 'संयोगी केवली' अवस्था है । आत्म-तत्त्व/पुरुष के शरीर को भी केंचुली की तरह छोड़ देना उसकी 'अयोगी केवली' अवस्था है । जैन लोग जिसे 'णमो सिद्धाण' कहते हैं, इसी समय साकार होती है वह वन्दनीय सिद्धावस्था ।

सिद्धत्व की इस शिखर-यात्रा की तराई भेद-विज्ञान ही है । जहाँ आत्मा और पुद्गल का अन्तर आत्मसात् होता है, वहीं जीवन में आत्मज्ञान की पहली किरण फूटती है । यही तो वह चरण है, जिसे विशुद्ध सम्यक् दर्शन और सम्यक्त्व कहा जाता है । संन्यास-की-क्रान्ति इसी बोध-प्रक्रिया से अपना मौलिक सम्बन्ध रखती है । जब तक आत्मज्ञान घटित नहीं होता, तब तक किये जाने वाले हर विधि-विधान राख की ढेरी पर किया जाने वाला विलेपन है । आनन्दधन अभिव्यक्ति को क्रान्तिकारी मोड़ देते हुए कहते हैं— 'आत्मज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे' ।

और मैं नहीं चाहता कि हम सिर्फ चोगे बदल लें और 'भीतर से, जैसे थे वैसे ही बने रहें । ठाण को बदलने से जिदंगी नहीं बदला करती, मगर जहाँ जिन्दगी में ही चैतन्य-क्रान्ति घट जाती है, वहाँ ठाणों का कोई मूल्य नहीं रह जाता ।

भेद-विज्ञान आग है । अगर सचमुच कुछ होना/कर-गुजरना चाहते हो, तो इस आग को अपने हाथों में थामो और जला डालो आत्मा और

पुद्गल के अद्वैत को, पुरुष और प्रकृति के एकत्व को, जड़ और चेतन के रागात्मक साहचर्य को । तुम सिद्धों जैसे हो, सिद्धों के वंशज हो, स्वयं पर गर्व करो ।

हमारी तो सिर्फ आत्मा है, शेष सब पराये हैं । आत्मा का अर्थ ही होता है अपना । आत्मा के अतिरिक्त जितने भी सम्बन्ध और सम्पर्क-सूत्र हैं, हमारे लिए तो वे सब-के-सब विजातीय हैं । विजातियों के साथ रहोगे ? बैठोगे ? जियोगे ? विजातियों से विराग ही भला । मेरा तो सिर्फ मैं हूँ, मेरे सिवा मेरा कोई नहीं । आखिर मौत के वक्त कौन किसका होता है । क्या दादा के लिए हो पाये ? क्या पड़ौसी के साथ जा पाये ? भले ही तुम सती होने का दम्भ भर लो, पर आत्महत्या करके भी तुम असत् से सत् न हो पाये ।

मृत्यु तो कसौटी है इस तथ्य को परखने की कि कौन अपना है, कौन पराया । सुख को बाँटकर भोगा जाता है, मगर दुःख भोगने के लिए तो मनुष्य अकेला है, निपट अकेला । मौत-की-डोली अकेले के लिए ही आती है, पर जिसने इस विज्ञान को आत्मसात् कर लिया कि मेरे अतिरिक्त मेरा कोई और नहीं है, वह अमृत-पुरुष है । उसके लिए मौत अपनी मरजी से नहीं आती । विशुद्ध आत्मज्ञानी को इच्छा-मृत्यु का वरदान प्राप्त हुआ रहता है । वह तभी मरता है, जब वह मरना चाहता है ।

यदि भेद-विज्ञान की ज्योति को अपने मन-मन्दिर में जगाना चाहते हो, तो यह स्वीकार करो कि मेरा तो सिर्फ मैं हूँ । मेरे अलावा मेरा और कोई नहीं है । यह चैतन्य-बोध का आधार-सूत्र है । यह मेरापन न राग है, न ममत्व । यह मेरापन 'मैं' का परम सौभाग्य है । यह तो चैतन्य-दशा में प्रवेश है । मैं मेरे अलावा किसी को भी मेरा मानूँगा, तो यह मेरा संसार का भाव-सफर होगा । बस, चैतन्य ही मेरा है, यह बोध ही तो जीवन में संन्यास का पदार्पण है ।

संन्यास जीवन की एक प्रौढ़ क्रान्ति है । संन्यास जीवन में सही रूप में तो तभी घटित होता है, जब संसार पूरी तरह असार लगता है । यदि कोई अपनी पत्नी को छोड़कर मुनित्व भी अंगीकार कर ले और उसे पत्नी की याद

आये, तो संसार उसके संन्यास की परछाई बनकर उसके साथ आया कहलायेगा ।

संन्यास देने-दिलाने की प्रथा इतनी आम हो गई है कि आत्म-ज्ञान का तो कहीं कोई पता ही नहीं है और साधु-संन्यासियों के टोले दर-दर दिखाई देते हैं । जिस दुकान पर एक भिखारी भीख माँग रहा है, वहीं तुम साधु-संन्यासियों को हाथ फैलाते देखोगे । बुद्ध ने जिस अर्थ में 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग किया, लोगों ने उसका हुलिया ही बदल डाला है ।

दो दिन पूर्व स्वीट्जरलैण्ड से आये एक जोड़े ने मुझे भारत-यात्रा का अनुभव बताया । उन्होंने कहा कि हम सद्गुरु की तलाश में भारत आए । अध्यात्म के प्रति प्यास जगी । हम सबसे पहले वाराणसी पहुँचे । जिस होटल में हम ठहरे, वहाँ हमने साधु को जिस ढंग से मांगते पाया, हम तुलना न कर पाये साधु और भिखारी के बीच । तब हमने जाना कि भारत में गुरु की तलाश कितनी कठिन है, जो सही अर्थों में सद्गुरु हो, जीवन को अध्यात्म से प्रत्यक्ष जोड़ सके ।

साधुता जीवन की महान सम्पदा है । उसे रोटी के दो टुकड़ों के लिए कलंकित न किया जाना चाहिये । पेट के लिए साधु मत बनो । पेट के लिए श्रम किया जाना चाहिए । मांगने से लजाना भला ।

जब सांसारिकता के भौरे की कोई भी भिनभिनाहट कानों को न सुनाई दे, तब ही संन्यास-के-द्वार पर कदम रखना बेहतर है । मैं नहीं चाहता कि हम न घर के रहें, न घाट के । संसार में रहकर हम संसारी कहलाएँगे, लेकिन संन्यास में यदि संसार की पदचाप सुनने में रस लेंगे और उसके बाद भी संन्यासी बने रहेंगे, तो न तो हम पूरी तरह संसारी हो पाये और न ही संन्यासी ।

संन्यास तो चैतन्य-क्रान्ति है । यह कोई ऐसी चीज नहीं है कि किसी के उपदेश से मरघटी वैराग्य जग गया और व्यक्ति झोली-डंडा लेकर निकल पड़े । न रोटी के लोभ से लिया गया संन्यास 'संन्यास' है और न ही किसी की आँखों की शर्म से । संन्यास तो बोध-की-क्रान्ति है, आध्यात्मिक होने का प्रयास है, चैतन्य को आह्वान है, अपने-आप में होना है और अपने अतिरिक्त जो भी है, जितने भी हैं, उसे खोना है ।

संन्यास-के-द्वार पर कदम रखने से पहले इतना तो बोध हो ही जाना चाहिये, जिससे व्यक्ति अपनी तृष्णा को समझ सके, मूर्च्छा से आँख खोल सके। ठीक है, संन्यास 'चरैवेति-चरैवेति' का आचरण है, पर चलेगा वही जो सोने से धाप गया, जगकर उठ बैठा है। संन्यास देने के बाद किसी की मूर्च्छा तुड़वाने का प्रयास बड़ा खतरनाक है।

भगवान बुद्ध के छोटे भाई का नाम था नन्द। विवाह दोनों ने किया। नन्द का मन तो सौन्दर्य-प्रेमी था, किन्तु सिद्धार्थ ने मोक्ष-मार्ग में अपना मन लगाया। एक दिन रात के समय अपनी पत्नी को सोये हुए छोड़कर सिद्धार्थ वन में चला गया। सिद्धार्थ की यह चूक भी रही और करुणा भी। सिद्धार्थ ने तपस्या की और बोधि-लाभ प्राप्त किया।

सिद्धार्थ धर्म का उपदेश देने के लिए गये, किन्तु उनका उपदेश सुनने के लिए नन्द न आया। वह महल में अपनी पत्नी के साथ विहार कर रहा था। एक बार नन्द प्रेमवश पत्नी-का-शृंगार करने लगा। उसी समय सिद्धार्थ भिक्षा के लिए उसके घर आये। नन्द का ध्यान उस ओर न गया और सिद्धार्थ भिक्षा पाये बिना ही लौट गये। एक परिचारिका ने सिद्धार्थ के वापस लौटने की सूचना नन्द को दी। नन्द ने अपनी पत्नी से कहा कि मैं गुरु को प्रणाम करने के लिए जा रहा हूँ। पत्नी के शरीर पर आलेपन किया हुआ था। उसने प्यार से कहा कि आप जायें, मगर मेरा यह गीला आलेपन सूखे, उससे पहले ही लौट आयें।

प्रणाम करते वक्त सिद्धार्थ ने नन्द को अपना भिक्षा-पात्र थमा दिया। नन्द ने भिक्षा-पात्र पकड़ तो लिया, वह शर्म के मारे उनके साथ भी चल पड़ा, लेकिन रह-रहकर अपनी पत्नी और उसके निवेदन की याद आने लगी। सिद्धार्थ ने उसे उपदेश दिया और उसे भिक्षु बना डाला। नन्द संकोचवश मना न कर सका। नन्द का मन भीतर से रो रहा था। आखिर इसने साहस करके ऐसा करने से मना कर दिया, पर सिद्धार्थ ने आँख दिखाते हुए कुछ कठोर भाषा में कहा, 'मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। मैंने प्रव्रज्या ले ली और तुम अभी भी संसार में हो।' नन्द घबराया। वह कुछ न बोल पाया। वह छटपटा रहा था, किन्तु उसका मुँडन कर दिया गया, भिक्षु के काषाय-वस्त्र पहना दिये गये।

नन्द बुद्ध के विहार-क्षेत्र में रहा, उनके साथ रहा, पर उसे शान्ति न मिली। वह विलाप करने लगा— जो अपनी रोती हुई पत्नी को छोड़कर भी तप कर सकता है, वह कठोर है। मैं तो, एक ओर पत्नी का राग और दूसरी ओर बुद्ध की लज्जा— दो पाटों के बीच में पिसा जा रहा हूँ। चलते समय मेरी पत्नी ने आँखों में आँसू भरकर कहा था— आलेपन सूखने से पहले वापस चले आना। मैं पत्नी के उस भावविह्वल वचनों को आज भी नहीं भूल पाया।

नन्द ने भिक्षु को देखकर कहा— ये जो चट्टान पर आसन जमाये हुए भिक्षु ध्यान में बैठे हैं, क्या इनके मन में काम नहीं है ? काम तो नैसर्गिक है। जब देवता और ऋषि-मुनि भी काम के बाण से घायल हुए हैं, फिर मैं तो सामान्य इंसान हूँ। मैं घर लौट जाऊँगा। जिसका मन चंचल है, वह सिद्ध कैसे बन सकता है ? उसमें ज्योति कहाँ !

यद्यपि नन्द ने आखिर भेद-विज्ञान आत्मसात् कर लिया था, सिद्धार्थ की भी इसमें भूमिका रही होगी, किन्तु जीवन का मध्याह्न वह जिस ढंग से घुट-घुट कर जिया, उसे न तो प्रव्रज्या कहा जा सकता है और न संन्यास। संन्यास के बाद बोध-रूपान्तरण का क्रम नहीं है, वरन संन्यास हो बोध-पूर्वक। आँखों की शर्म से किसी को संन्यासी बने रहने के लिए मजबूर रखना बोधपूर्वक पहल नहीं कही जा सकती।

लोग तो जाके समुन्दर को जला आये हैं
मैं जिसे फूँक कर आया, वो मेरा घर निकला।

कोई कुछ भी करे, पर तुम अपने कदम तभी बढ़ाना जब संन्यास हृदय की धड़कन बन जाये, जीना भी संन्यास बन जाये। संन्यास कोई स्वयं को कष्ट देना नहीं है। संन्यास तो स्वयं का बोध पाना है। आत्म-बोध से बढ़कर कोई भी तप नहीं है। बोध ही काफी है भेद-विज्ञान का। जड़ तो जड़ बना रहेगा, चेतन चेतन में समा गया— यही उसकी पुनर्वापसी है और यही उसका प्रतिक्रमण।



संबोधि का कारण

जिन्दगी में जिन्दगी से बढ़कर कोई मूल्यवान चीज नहीं है। जीवन की सारी विराटता के गुण जिन्दगी से ही जुड़े हैं। अतीत हो या भविष्य, हमारे जीवन से ही जुड़े हुए हैं। नरक से स्वर्ग तक के सारे ताने-बाने जिन्दगी से ही सटे हैं। जीवन का अर्थ— जन्म से मृत्यु के बीच का विस्तार ही नहीं है, बल्कि जीवन वह है जो मृत्यु के पार भी जीवित है।

मृत्यु का किसी भी देहरी से स्वागत हो, वह चाहे जिस रूप में हमारे सामने आए, जीवन का सम्बन्ध तो जन्म से पहले भी था और मृत्यु के बाद भी रहेगा। 'जीवन' की कभी मृत्यु नहीं होती। मृत्यु तो रूप और चोले की होती है। वह तो परिवर्तन की दास्तान है। कोई साधक शिखर तक की यात्रा कर ले, सिद्धत्व की भी यात्रा करले तब भी जीवन तो सिद्धत्व के शिखर पर ही रहता है। सिद्धि पाने का अर्थ केवल इतना ही है। मुक्ति पाने का अर्थ यही है कि जिन्दगी जन्म और मृत्यु की धूप-छाँह से मुक्त हो गई। धूप-छाँह के खेल से, दुर्गन्ध और सुगन्ध के वातावरण के बीच से व्यक्ति को जहाँ मुक्ति मिल जाती है, वहीं व्यक्ति की जिन्दगी में उस 'जिन्दगी' का निवास हो जाता है जिसे मर्त्य के पारे अमर्त्य/अमृत का विहार कहेंगे। वहाँ केवल पाप ही नहीं, पुण्य से भी मुक्ति मिल जाती है। वहाँ जिन्दगी के मधुरिम गीत हमें सुनाई देने लगते हैं।

जीवन की साधना और साधु-कर्म यही है कि आदमी पुण्यातीत हो जाए। जो धर्म हमें पाप से ही नहीं, पुण्य से भी बाहर ले जाए, वही हमारे लिए साधक और सिद्धि का कर्म है। जीवन में जो छोटी-छोटी घटनाएँ घटती हैं, उनसे भी असीम के संकेत पा लेना व्यक्ति की सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। बुद्धिमत्ता की पहचान भी यही है कि जो क्षुद्र में भी विराट की छाँह देख ले।

जीवन तो छोटी-छोटी घटनाओं से ही परवान चढ़ता है । जीवन की प्रयोगशाला में होने वाले आविष्कार; पाए जाने वाले अनुभव ही तो जिन्दगी के पाठ हैं, उपलब्धि हैं । उपलब्धि तो तभी बन पाती है, जब हम जीवन में पाए जाने वाले अनुभव बटोरें । उन्हें गूँथें, उनकी माला बनाएँ । अनुभव तो हर आदमी बटोरता है, किन्तु अनुभव पाने के बाद भी उस आदमी के अनुभव बिखरे ही रहते हैं, जो उनकी माला नहीं बना पाता । ऐसे आदमी से उसके जीवन का निचोड़ पूछो, तो वह एकाएक उत्तर नहीं दे पाएगा । आदमी की उम्र चाहे पच्चीस हो या पचास । यहाँ उम्र का तो महत्त्व ही नहीं है । अनुभव का निचोड़ क्या है ? इसका जवाब देने में बहुत समय लग जायेगा उसे । अनुभव तो सभी बटोरते हैं । बुद्धिमान तो वह है जो अनुभवों को किसी सूत्र में पिरोए ।

अनुभव फूलों की तरह होते हैं । बगीचे में आप गए । विभिन्न तरह के फूल हैं । इन फूलों को एकत्र कर लिया तो माला बन गई । जिन्दगी के बगीचे में भी हजारों तरह के फूल खिलते हैं । इन्हें एकत्र नहीं करोगे, तो पड़े-पड़े सूख जाएँगे । अनुभवों का सम्पादन और समीकरण वास्तव में बिखरे फूलों का हार बनाना है ।

आदमी के अनुभव 'सम्बोधि का कारण' इसलिये नहीं बन पाते, क्योंकि आदमी एक दिशा में उन अनुभवों को जगा नहीं पाता । किसी एक धागे में उन्हें पिरोया नहीं । इसलिये वे अनुभव खाली ही रहे । उनका उपयोग नहीं हो पाया ।

आदमी तीन तरह के होते हैं । पहले तो वे जो अनुभव तो करते हैं, मगर न तो उन अनुभवों से कुछ सीखते हैं और न ही अनुभव बटोरते हैं । ऐसे लोग अनुभव पाने के बाद भी कोरे ही रह जाते हैं । बुद्धि तो सबके पास होती है, मगर विरले ही होते हैं, जो उसका उपयोग करते हैं । व्यक्ति एक तो वह है जो बुद्धिमान है । दूसरा वह— जिसके पास बुद्धि तो है, मगर वह उसका उपयोग नहीं करता ।

मैं रोजाना सुबह देखता हूँ 'चौक' (जोधपुर) में, एक आदमी रोज सुबह दो घण्टे तक भाषण देता है । वह प्रोफेसर और पण्डित से भी

अच्छा भाषण देता है, मगर उसका कोई मतलब नहीं है। क्योंकि उसे पता ही नहीं है कि वह क्या बोल रहा है। बुद्धि का प्रयोग तो पागल भी करता है मगर उसका सही उपयोग तभी कहलाएगा जब बुद्धि सही मार्ग पर चलेगी। इस मायने में तो हम सब बुद्ध ही कहलाएँगे, क्योंकि बुद्धि का उपयोग किया, अनुभव भी खूब बटोरे मगर आज हमसे कोई यदि जीवन का उपसंहार पूछ ले तो हम बगलें झांकने लगेंगे।

जीवन में छोटी-छोटी घटनाएं तो खूब घटती हैं, पर आत्म-सम्बुद्ध वही है जो छोटी-छोटी घटनाओं से भी विराट तत्त्व के आत्म-सूत्र पा लेता है। जरा कल्पना करें— जिन-जिन साधकों को बोध की प्राप्ति सम्बोधि की अनुभूति हुई वे कैसे रहे होंगे? जो काम कोई बुद्ध-पुरुष न कर सका होगा, वही काम जीवन में घटने वाली छोटी-सी घटना कर जाती है। यही तो जीवन की विशेषता है। जीवन के चारों तरफ सत्य बिखरे पड़े हैं। वेद लिखे हुए हैं।

जीवन को समझने के लिए किसी वेद या उपनिषद् को पढ़ने की बजाय केवल ठीक-ठीक देखने की आदत डाल लें। जीवन में घटने वाली घटनाओं को समझने की आदत जरूरी है। जिसे महावीर सम्यक् दृष्टि कहते हैं, बुद्ध सम्यक् स्मृति कहते हैं, वही तो मौलिक चीज है। ठीक-ठीक देखने की आदत बन जाए तो सागर के पास जाने की जरूरत ही नहीं है। हर बूंद में सागर के दर्शन होंगे। जीवन में होने वाली घटनाओं से, जीवन में पाए जाने वाले अनुभवों से वह व्यक्ति बूंद में भी अपने पास सागर पाएगा। अपने चारों ओर वेद लिखा हुआ पाएगा। वह व्यक्ति सत्य के फूलों को अपने चारों ओर बिखरा हुआ पाएगा।

सत्य की साधना के लिए, जीवन की मुक्ति के लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं है। कहीं जाकर पद्मासन लगाने की भी जरूरत नहीं है। सांसें को रोककर तपस्या करने की भी जरूरत नहीं है। समाधि का मतलब यह कभी नहीं है कि कहीं पर जाकर पाँच-पाँच घण्टे आँख बन्द करके बैठ जाएँ।

साईबेरिया में सफेद भालू होते हैं। वे दुनिया में आश्चर्य गिने जाते

हैं । जब बर्फ पड़ती है, तो वे भालू जमीन के नीचे चले जाते हैं । उनके चारों तरफ बर्फ-ही-बर्फ ढंक जाती है । वे भालू छः-छः महीने अपनी साँसें रोके रखते हैं । पशुओं में यह सर्वाधिक गहन प्राणायाम है, गहन समाधि है । लेकिन मैं इसे समाधि नहीं कहूँगा, क्योंकि छः माह तक साँसें रोकना ही समाधि है, तो वे भालू सबसे बड़े समाधिस्थ सिद्ध कहलाएँगे ।

आपने देखा होगा तालाब में जब पानी कम हो जाता है तो मेंढक अपने बिलों में चले जाते हैं और जब तक बारिश नहीं होती, न तो साँस लेते हैं न ही भोजन करते हैं । एक दुबकी हुई चेतना लिए जमीन में दबे पड़े रहते हैं । जैसे ही वर्षा होती है, उनकी टर्-टर् सुनाई देने लगती है । वे चार महीने जमीन में दबे रहे, मगर वह समाधि नहीं है ।

समाधि का अर्थ है आप होशपूर्वक अपने शरीर के केन्द्र में विराजमान हो जाओ । यह मत समझना कि समाधि आने से कोई देवता आपके पास आएँगे । आपकी आरती उतारेंगे । समाधि का अर्थ है आप कितने होश में हैं कितने भीतर विराजमान हैं । केवल बाहरी आवरण को रंगना समाधि नहीं है । असली समाधि तो तब होगी जब अपने मन को रंग लोगे । 'मन न रंगा, रंगा रे जोगी कपड़ा' अगर भीतर से रंग चुके हो तो 'बाहर' गौण हो जाता है । असली चीज तो भीतर से रंगना है । आदमी भीतर से तभी रंग पाता है जब वह जीवन में घटने वाले छोटे-छोटे अनुभवों से कुछ सीखता और समझता चला जाए ।

एक साधक हुए हैं— 'च्वान सूँ' । एक बार अपने शिष्यों के साथ च्वान सूँ कहीं जा रहे थे । रास्ते में श्मशान पड़ा । च्वान सूँ को ठोकर लगी । नीचे झुक कर देखा तो वह किसी की खोपड़ी थी । उन्होंने खोपड़ी को देखा और मुस्करा दिए । उन्होंने झुककर खोपड़ी को उठाया, उसे चूमा और रवाना हो गए । उनके शिष्य हैरान ! गुरुजी को यह क्या हो गया । मरघट में पड़ी हड्डी क्यों उठाई । एक शिष्य ने हिम्मत की । पूछा, यह क्या माजरा है, आपने खोपड़ी को प्रणाम किया ?

च्वान सूँ ने पहले तो मुस्कराया, फिर बोलने लगे, जब मुझे ठोकर

लगी तो तत्काल इस खोपड़ी पर नजर पड़ी और मेरे अन्तर्मन में झंकार हुई । मुझे विचार आया कि 'च्वान सूं ! तेरी खोपड़ी की भी यही हालत होने वाली है' । यह खोपड़ी भी किसी साधारण आदमी की होती तो और बात थी, मगर यह खोपड़ी इस देश के सम्राट की है । जब एक सम्राट की खोपड़ी को आम आदमी ठोकर मार सकता है, तो जरा सोचो अपनी स्वयं की खोपड़ी का क्या हस्र होगा । मैंने इसलिए इसे प्रणाम किया कि 'च्वान सुं ! तेरी भी हालत यही होने वाली है' इस खोपड़ी ने मुझे यह अहसास कराया है ।

कहते हैं च्वान सूं ने उस खोपड़ी को उस दिन के बाद हमेशा अपने पास रखा । लोग पूछते तो वे कहते— 'यह खोपड़ी मेरी गुरु है ।' इस खोपड़ी को देखता हूँ तो मुझे यह बोध होता है कि मेरी हालत भी एक दिन ऐसी होने वाली है । इसने मुझे प्रेरणा दी है । इसलिए यह मेरी गुरु है ।

यह घटना तो केवल प्रतीक है । असल में मैं कहना यह चाहता हूँ कि जीवन में जो कुछ घटता है, आदमी उससे सीखे । आदमी अपने ही नहीं, दूसरों के अनुभव से भी सीखे । एक आदमी तो वह होता है जो अपने अनुभव बेकार जाने देता है । दूसरा ऐसा है जो उन्हें बटोरता है । उसकी माला बनाता है । तीसरा, वह जो बुद्धि से काम करता है । मैं ऐसे आदमी को प्रज्ञावान मानता हूँ, जो बुद्धि से भी पार चलता है । असल में फूलों को बटोरना जरूरी है । उसकी माला बनानी है । फूल तो मुरझाने वाले हैं । प्रज्ञावान तो वह है जो मुरझाने से पहले उनकी माला बना लेता है । फूल मुरझाने से पहले ही वह सार-तत्त्व को पा लेता है । फूलों का सार तो इत्र है । जिसने इत्र बटोर लिया, उसने ज्ञान पा लिया । जिसने केवल फूल ही बटोरे, वह अन्धेरे में ही रहा । उसने सार तो छोड़ ही दिया । अनुभव बटोरना ही काफी नहीं है, सार तत्त्व भी बटोरना है । जिसने सार पा लिया, उसने जीवन का वास्तविक मूल्य आत्मसात् कर लिया ।

दुनिया भर का स्वाध्याय-अध्ययन करने के बाद, पाण्डित्य पाने के बाद भी लगता है कि जीवन में मौलिकता यही है कि आदमी अपने चारों तरफ बिखरे सत्त्यों को भी समझे । भगवान तो पुकारेंगे । रणभेरी तो

बज उठेगी, मगर उस रणभेरी को वही समझ सकेगा, जो सार तत्त्व को पाने की, गुण-ग्राहकता की हैसियत रखता होगा ।

‘वज्रज्रेख’ के बारे में प्रसिद्ध है कि वह काफी बलवान हाथी था । सौ वीर-योद्धा भी उसके आगे नहीं टिक सकते थे । वह कौशल नरेश का हाथी था । अनेक युद्धों में उसने कौशल दिखाया था । एक सीमा के बाद तो सभी बूढ़े होते हैं । किसी बूढ़े व्यक्ति को लाठी का सहारा लेकर चलते देखकर उस पर हँसना मत । किसी की अर्थी देखकर दया मत खाना । अपने भीतर जागना है । शाम ढल गई है । नींद पूरी हो गई है । एक दिन तो ऐसा भी आएगा, जब जीवन के चारों ओर अन्धकार छा जाएगा ।

जिसे आप मौत कहते हैं । वह यही अन्धकार है । यह अन्धकार रोज-ब-रोज आता है और एक दिन आदमी महाअन्धकार में डूब जाता है । वह हाथी भी अब बूढ़ा हो चला था । उसकी हालत देखकर हर आदमी सोचने लगा कि अब यह बूढ़ा हो गया है । उस हाथी के प्रति सब लोगों के मन में सम्मान था । वह हाथी भी बड़ा जीवट वाला था ।

एक दिन वज्ररेख घूमते-घूमते शहर के बाहर एक तालाब के किनारे पहुँच गया । तालाब में पानी काफी कम हो गया था और दलदल-सा बन गया था । बुढ़ापे के कारण हाथी की आँखें भी कमजोर हो चुकी थीं । उसने पानी पीने के लिए कदम आगे बढ़ाए तो दलदल में फँस गया । अब वह दलदल से निकलने का जितना प्रयास करता, उतना ही और अन्दर धंसता जाता । लोग एकत्र होने लगे । उसे बाहर निकालने के कई प्रयास किये गये, मगर सफलता नहीं मिली । कौशल-नरेश भी वहाँ पहुँच गये और भरी आँखों से हाथी को मरता देखने लगे । उस बलवान हाथी का ऐसा अन्त उन्हें अच्छा नहीं लग रहा था । एकाएक उन्हें अपने पुराने महावत की याद आई । शायद वह कोई रास्ता सुझा दे । महावत आया । हाथी को देख मुस्कराया, बोला— ‘आप लोग इस हाथी को नहीं जानते’ । उसने तत्काल आदेश दिया कि रणभेरी बजाई जाए । इधर रणभेरी बजी, उधर हाथी के बेजान शरीर में हलचल मची । हाथी ने अपनी सारी शक्ति एकत्र की और दलदल से बाहर निकल आया ।

महावीर इसे सम्बोधि कहते हैं। बुद्ध स्मृति कहते हैं। यहाँ स्मृति ही आत्म-स्मृति बन जाती है। रणभेरी सत्संग का काम कर जाती है। जहाँ सम्बोधि, वहीं अनुभव का सार मिल गया समझो। आत्म-स्मरण की रणभेरी बजते ही सत्संग की रणभेरी भी बजने लगती है। व्यक्ति अपने आपको पहचान लेता है। एक रणभेरी की आवाज सुनकर हाथी बाहर निकल आया था। रणभेरी तो बजा रहा हूँ। मगर तुम अभी तक सही योद्धा ही नहीं बन पाए हो। इसलिए तुम रणभेरी नहीं समझ पाओगे, तुम भगवान को कैसे पाओगे।

जो आदमी भगवान को पाने के बाद भी उसकी भगवत्ता का अनुभव नहीं करता, वह रस से अछूता है। अपने आपको सम्भालो। कोई कितना भी बलवान हो उसका अन्तिम नतीजा तो यही होने वाला है। इसलिए स्मृति को जीवित करो। रणभेरी बज रही है, सत्संग की रणभेरी। उसे समझने की चेष्टा करो। अपने आपको पूछो मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ, मेरा क्या होगा? जीवन का मूल उद्देश्य क्या है? ये प्रश्न कभी एकान्त में अपने आपसे पूछो। जीवन का अनुभव क्या बटोरा? सार क्या है? पैदा हुए वैसे ही मर गये, तो दुनिया में आने का औचित्य क्या रहा?

जिन्दगी सरिता है। बहती जा रही है। बहते-बहते सागर में मिल जाएगी। विलीन होने से पूर्व अपने आपको पहचान लो। मेरा स्वरूप क्या था? कहाँ से आया? मुझे किससे सम्बन्ध रखना है? किससे प्रतिकार करना है?

ये कोरे प्रश्न नहीं हैं, स्वयं के प्रति जिज्ञासा है। अपने आपसे यह पूछना कि 'मैं कौन हूँ' मन का अध्यात्म-में-विलय है। मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ— अपने आप से ही यह पूछताछ करनी है। मैं कौन हूँ इसका उत्तर कोई गुरु न दे पाएगा। 'मैं' ही बता पाता है 'मैं' का उत्तर। इस प्रश्न को, इस जिज्ञासा को अपना मन्त्र बना लो और मन्त्र को अपने अन्तरंग में गहरे तक उतरने दो। ऐसा नहीं कि एक सौ आठ बार गुना/जपा कि मालाओं की दस-बीस की गिनती में लग गये। और मन्त्र तो शाब्दिक होते हैं, परन्तु यह मन्त्र तो ज्ञानपरक है। एक

गहरे बोध में उतरना है। शून्य अवतरित होगा और जीवन के अन्तर-झरोखों से समाधान की किरण फूटेगी, जिसके प्रकाश में जानेंगे 'मैं' को, अपने-आपको, अस्तित्व-की-अस्मिता को।

जो मैं को जानने में लगा है, वह पर का वियोगी है। अपने आपको छोड़कर शेष सारे उसके लिए पराये हो जाते हैं। गुरु, ग्रन्थ, मूर्ति और धर्म भी। यहां तक कि अपनी देह उसे अपने से अलग महसूस होने लग जाती है। जीवन के धरातल पर कोई अनुकूल हो या प्रतिकूल, साधक शोक-रहित और ज्योतिर्मय प्रवृत्तियों में ही रुचि लेता है। उसके जीवन-द्वार पर दस्तक सभी तरह की होती है, मगर अपने अन्तर-गृह में वह उन्हीं को प्रविष्ट होने देता है, जिनसे उसकी निर्लिप्तता और ज्योतिर्मयता को खतरा न पहुँचे, वरन् और सहयोग/बढ़ावा मिले। पंतजलि कहते हैं— 'विशोका वा ज्योतिष्मती'— मन को स्थित करने के लिए यह भी एक राजमार्ग है कि व्यक्ति शोक-रहित और प्रकाशमय प्रवृत्तियों में लगा रहे और उन्हीं का अनुभव करे। यह अनुभूति मन को स्थिर और निर्मल करेगी। मैं कौन हूँ— यह जिज्ञासा प्रकाशमय प्रवृत्ति की प्राथमिक पहल है।

मूल बात तो यही है कि अपने आप में डूबो। यह सोचो कि जीवन का मूल स्रोत क्या है ? इसी से सम्यक् दृष्टि पैदा होगी। सम्यक् दर्शन पैदा करने का और कोई उपाय नहीं है। इक साथे सधे सधे।



चरैवेति-चरैवेति

चेतना के कई चरण हैं । कुछ ऐसे, जो सो रहे हैं । कुछ ऐसे हैं, जो जगे हैं । कुछ उठ बैठे हैं । कुछ ऐसे हैं, जो चल पड़े हैं ।

जो सो रहा है, वह कलि है । निद्रा से उठ बैठने वाला द्वापर है । उठ कर खड़ा हो जाने वाला त्रेता है, लेकिन जो चल पड़ता है, वह कृत है, सत् है, स्वर्ण-पुरुष है । चरैवेति-चरैवेति— इसलिए चलते रहो, निरन्तर सक्रिय रहो ।

कलिः शयानोभवति, संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन् ।

जो सो रहा है, वह कलि है । सोने का अर्थ है मूर्च्छा में पड़े रहना । कलि का सम्बन्ध बुरे समय से नहीं है, मूर्च्छित मानसिकता से है । कलियुग आज भी है, हजारों वर्ष पूर्व भी था । मनुष्य के मन पर जब तक मूर्च्छा का कोहरा छाया रहेगा, तब तक वह कलि ही रहेगा, कलियुग में ही जीता रहेगा । अतीत के इतिहास में अभी तक ऐसा मौका नहीं आया, जब सबके लिए कलियुग हो या सबके लिए सतयुग । कलियुग अब भी है, तब भी था । सतयुग तब भी था, अब भी है । विश्व के ग्लोब पर रंग करने की दरकार है, पर वह कभी रंगा हुआ था, फिर रंग उड़ गया, इसलिए नहीं । रंग कभी पूरा हुआ ही नहीं, तो उसके उड़ने, घिसने या पुराना पड़ने का सवाल ही कहाँ आता है ।

समय के हर धरातल पर कलि और स्वर्ण होते रहे हैं । जो मूर्च्छा-मुक्त हुए, जागे, बढ़े, चैतन्य-केन्द्रित हुए, वे स्वर्ण-पुरुष हुए । मूर्च्छा और मुक्ति—दोनों की सम्भावना सदा-सदैव रही है और रहेगी भी । ऋषभ, शिव और मनु

के समय भी लोग मूर्च्छा में औंधे सोये पड़े थे । महावीर व बुद्ध के समय में भी सारे लोगों की मूर्च्छा नहीं टूटी थी । मूर्च्छा तो आज भी है । मूर्च्छा टूटना ही चैतन्य-जगत्-के-द्वारों-का-उद्घाटन है । कलि और कृत- ये वास्तव में समय के चरण नहीं हैं । ये चरण तो चेतना के हैं ।

जिन्होंने अपने समय को त्रेता और सत् कहा, उन्होंने कोई गलत नहीं कहा । क्योंकि उनके लिए तो वे स्वयं कृत थे, तो उनका युग उनके लिए कृत-युग ही होगा । यह आधार तो जीवन-दृष्टि के मूल्यांकन पर है । यह देश भी कभी सोने-की-चिड़िया, रत्नों-की-खान कहलाया करता था । पता नहीं वह सोने की चिड़िया कब रहा ! जिस देश में नरमेघ-यज्ञ होते थे, स्त्रियों को बाजार-की-चौखट पर सरे-आम बेचा जाता था, गरीबों को गुलाम बने रहने पर मजबूर होना पड़ता था, वहाँ स्वर्ण-युग आया ही कब ? युग का आदर्श तो अब आएगा । देख नहीं रहे हो युद्ध के खिलाफ बोलते लोगों को, मृत्यु-दण्ड के विरोध में उभरते स्वर्णों को । अब तो गुलामों को भी स्वतन्त्रता के दिन देखने को मिल रहे हैं । नारी-कल्याण वर्ष मनाए जा रहे हैं । पर तब ? जहाँ दरिद्रता और गुलामी चरम सीमा पर हो, वहाँ अपने आपको सोने-की-चिड़िया कहना मात्र अपने खून रिसते घावों को माटी से ढकना है ।

अच्छे-बुरे, सोये-जागे लोग तो समय के हर धरातल पर होते रहते हैं । यदि तुम भी अपनी नींद को झाड़ दो, आँख खोल लो, तो तुम भी कलि से द्वापर बन जाओगे । उठ बैठो तो त्रेता और चल पड़ो तो स्वर्ण/कृत । अमृत-पुरुष वह है, जो पहुँच चुका है ।

कहते हैं श्रीकृष्ण ने कलि-दमन किया । कलि वास्तव में प्रतीक है निद्रा का । पता नहीं कितने लोग कलि की पूँछ की चपेट में आ जाते हैं । किन्तु वे लोग अमृत-पुरुष कहलाते हैं, जो उसकी पूँछ से उसके नथूनों को बींध डालते हैं । जो कलि की पूँछ के नीचे दबे पड़े हैं, वे मूर्च्छा में अधमरे पड़े हैं, और वे दबे पड़े हैं कलि के भार से । जो मूर्च्छा से जगकर चैतन्य-जीवन की ओर चल पड़े हैं, वे कलि के शीष पर हैं, कलि उनके पाँव तले । ऐसे पुरुष सतयुग में जीते हैं और महा-मानव की संज्ञा पाकर अमृत-पुरुष हो जाते हैं । जैसे कृष्ण कलि को बींधकर उसके सिर पर नृत्य करते हैं, ऐसा ही जीवन में आनन्द-उत्सव होता है । जो 'चरैवेति-चरैवेति' को तहेदिल से स्वीकार कर लेता है, वही स्वर्णिम

सवरे का साक्षात्कार करता है। अपनी खोज जारी रखो। पहाड़ों-के-पार भी पहाड़ सम्भावित है। मंजिल गंतव्यपूर्ण यात्रा है। आखिर उस बिन्दु तक पहुँच जाओगे, जो जीवन का मूल संचार-केन्द्र है।

आम-आदमी औसतन मूर्च्छित है। मूर्च्छा जितनी प्रगाढ़ होगी, धर्म का माधुर्य उतना ही फीका लगेगा, जितना बुखार में मीठा। वे लोग मूर्च्छित हैं, जो नहीं जानते कि वे कौन हैं, क्यों हैं, किसलिए हैं? कहाँ से आये हैं, कहाँ जा रहे हैं, उनका स्वभाव क्या है? जिन्हें यह सब जानने के लिए अभीप्सा नहीं है, वे मूर्च्छित हैं। स्वयं के बारे में कौन जानना चाहता है? लोगों ने ज्ञान का सम्बन्ध तो दूसरों के साथ जोड़ रखा है। हर व्यक्ति दूसरों को जानना चाहता है।

भले ही कोई सन्तुष्ट हो जाये कि मैंने अमुक-अमुक को जान लिया है, उसका ज्ञान दिशाभूला है। मुखौटों को पहचानने में ही जब मुश्किल हो रही है, तो जीवन का अन्तःस्थल जानना तो बहुत दूर की बात है।

करीब दो हजार वर्ष पुरानी एक बहुमूल्य पुस्तक है 'आयारो'। यह शास्त्रों-का-शास्त्र है। इसकी शुरुआत ही मूर्च्छा-बोध और जागरण-सन्देश से हुई है। मूर्च्छित उसी को बताया गया है, जो नहीं जानता कि मैं कहाँ से आया हूँ, मुझे कहाँ जाना है, मेरा स्वभाव, मेरा जीवन-स्रोत क्या है! अपने प्रयत्नों से या किसी सद्गुरु के सतत् सम्पर्क से यह मूर्च्छा तोड़ी जा सकती है। मूर्च्छा का टूटना ही जागना है।

ध्यान मूर्च्छा से अपनी आँख खोलने के लिए है। किसी सद्गुरु के प्रयास से या जीवन में लगने वाले किसी आघात से मूर्च्छा टूट जाये, तो अलग बात है, किन्तु अपने प्रयासों से मूर्च्छा को तोड़ने के लिए ध्यान सबसे बेहतरीन कारगर उपाय है। तुम मूर्च्छित हो या जागृत, इस चिन्ता को छोड़ दो। सिर्फ ध्यान में डूबो। ध्यान मूर्च्छा से जागरण की क्रान्ति है। ध्यान में गोताखोरी करने वाला ही मूर्च्छा को समझता है। मूर्च्छा के चलते ही तो मनुष्य ने अपनी खोपड़ी को कूड़ादान बना रखा है। मस्तिष्क कचरा एकत्र करने की पेटी नहीं है। वह बुद्धि और ज्ञान का आधार है। सत् और असत्, मर्त्य और अमर्त्य के बीच भेद समझने के लिए है यह। पथ और विपथ का निर्णय इसी के जरिये होता

है, ताकि जीवन में 'कभी पतझड़ और कभी बसन्त' की बजाय सदाबहार ऋतु बनी रहे ।

ध्यान आग है, खोपड़ी में भरे कचरे को राख करने के लिए । मनुष्य मूर्च्छित इसलिये बना रहता है, क्योंकि उसे लगता है कि उसकी तृष्णा उन लोगों से परितृप्त हो रही है, जिनको उसने अपना मान रखा है । वह मूर्च्छित सिर्फ उन लोगों के प्रति ही नहीं है । वह उन बिन्दुओं पर भी मूर्च्छित है, जो कभी हो चुके; उनके प्रति भी जो कभी होंगे । जो 'था' में जीता है, जो 'नहीं है' में जिएगा, वह रीता ही मरेगा । अतीत 'था', भविष्य 'होगा' । जो हो चुका, वह अभी नहीं है; और जो होगा, वह भी अभी नहीं है और लोग पिस रहे हैं, बीते-अनबीते के दो पाटों-के-बीच में ।

अतीत की स्मृति सताये जा रही है, तो भविष्य की वासना/कल्पना आकुल-व्याकुल कर रही है । मनुष्य अपने ही हाथों से अपने अधिकारों का अतिक्रमण कर रहा है । अतीत भी सपना है और भविष्य भी सपना है । एक वह सपना है, जिसे कभी देखा और दूसरा वह सपना है, जो अभी तक आया नहीं है । जो इन दोनों स्थितियों से आँख हटा लेता है, वह त्रेता-पुरुष है । यह जागरण है । जागरण का आध्यात्मिक नाम संन्यास है, मुनित्व का आयोजन है । पर मनुष्य है ऐसा, जो नकली स्वर्ण-मृग के पीछे जीवन की सच्चाई को खो रहा है । मृग सूर्य-किरण को जल का स्रोत समझकर दौड़े तो बात समझ में आती है । मृग बेचारा अबोध प्राणी है, किन्तु मृग से भी ज्यादा अबोध तो दोपाया मनुष्य है, जो उसे स्वर्ण-मृग मानकर उसके पीछे अपना तीर-कमान लेकर निकला है । जो है ही नहीं, उसके पीछे क्या लगना ! जो है, उसके लिए अपने पुरुषार्थ का उपयोग करो । जो है, वह 'है' में है, स्वयं में है । कस्तूरी कुण्डल बसै— स्वयं के ही नाभि-केन्द्र में समायी हुई है वह कस्तूरी, जिसके चलते सौरभ तुम्हें निमंत्रण दे रही है । मनुष्य है ऐसा, जो अपने व्यक्तित्व का उपयोग 'अभी' के लिए नहीं कर रहा है । वह अपनी इच्छा-शक्ति को बचाये रखना चाहता है— कभी और के लिए, किसी और के लिए, कहीं और के लिए ।

एक सर्द मौसम और आगे आने वाला है,
आग अपने सीने में कुछ दबी भी रहने दो ।

शक्ति उद्यम के लिए है। 'उद्यमो भैरवः'— 'उद्यम' ही भैरव है। भैरव प्रतीक है ब्रह्म का, चैतन्य-क्रान्ति का।

उद्यम ऊँचा यम है। उद्यम हो मूर्च्छा-के-कारागृह से बाहर निकलने का। उद्यम हो श्रद्धा, सामर्थ्य, स्मृति और समाधि प्रज्ञा का। उद्यम जितना तीव्रतम/पवित्रतम होगा, सिद्धि उतनी ही करीब होती जाएगी। उद्यम कोई चुल्लू भर पानी में डूबना नहीं है। समग्रता से किया जाने वाला आध्यात्मिक प्रयास ही उद्यम है। वेग जितना तीव्र होगा, गंगा गंगासागर-की-निकटता उतनी ही जल्दी पाएगी। प्रवाह यदि तीव्रतम है, तो वह सिर्फ निर्झर ही नहीं है, वरन् विद्युत-उत्पादन का कारण भी है। सूर्य स्वयं में आग का गोला है। वह अपनी किरणों को बिखेर रहा है। अगर वह अपनी समग्र किरणों को अपने में समेट ले तो जरा कल्पना करो कि उसकी शक्ति उससे कितनी गुनी हो जाएगी! जब दो बादल परस्पर टकराते हैं, तो अपनी समग्रता के साथ टकराते हैं। उनके संवेग बड़े तीव्र होते हैं।

'तीव्र-संवेगानाम् आसन्नः' जिनके आसन की गति तीव्र है, उनकी समाधि/सिद्धि शीघ्र सधती है। चाहे जैसी सधन घटा हो, निशा का चाहे जैसा तिमिर डटा हो, किन्तु धरती और आसमान को ज्योतित करने के लिए विद्युत की एक चमक ही काफी है। सिर्फ शर्त यही है कि वह समग्र हो, तीव्रतम हो, परिपूर्ण हो।

वास्तव में उद्यम और प्रयत्न ही जीवन की जीवन्तता है। मन बड़ा आलसी है। उसे सीढ़ी ही मंजिल लगती है। जब तक पंखों को हवा में न खोले, तब तक पंखी के लिए आकाश जीवन का उत्सव-स्थल नहीं, अपितु मृत्यु-का-खतरा दिखायी देता है। पर आकाश में उड़ने का खतरा तो मोल लेना ही होगा, तभी पंखों-की-सार्थकता है।

एक बार ऐसा ही हुआ।

किसी पक्षी-दंपति के एक बच्चा पैदा हुआ। उसके पंख भी लग आये, पर वह उड़ना नहीं चाहता था। उसके माता-पिता ने उसे आकाश में उड़ने के लिए प्रेरित भी खूब किया, पर वह तो आकाश को देखते ही डर के मारे अपनी आँखें मूँद लेता। अपने नीड़ को और मजबूती से पकड़ लेता। आखिर

उसके माता-पिता ने एक योजना बनायी और बच्चे को घोंसले से धक्का दे मारा। पेड़ की टहनी से वह जमीन पर गिरे, उससे पहले ही पता नहीं कैसे, उसके पंख स्वतः ही खुल गये। जमीन तक पहुँचा भी, लेकिन एक पल जमीन पर ठहरे बिना, पंखों को फड़फड़ाता हुआ वापस अपने घोंसले में पहुँच गया। बच्चा काँप रहा था, पर दंपति प्रसन्न थी। उन्होंने उसे अपनी गोद में उठा लिया और प्यार से अपने आँचल में समेट लिया।

यदि मन की मानते रहोगे, तो घोंसले से आगे न बढ़ पाओगे। मन को बुझाओ/समझाओ। जीवन का अन्तर्मार्ग अज्ञात है, किन्तु अज्ञेय नहीं। ज्ञात से अज्ञात में उड़ान भरने में डर जरूर लगेगा, पर जिसने सीख लिया— 'चरैवेति-चरैवेति' का कर्मयोग-सूत्र, वह अपने प्रयास को प्रमाद की सीढ़ियों पर नहीं बैठने देगा।

सीढ़ी पर बैठना तो ठहरना है। जीवन ठहरना नहीं है, बल्कि चलते रहना है। ठहरना तो जीवन्तता पर चूना पोतना है। जीवन तो श्रम है। इसलिए श्रम में अपनी समग्रता लगाओ। विश्राम जीवन की भाषा नहीं है। विश्राम तो मृत्यु का नाम है। चलना ही तो धर्म है। जो रुक गया, वह धार्मिक नहीं, अपितु अधार्मिक है। कर्म करना हमारा कर्तव्य है, अधिकार है। फल की चिन्ता मत करो, क्योंकि सही कर्म का फल कभी गलत नहीं हो सकता।

'कर्मण्यैवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः'— यह उद्घोष श्रीकृष्ण का है। आनन्दघन ने कृष्ण की परिभाषा दी है— 'कर से कर्म कान्ह कहिये' जो कर्म करता है, वह कृष्ण है।

कर्मयोग ही जीवन के सर्वोदय की प्राथमिक भूमिका है।

महावीर अपने शिष्यों से यही तो बात कहते हैं कि तुम चलो। 'उड़िए गो पमायए' उठो, प्रमाद मत करो। उत्थित होने के बाद प्रमाद करना अपौरुष है, दम्बूपन है। इसलिए उठो, जागो; सतत जाग्रत रहो। प्रमाद तुम्हारा धर्म नहीं है। दो कदम आगे रखो।

फजा नीली-नीली हवा में सुरूर ।
ठहरते नहीं आशियां में तयूर ॥

अगर जीवन का कुछ बोध हुआ है, या बोध पाने के लिए कोई अन्तरभाव जगा हो, तो बढ़ो । जिनके पंख लग आए हैं, वे आगे आँ और अज्ञात में छलांग लगाकर उसे ज्ञात करें । जहाँ हो, वहाँ बेर खट्टे हैं । आगे बढ़ो महकते बदरीवन में । 'वैली ऑफ फ्लावर्स' में आपकी प्रतीक्षा है ।

चलती का नाम गाड़ी है, खड़ी का नाम खटारा— चलो तो ही कृतार्थ होओगे । अपना होश, अपना बोध, अपना जोश— तीनों को एक करो । विराट को पाने के लिए विराट उद्यम में संलग्न हो जाओ । साधना कोई मक्खी उड़ाना नहीं है । वह तो हमारा निर्णय है । हमारी अभीप्सा की पूर्ति के लिए माध्यम है साधना । 'सडन एनालाइटमेंट' समाधि और सिद्धि तत्काल हो सकती है । जरूरत है ऊँचे संकल्प की, संलग्नता की । मूर्च्छा की नींद बड़ी गहरी है । जब तक समग्रता से सतत न जुड़ोगे, तब तक यह नींद क्षणभंगुर होने वाली नहीं है । प्रयास हो परिपूर्ण । कुनकुने प्रयासों से ऊर्ध्वारोहण/वाष्पीकरण नहीं हो सकता ।

किसी ने कहा परमात्मा सबकी रक्षा करता है । उसकी बात सम्राट को न गमी । सम्राट ने उसे बाँधकर बर्फीली नदी में खड़ा कर दिया । सम्राट ने तो सोचा कि शायद वह बर्फ में जमकर मर गया होगा, किन्तु वह योगी सम्राट के सामने दूसरे दिन भला चंगा खड़ा था । पूछताछ करने पर एक सैनिक-प्रहरी ने कहा— यह रात भर नदी में खड़ा उस दीये को निहारता रहा, जो आपके महल में जल रहा था । सम्राट ने कहा, यह धोखा है । तुम दीये के ताप के सहारे नदी में रहे ।

योगी सम्राट के तर्क पर मुस्कराया । उसने थोड़े दिनों बाद सम्राट को दावत दी । सम्राट सुबह ग्यारह बजे ही भोजन के लिए पहुँच गया । सन्त ने बताया, भोजन तैयार हो रहा है, परन्तु दोपहर होने तक भी भोजन न मिला । सम्राट ने पूछा, क्या बात है ? अभी तक भोजन नहीं पका ? सन्त ने कहा, पक रहा है । आखिर सांझ होने को आ गयी । सम्राट बेचैन हो उठा । भूख के मारे बड़ी दयनीय दशा हो गयी थी उसकी । वह जब भी भोजन के लिए पूछे, सन्त की एक ही बात सुनने को मिलती— 'पक रहा है महाराज ! बहुत जल्दी पक जाएगा' ।

भोजन किये बगैर लौटना भी राजा को न जचा ।

अन्त में राजा का धीरज टूट गया । वह उसके रसोईघर में गया, क्योंकि खाना पकाने में इतनी देर तो लग ही नहीं सकती थी । राजा देखता क्या है कि चूल्हे पर बड़ा भारी पतीला रखा है और उसमें चावल भरा है, मगर चूल्हे में आग का एक अंगारा भी नहीं । सम्राट बोला, मूर्ख ! यह तू क्या कर रहा है ? यों यह चावल कैसे पकेगा ? सन्त ने कहा— उसी दीये की आग से हम चावल पका रहे हैं, जिसके ताप से हम उस रात बच गये थे, महल के दीये से ।

कहीं यही दुर्दशा तो हमारी नहीं है कि साधक और साध्य में इतनी दूरी बनी हुई है, जितनी पतीले और महल के दीये में है, तबेला तो चढ़ा रखा है मन का, इतना बड़ा, और आग का कहीं कोई पता ही नहीं है । यदि है भी तो एक-दो अंगारे । आग प्रभावी हो, पूरी हो ।

जैसे सारी सरिताएँ सागर में जाकर समा जाती हैं; वैसे ही जब सारी इच्छाएँ उस परम तत्त्व की खोज में, उपासना में समर्पित होंगी, तो समाधि और परमात्मा के द्वार उसी वक्त खुल जाएँगे । ऊर्जा की, आग की सघनता से ही पानी उबलेगा, भाप की तरह ऊर्ध्वगमन करेगा ।

जो चलता है, अनवरत चलता है, वही गंगोत्री से गंगासागर तक की यात्रा पूरी करता है । फिर 'बूँद' नहीं रहती । वह सागर हो जाती है । ज्योति परम ज्योति में शाश्वत समाधिस्थ हो जाती है । चेतना के हर चरण पूरे हो जाते हैं । वह चैतन्य-पुरुष हो जाता है । चलने वाला कृत है, सत् है, स्वर्ण है और पार पहुँचाने वाला अमृत है, अमर है, प्रकाश-से-सराबोर है ।



ॐ : मन्त्रों-का-मन्त्र

‘तस्य वाचकः प्रणवः’- ‘प्रणव’ ईश्वर-का-वाचक है । प्रणव का अर्थ है ॐ । ॐ ध्वनि-विज्ञान की परा-ध्वनि है । ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण संकोच और विस्तार ध्वनि से ही सम्पादित हुआ है । सन्त-मनीषी लोग ध्वनि को ही विश्व की प्रथम अस्मिता मानते हैं ।

वैज्ञानिकों के अनुसार संसार की मूल ऊर्जा विद्युत रही है, किन्तु ऋषि-महर्षियों ने ध्वनि को मूल ऊर्जा माना है । वैज्ञानिक विद्युत को पहला चरण मानते हैं और ध्वनि को दूसरा । जबकि मनीषी सन्तों ने ध्वनि को पहला चरण माना है और विद्युत को अगला । ध्वनि से ही विद्युत पैदा होती है ।

वैज्ञानिकों और तत्त्व-मनीषियों में ध्वनि और विद्युत को लेकर थोड़ा-बहुत मतभेद हो सकता है, किन्तु दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत हैं कि ये ऊर्जा के अगुवा चरण हैं । बाइबिल में ‘ध्वनि’ बनाम ‘सबद’ को ही पहले-पहल माना है । यीशू कहते हैं शुरू में ‘सबद’ ही था- ‘इन द बिगनिंग देयर वाज वर्ड’ । प्रारम्भ में सिर्फ शब्द था । ‘ऑनली दि वर्ड एग्जिस्टेड एण्ड नर्थिंग एल्स’ । शुरू में केवल शब्द ही था । शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं था । इसलिए हमारी साधना हमें उस शब्द की ओर ले जाती है, जो हम सबसे पहले था । इसलिए जिसने एक शब्द के सम्पूर्ण अन्तरंग को जान लिया, उसने समग्र ज्ञान को आत्मसात् कर लिया ।

‘शब्द’ का अर्थ वह नहीं है, जो हम अपने होठों से बोलते हैं । शब्द का सम्बन्ध हिन्दी-अंग्रेजी के अक्षरों से नहीं है । एक शब्द तो वह होता है, जिसका उच्चारण मनुष्य करता है और एक शब्द वह है, जिससे मनुष्य स्वयं उच्चारित हुआ है । शब्द से ही विद्युत बनी और विद्युत से

ही मनुष्यता के चरण बढ़े । जब मनुष्य वापस अपने शब्द पर लौट आयेगा, तो उसकी मनुष्यता भगवत्ता का रूप अंगीकार कर लेगी ।

एक बात तय है कि ध्वनि में ऊर्जा समायी हुई है । यदि ध्वनि की शक्ति का प्रयोग किया जाये, तो हम सर्दी में भी गर्मी का अहसास कर सकते हैं । हिमालय की पहाड़ियों में रहने वाले नंगे बाबा लोग ध्वनि के परा-विज्ञान से परिचित हैं । आम आदमी का तो गर्मियों के मौसम में भी हिमालय में रहना कठिन होता है । वहीं ये सन्त-योगी लोग भयंकर बर्फीली सर्दी में भी सहज भाव से रहते हैं और वह भी पूरी तरह नग्न । कड़्यों ने वस्त्र भी पहन रखे हैं, तो वह सिर्फ अंग ढकने जितने हैं । निश्चित तौर पर उन्होंने ध्वनि से उच्चताप पैदा करने की प्रक्रिया का आविष्कार कर लिया है । वे अपने श्वासोश्वास में ही ध्वनि का एक गहनतम मंथन करते हैं । योग-मार्ग में जिस प्राणायाम को अधिक महत्व दिया गया है, यदि हम समग्र और प्रखर हो जायें तो सर्दी के मौसम में भी शरीर से पसीना चूने लगता है । शरीर में भी एक तापमान होता है । श्वास में भी ऊष्णता होती है । यदि ठिठुरते हुए दोनों हाथों को मिलाकर जोर से मला जाये तो हाथ में भी गर्माहट आ जाती है । ऐसे ही श्वास को भी तीव्र गति के साथ लिया-छोड़ा जाये, तो शरीर में आग पैदा हो जाती है ।

तिब्बतियन बौद्ध भिक्षु बर्फीले मौसम में भी शरीर से पसीना निकाल लेते हैं । इसके लिए वे उच्च ध्वनि-उच्चार का प्रयोग करते हैं, उनका एक प्रसिद्ध मन्त्र है— "ॐ मणि पद्मेहुम्" । वे इसे बड़े जोर से रटते हैं और बड़े तीव्रगामी वेग के साथ । निश्चित तौर पर ऐसा करने से शरीर में गर्मी पैदा होगी । ऊष्णता के सम्पादन का कार्य मन्त्र नहीं करता; शब्द या मन्त्र को दोहराने की त्वरा और तीव्रता करती है । मन्त्र इतनी तीव्रता पकड़ लेता है, मानो ओवरलेपिंग हो । मन्त्रोच्चार में सन्धि अंश-भर भी न रहे । ऐसी स्थिति हो जाये जैसे दो किलोमीटर दौड़ने के बाद होती है । हाँफने लग जाये वह ।

एक सन्त हुए सहजानन्दधन । वे योगी थे । सर्दी के मौसम में वे बीकानेर के रेगिस्तानी टीलों पर साधना किया करते । अन्धकार-से-भरी

रातें, हिमवात-पिटी बालू, शरीर पर मात्र एक लंगोटी और खुला आकाश, ठिठुरती हवाएँ । आम आदमी तो दो कम्बल ओढ़ कर भी सहन नहीं कर पाता, किन्तु लोगों ने उन्हें तब भी पसीने से तरबतर पाया । उनसे पचास कदम दूर बैठा आदमी भी उनके अन्तःस्तल में गूँजती ध्वनि और सांस की तीव्रता का अहसास कर सकता था । यदि एक ही ध्वनि का निरन्तर उच्चार करते चले जाओ, तो ताप पैदा होगा-ही-होगा ।

तानसेन के बारे में हम जानते हैं कि जब वह मल्हार-राग छेड़ता तो जंगल के जानवर उसके पास चले आते । आश्चर्य तो यह है कि शेर और हिरन— दोनों एक ही मंच पर आकर उसे सुनने लगते । कहते हैं कि तानसेन के दीप-राग से महल के दीये जल उठते थे । यह ध्वनि की एक सिद्धहस्त पराकाष्ठा है ।

हाल ही, मास्को में मनोचिकित्सकों का एक सम्मेलन हुआ । जिसमें गहरी छानबीन के बाद यह निर्णय लिया गया कि कुछ संगीत ऐसे होते हैं, जो व्याधि-निरोधक शक्ति पैदा करते हैं । कुछेक विशिष्ट लोकगीत भी ऐसे होते हैं, जो पशुओं के आरोग्य के लिए लाभदायी सिद्ध हो सकते हैं । मानसिक एकलयता प्राप्त करने में भी संगीत कारगर साबित हुआ है ।

जापान का योषिहिकोहिटो भी अपनी तीव्र ध्वनि के लिए काफी चर्चित है । कहा जाता है कि जब वह अपने मुँह से आवाज निकालता है, तो तीव्र गति से चलने वाली रेलगाड़ी की आवाज भी उसके सामने मन्दी पड़ जाती है । लोगों का दावा है कि उसकी आवाज रेलगाड़ी की आवाज से भी पन्द्रह गुनी जोर की होती है ।

सैनिकों की परेड देखी होगी आपने । सौ सैनिकों के पाँव एक साथ उठते हैं और एक साथ ही नीचे गिरते हैं । यह जूतों की ध्वनि का अनुशासन है । सौ सिपाहियों के पांवों की एक आवाज तोप के गोले के बराबर कही जाती है ।

ध्वनि की उच्चता से तो कानों के पर्दे फट सकते हैं, आदमी पागल तक हो सकता है । यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है । अमेरिका और कई प्रदेशों में इसीलिए पॉप-संगीत बजाने पर पांबंदी लगा दी गई है ।

लोग उसके कैसेट्स सुनने से भी डरने लगे हैं। पॉप सैकड़ों लोगों की मृत्यु का कारण बना है। मोजल्ट के संगीतों में एक संगीत है "नाइन्थ सिंफोनी"। उस पर भी रोक लगा दी गई है।

वस्तुतः ध्वनि में ऊर्जा की एक विशेष सम्भावना है। योग-मनीषा के अनुसार तो ध्वनि प्रणव है, और प्रणव ईश्वर का वाचक है। ध्वनि शाब्दिक है, अशाब्दिक भी।

सबद सबद बहु अन्तरा, सार सबद चित देय ।
जो सबदे साहब मिलै, सोई सबद गहि लेय ॥

‘सबद’ और ‘शब्द’ में बहुत अन्तर है। जो शब्द हम उच्चारते हैं वे तो बोल-चाल के हैं। उन शब्दों से भगवत्ता नहीं मिला करती। जिन्हें हम शब्द कहते हैं, उनसे तो हमें ऊपर उठना होगा। उस पराशब्द का श्रवण तो भीतर की निःशब्द-यात्रा से सम्भावित है। वह शब्द अभी भी है। हमारे भीतर उसे सुना जा सकता है। वह शब्द ‘ॐ’ है। ॐ हमारी चेतना के अन्तस्थल में केन्द्रित है। क्योंकि ॐ परमात्मा का वाचक है और परमात्मा हमारा हमारे भीतर है। तो निश्चित तौर पर ॐ भी हमारे भीतर है। इसकी अनुगूँज सुनायी दे सकती है। यह मूल ध्वनि है, न केवल हमारी वरन् सम्पूर्ण जगत् की भी। विचारों से जितने शान्त बनोगे, उसकी अनुगूँज उतनी ही साफ सुनाई देगी। परम शान्ति में ही परम अस्तित्व रहता है।

चित्त की परम शान्ति में शब्द ध्वनित नहीं होते। वहाँ तो हमारा अस्तित्व ही ध्वनित होने लगता है। उस ध्वन्यावस्था का नाम ही ‘ॐ’ है। यह वह क्षण है जब गंगोत्री गंगा में समा जाती है। "सुरत समानी सबद में"— जब हमारी सारी स्मृति इस मूल शब्द में समा जाती है, तो व्यक्ति काल-मुक्त पुरुष हो जाता है। अमृत बरसने लगता है। वीणा नहीं होती, तब भी संगीत सुनायी देता है।

यह परा-संगीत ही किसी को आगम के रूप में सुनायी दिया, किसी को वेद-उपनिषद के रूप में, किसी को कुरान, बाइबिल या पिटक के रूप में। यह संगीत हमारी चेतना की मूल ध्वनि है। हर व्यक्ति एक स्वतन्त्र चेतना है। इसलिए सबके संगीत अपने-अपने ढंग के होते हैं। हम से भी ऐसा ही

अनूठा-निराला संगीत पैदा हो सकता है। जहाँ बजेगी अनहद की बाँसुरी।

‘अनहद बाजत बाँसुरिया’— वह वंशी-रव सुनायी देता है, जिसे अनाहत कहा गया है। जब जप और अजपा-जप दोनों के पार चलोगे, तभी अनाहत साकार होगा। अनाहत का अर्थ होता है, जो बिना बजाये बजे। दो होठों से तो हर कोई आवाज कर सकता है। खोजो वह स्थान, जहाँ बिना अधरों के भी आवाज होती है। दो हाथों से तो बच्चा भी ताली बजा लेगा। साधना तो उस स्थान को ढूँढ़ने का नाम है, जहाँ एक हाथ से ताली बजती है।

वह स्थान आत्म-तीर्थ है। वह अनुगूँज आत्मा की झंकार है। अगर हम विचारों और शब्दों से ही भरे रहे, तो उस परा-झंकार से कोषों दूर रह जायेंगे।

मनुष्य जन्म से मृत्यु तक मात्र शब्दों की ही यात्रा करता है। शब्द ही कभी अहंकार का कारण बन जाते हैं, तो कभी क्रोध के। किसी ने अच्छे शब्द कह दिये तो तुम मुस्करा उठे और बुरे कह दिये तो अपने को अपमानित महसूस करने लगे। शब्दों ने ही अहंकार को बनाया और शब्दों ने ही क्रोध को। देखा नहीं, आदमी शब्दों के माया-जाल के कितना पीछे पड़ा है ! सुबह से शाम तक वह शब्दों के दायरे में फलता-फिसलता रहता है। आखिर दूसरों के शब्दों से मिलेगा क्या ? सम्मान मिल जायेगा, प्रशस्तियाँ मिल जाएंगी, प्रशंसा मिल जायेगी। मात्र शब्द-व्यवस्था को व्यक्ति ने अपना सम्मान और स्वाभिमान मान लिया है। यह प्रशंसा नहीं, मात्र छलावा है। अपने आपको मात्र शब्दों से भरना है।

‘सुधा’ कह रही थी कि मैंने अखबार पढ़ना छोड़ दिया, क्योंकि अखबार पढ़ना तो स्वयं को शब्दों से भरना है।

धन्यवाद। अन्तर्यात्रा तो निःशब्दता से प्रारम्भ होती है। लोगों में अखबार पढ़ने की आदत इतनी आम हो गई है कि उन्हें सोने से पहले तो जासूसी उपन्यास चाहिये और सुबह जगकर बैठते ही राजनीति की करतूतों को बताने वाला अखबार चाहिये। क्या हमें जासूसी करनी है या राजनीति के दाव-पेंच लड़ने हैं ?

आश्चर्य तो तब होता है जब सन्त-महात्मा और साधु-मुनि लोग भी

अखबारों को पढ़ने में रोजाना अपने दो-चार घण्टे बरबाद करते हैं। अखबार राजनीति-की-शतरंज मात्र बन गया है। पता नहीं, उन्होंने संन्यास निःशब्द और निर्विकल्प होने के लिए लिया है, या अपने अन्तर्जगत को शब्दवेत्ता और विचारक बनाने के लिए। धर्मशास्त्र पढ़ते तो बात जचती भी। मुझे बड़ा ताज्जुब होता है जब मैं किसी सन्त-मुनि को महज व्याकरण के सूत्र रटते हुए देखता हूँ। वह मुनि जीवन के दस-बारह साल तो संस्कृत के व्याकरण सूत्रों को रटने और सीखने में लगा लेता है। अरे भाई ! तुम्हें तो मुनि बनना है, पण्डित नहीं। पण्डित तो प्रोफेसर बहुत हैं, किन्तु वे प्रोफेसर मुनि नहीं हैं। सन्तत्व तो जीवन की सम्राट्टा है, स्वयं के अहोभाव में डूबना है।

मैंने पाया है, एक साठ वर्ष के वृद्ध व्यक्ति ने संन्यास लिया और दूसरे दिन ही उसके गुरु ने उसे पाणिनी का व्याकरण पकड़ा दिया। अब बिचारा वह बूढ़ा सन्त सुबह-शाम 'अइउण्, ऋलृक्' जैसे सूत्रों को रट रहा है। मृत्यु उसके सामने खड़ी है। क्या वे भाषा-पढ़ाऊ सूत्र उसे बचा पाएंगे, डूबते के लिए तिनका का सहारा बन जाएंगे ? आचार्य शंकर कहते हैं—

भज गोविंदम्, भज गोविंदम्, भज गोविंदम् मूढमते ।
सम्प्राप्ते सन्निहिते काले, नहि नहि रक्षति डुं-कुं करणे ॥

मात्र शब्दों के भार से अपने को मत भरो। अनाहत नाद तो निःशब्दता को, पहली शर्त मानता है। यदि शब्द को ही साधना है, तो उस शब्द को पकड़ो जिससे सब प्रकट हुए हैं—

साधौ सबद साधना कीजै ।
जेहि सबद ते प्रगट भये सब, सोई सबद गहि लीजै ॥

उसी परम शब्द को पकड़ो, ॐ को ही साधो। ॐ को ही जपो। ॐ की ही प्रतिध्वनि सुनो। ॐ में ही रस लो। ॐ में बड़ा आकर्षण है। 'रसो वै सः' वह रस रूप है। परमात्मा रस रूप है। 'ॐ' परमात्मा है, उसमें डूबो। रोम-रोम से उसी का रस पियो।

'ॐ' ध्यान की मौलिक ध्वनि है। 'ॐ' का ध्यान हम चार चरणों में पूरा कर सकते हैं। इन चार चरणों का कुल समय पैतालीस मिनट

होना चाहिये । पहला, दूसरा और तीसरा चरण दस-दस मिनट का है और अन्तिम चरण पन्द्रह मिनट का ।

ध्यान-योग के पहले चरण में ॐ का पाठ करो । उसका लम्बा उच्चारण करो यानि उसका जोर से रटन करो । दूसरे चरण में होठों को बन्द कर लो और भीतर उसकी अनुगूँज करो । जैसे भौरे की गूँज होती है । वैसी ही ॐ की गूँज करो । तीसरे चरण में मनोमन 'ॐ' का स्मरण करो । श्वांस की धारा के साथ 'ॐ' को जोड़ लो । तल्लीनता इतनी हो जाये कि श्वांस ही 'ॐ' बन जाय । चौथे चरण में बिल्कुल शान्त बैठ जाओ ।

पहला चरण पाठ है, दूसरा चरण जाप है, तीसरा चरण अजपा है और चौथा चरण अनाहत है । चौथे चरण में पूरी तरह शान्त बैठना है, स्मृति से भी मुक्त होकर । इस शान्ति के क्षणों में ही अनाहत की सम्भावना दस्तक देगी ।

'ॐ' परमात्मा का ही घोटक है । इसलिए इसमें रचो । यह महामन्त्र है । सारे मन्त्रों-का-बीज है यह । हर मन्त्र किसी-न-किसी रूप में इसी से जुड़ा है । इसलिए ॐ मन्त्र, मन्त्रों की आत्मा है, योग की जड़ है ।

एक पेड़ में पत्ते हजारों हो सकते हैं, पर जड़ तो एक ही होती है । जिसने जड़ को पकड़ लिया, उसने जड़ से जुड़ी हर सम्भावना को आत्मसात् कर लिया ।

'ॐ' कालातीत है, अर्थातीत है, व्याख्यातीत है । परमात्मा भी इसी में समाया हुआ है और यह परमात्मा में समाया हुआ है । ईसाइयों का आमीन 'ॐ' ही है । जैनों ने 'ॐ' में पंच परमेष्ठि का निवास माना है । हिन्दुओं ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश का संगम माना है इसे । परमात्मा में डूबने वाले 'ॐ' में डूबें । ॐ से ही अस्तित्व ध्वनित होता है । 'ॐ' से ही परमात्मा अस्तित्व में घटित होता है ।

'ॐ शान्ति' - इसके आगे और कोई चरण नहीं है ।



सार्वभौम है ॐ

‘ॐ’ की ध्वनि-संहिता अत्यन्त सूक्ष्म है। यह अखण्ड शब्द है। इसके खण्ड और विभाग करने के प्रयास तो किए गये हैं; किन्तु इससे ‘ॐ’ की अखण्डता को कोई चोट नहीं पहुँचती है। हाँ, यदि ‘ॐ’ को खण्डित न किया जाता, तो शायद विश्व के सारे धर्मों का एक ही मन्त्र और एक ही प्रतीक होता— ‘ॐ’ ।

‘ॐ’ के मुख्यतः तीन खण्ड किये गये हैं, ‘अ’, ‘उ’, ‘म’— यानी ‘ए’, ‘यू’, ‘एम’ । संस्कृत से निष्पन्न सभी भाषाओं का प्रथम स्वर ‘अ’ है। ‘अ’ आश्चर्य का घोटक है। जब कोई व्यक्ति बोलते-बोलते अटक जाता है, तो उसके मुँह से अटकाहट के रूप में ‘अ’ ही निकलता है। आनन्द के क्षणों में भी कण्ठ-यन्त्र से ‘अ’ ही निष्पन्न होता है। ‘अ’ तो आदि ध्वनि है। ‘अ’ से पूर्व कोई भी वर्ण होठों से निकल नहीं सकता। यदि किसी वर्ण से ‘अ’ का लोप कर दिया जाये, तो वह वर्ण से सीधा व्यंजन बन जाएगा। सम्पूर्ण भाषा-तन्त्र की बैसाखी ‘अ’ ही है। इसलिए ‘ॐ’ का प्रथम स्वर ‘अ’ को मानना भाषा के सम्पूर्ण रचना-तन्त्र को ‘ॐ’ से अनुस्यूत स्वीकार करना है।

कहते हैं जब पाणिनी ने शिव का डमरू-नाद सुना, तो उसके नाद में पाणिनी को चौदह सूत्र सुनायी दिये। सारे सूत्रों का शिरोमणि ‘अ’ बना। ‘अ’ के हटते ही शब्द की पूर्णता को लंगड़ी खानी पड़ती है। ‘अ’ की आदिम पराकाष्ठा को स्वीकार करने के कारण ही श्रमण-परम्परा ने अपने धर्म-चक्र-प्रवर्तकों को तीर्थकर कहने के बजाय अर्हत् और अरिहन्त कहना ज्यादा उचित माना। वे तीर्थकर की वन्दन-विरुदावली गाते हैं, तब प्रारम्भ ‘णमो अरिहंताणं’ से करते हैं। यदि वे ‘णमो तित्थयराणं’ कहें तो कह सकते हैं, परन्तु वे ‘ॐ’ से हटना नहीं चाहते। क्योंकि ‘ॐ’ का ‘अ’

श्रमण-परम्परा के अनुसार अरिहन्त का वाचक है। इसलिए 'ॐ' अर्हत्-मनीषा का मूल प्रतीक है।

'अ' प्रथम स्वर है, तो 'उ' हिन्दी के अनुसार तो छठा अक्षर है और संस्कृत के अनुसार 'उ' तीसरा स्वर भी है और पांचवां स्वर भी है। 'उ' स्वर ऊर्ध्वगामी होता है। 'उ' ठेठ नाभि से निपजता है। 'उ' का काम है मानसिक वेदना और व्यथा को व्यक्ति से अलग करना। सम्पूर्ण 'ॐ' में 'उ' ही ऐसा वर्ण है, जिसके उच्चारण से शरीर के सारे अवयव प्रभावित और स्पन्दित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति मानसिक तनाव से घिर जाये, तो उससे मुक्ति के लिए वह 'उ' का जोर-जोर से उच्चार करे। 'उ' को वह इस प्रकार बोले कि मानो वह सिंहनाद कर रहा हो। यह प्रयोग व्यक्ति को आश्चर्य-चकित कर डालेगा। शरीर पसीना-पसीना होने लगेगा। जब 'उउ', 'उउ' करते थककर चूर हो जाओ तो शान्त हो जाना। पहले दस मिनट तक तो बोलना और अगले दस मिनट तक शान्त पड़े रहना।

'उ' का यह वेदना-मुक्ति हेतु किया जाने वाला मन्त्रयोग है, ध्यान का एक मार्ग है। एक नयी ताजगी देगी यह प्रक्रिया। शरीर को तन्दुरुस्त व मन को स्वस्थ पाओगे।

'ॐ' का अन्तिम वर्ण 'म्' व्यञ्जन-वर्ग का आखिरी सोपान है। जो 'अ' से चालू हुआ, 'उ' की ऊंचाइयों को छुआ और 'म' तक पहुँचा, उसने मंजिल पा ली। 'अ' से 'म' की यात्रा 'ॐ' की यात्रा है। और 'ॐ' की यात्रा परमात्मा की यात्रा है। परमात्मा 'ॐ' से कभी अलग नहीं हो सकता। 'ॐ' में ही समाया हुआ है परमात्मा। ब्रह्म-बीज है यह। 'ॐ' से ही निकली है सारे महापुरुषों और धर्म-प्रवर्तकों की रश्मियां। भूमा होने का अर्थ ही यही है कि व्यक्ति ने विराटता को प्राप्त कर लिया। एक बात तय है कि 'ॐ' सबसे विराट है। 'ॐ' से अधिक विराट नहीं हुआ जा सकता। इसलिए जो 'ॐ' हो गया, वह अरिहन्त हो गया। 'ॐ' होना ही 'हरि ॐ' होना है। 'ॐ' से ही यात्रा की शुरुआत है और 'ॐ' से ही उसका समापन। बिना 'ॐ' की साधना अपंग है।

'ॐ' और 'स्वस्तिक' का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। 'ॐ' यदि भारत की

आवाज है तो 'स्वस्तिक' उसकी अस्मिता । 'स्वस्तिक' कर्म-योग का परिचायक है । एक दृष्टि से तो स्वस्तिक कर्म-योग के प्रतीक माने जाने वाले सुदर्शन-चक्र से भी उत्तम है । 'चक्र' संहार कर सकता है, किन्तु स्वस्तिक का काम निर्माण करना ही है । 'स्वस्तिक' में चार दिशाएं हैं, यानी स्वस्तिक का काम हुआ हर दिशा में व्यक्ति को आगे बढ़ने देने की प्रेरणा देना । स्वस्तिक महा प्रतीक है भारतीयता का, कर्मठता का, जागरूकता का । उसके पास तिरस्कार नहीं छोटे लोगों के प्रति, मात्र करुणा है । वह उनका संहार नहीं करता, वरन् उनका सुधार करता है । जो अच्छे हैं, वे आगे बढ़ें और जो बुरे हैं, वे सुधरें । मगर वे भी आगे बढ़ें; जो अच्छाई के मार्ग पर सक्रिय हैं । इसलिए 'स्वस्तिक' जीवन-जागरण और कर्मयोग का महान् सन्देश-वाहक है ।

'स्वस्तिक' के अलग-अलग कोणों से जुड़ी रेखाएं अलग-अलग धर्मों का भी प्रतिनिधित्व करती हैं । मार्ग/रेखाएं चाहे जिस दिशा से आयें, किन्तु हर रेखा केन्द्र तक पहुँचती हैं । 'ॐ' 'स्वस्तिक' का केन्द्र है । चाहे जिस मार्ग से चलो या जिस पंथ का अनुगमन करो, चाहे स्वयं के बल पर चलो और चाहे किसी के सहारे । सब की गन्तव्य-पूर्ण यात्रा ब्रह्म-स्वरूप ओम् पर केन्द्रित है और वहाँ तक जाना और ले जाना ही अध्यात्म का उद्देश्य है ।

'ॐ' को हम मात्र शब्द न कह कर जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यंजना ही कहेंगे । 'ॐ' को हमने शब्द माना, इसीलिए 'अ' 'उ' 'म' के रूप में 'ओम्' के अलग-अलग विभाग खोले । 'ॐ' तो जीवन की अन्तर्प्रतिष्ठा है । शब्द को जीवन से अलग किया जा सकता है, लेकिन जीवन को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता । 'ॐ' तो गूंगे में भी प्रतिष्ठित है और बहरे में भी । 'ॐ' तो पंचम स्वर है । इसकी करुणा के द्वार खुलने पर गूंगा गूंगा नहीं रह जाता । बहरा बहरा नहीं रह पाता । उसका हृदय ही अभिव्यक्त हो उठता है । हृदय बोलता है 'ॐ' । होठों से 'ॐ' बोलना तो अभिव्यक्ति की एकाग्रता और मानसिक ऊहापोह-पर-चोट है । 'ॐ' का प्रबल दावेदार तो वह है जिसका हृदय खुल गया है । हृदय से उमड़ने वाला 'ॐ' तो अमृत का निर्रर है । आनन्द से भिगो देता है वह, निहाल हो जाता है उसका रोम-रोम ।

'एक ओंकार सतनाम'— परम सत्य का नाम तो एक ही है । चैतन्य और आनन्द सच्चिदानन्द के सत्य से ही जुड़े हुए हैं । सत् का सीधा सम्बन्ध

आत्म-अस्तित्व और परमात्म-सम्पदा से है ।

‘ॐ’ के तीन वर्ण— अ, उ, म त्रिदेव— ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं । इन्हीं तीन वर्णों का प्रतीक बना है शिव-शक्ति का त्रिशूल । आदिनाथ के अ से ओम् की शुरूआत है और महावीर के म पर ‘ओम्’ का उपसंहार । चाहे जितने अवतार, बुद्ध-पुरुष और तीर्थंकर क्यों न होते रहें, सब ॐ-ही-ॐ होते रहेंगे ।

संसार के किसी भी कोने में चले जाओ, ‘ॐ’ का पूर्ण या अपभ्रंश मिल ही जायेगा । बिना ‘ओम्’ के हर धर्म अधूरा है । धर्म जीवन का स्वभाव है, सांसों में रमने वाला व्यक्तित्व है और ‘ॐ’ अस्तित्व की परम उपज और चरम झंकृति है ।

ओम् जहाँ भी गया, जिस भी रूप में भी गया, सबका आराध्य और मन्त्रों का ताज बनकर रहा । यदि भारतवासियों को अपने अध्यात्म का एक ही प्रतीक विश्व के सामने पेश करना हो, तो ‘स्वस्तिक’ और उसके नाभि-स्थल में ‘ओम्’ को दर्शाना चाहिये । अब तो ईसाइयत भी ओम् को स्वीकार करने लग गयी है । वे मानने लग गये हैं कि उनका ‘आमीन’ उच्चारण वास्तव में ‘ओम्’ का ही अपभ्रंश या परिवर्तित रूप है । जब मैंने कई ‘चर्चों’ पर क्रॉस के बीच ‘ओम्’ को प्रतिष्ठित देखा, तो मुझे लगा कि ईसाइयों का यह प्रतीक अध्यात्म और कर्म-योग का संगम है । ‘ओम्’ भारत से यहूदी देश पहुँचते-पहुँचते ‘आमीन’ हो गया और ‘स्वस्तिक’ ‘क्रॉस’ । ‘क्रास’ स्वस्तिक का ही परिवर्तित रूप है । आखिर स्वस्तिक ने कितनी लम्बी-चौड़ी यात्रा की । यात्रा में वह घिसा भी, कटा भी और जो रूप बचा उसे हम आज क्रॉस के रूप में देख रहे हैं ।

स्वस्तिक केवल कर्म-योग का ही परिचायक नहीं है, वरन् स्वास्थ्य का भी प्रतीक है । ‘वर्ल्ड हैल्थ ऑर्गेनाइजेशन’ ने ‘रेडक्रॉस’ का चिह्न स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के प्रतीक के रूप में माना है । उसकी ‘स्वस्तिक’ से बड़ी समानता है । रेडक्रॉस का सम्बन्ध मात्र स्वास्थ्य-सेवा से है; जबकि स्वस्तिक का सम्बन्ध जीवन की समग्रता से है ।

‘स्वस्तिक’ गति है और ‘ओम्’ शान्ति । विकास और आनन्द दोनों क् सन्देशधारी है यह । ‘स्वस्तिक’ क्रास बना तो ‘ओम्’ का भी स्वरूप बदला ।

‘ओम्’ केवल शब्द नहीं है । शब्द-के-रूप में उसे लिखा भी नहीं जाता । ‘ओम्’ तो चित्र है । निःशब्द की यात्रा में शब्द छूट जाता है और चित्र उभर आता है । इसलिए हम ‘ओम्’ न लिख कर ‘ॐ’ लिखते हैं । यह ‘ॐ’ लिखने में अभ्यास ऐसा हो गया है कि वह हमें चित्र के बजाय शब्द ही लगने लग गया है और किसी चित्र को बनाने के लिए तूलिका चाहिए पर ‘ॐ’ तो कथनी और लेखनी के साथ इतना जुड़ गया है कि उसका चित्र कलम से ही पूरा हो जाता है । एक बच्चा भी चित्र बना सकता है ‘ॐ’ का । जो ‘अ’ लिख सकता है, वह ‘ॐ’ भी लिख सकता है । ‘ॐ’ चित्र-रूप में रहा । जैसलमेर के प्राच्य भण्डारों में कई चित्र ‘ॐ’ के विभिन्न रूपों में उपलब्ध हैं ।

‘ॐ’ शब्द-रूप में भी रहा । ‘ॐ’ का इस्लाम से भी सम्बन्ध है । ‘ओम्’ का ‘अ’ ‘अल्लाह’ बन गया और ‘ॐ’ के सिर पर दर्शाया जाने वाला रूप इस्लाम का अर्धचन्द्र बन गया । इस्लाम में आधे चाँद की बड़ी इबादत और इज्जत है । आधा चाँद ‘ॐ’ का ऊपर का हिस्सा है । ‘ॐ’ इतना घिस गया कि उसका अर्धचन्द्र-रूप ही बच पाया । चाँद का आधा रूप इस्लाम का धर्म-प्रतीक है । इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जैन-धर्म में तो निर्वाणधाम का रूप ही अर्धचन्द्राकार माना है । यहाँ इसे सिद्धशिला कहा जाता है । सिद्धशिला संसार से ऊपर है । ‘ॐ’ पर अंकित किया जाने वाला चन्द्राकार ‘ॐ’ का ऊर्ध्व-प्रतिष्ठित रूप है । अर्धचन्द्र तो सिद्धशिला का द्योतक है और उसके अन्दर दिया जाने वाला बिन्दु सिद्ध एवं मुक्त आत्माओं का प्रतीक है ।

‘गिरह हमारा सुन्न में अनहद में विश्राम’ । ‘0’ शून्य ही सिद्धत्व का घर है । बिना आधार के भी वह घर टिका है । सिद्धशिला को लोकाकाश के ऊपरी और अखिरी छोर पर मानना न केवल शून्य में सिद्धत्व की अभिव्यक्ति है, अपितु अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष-के-पार अवस्थिति को स्वीकृति भी है ।

घर बने शून्य में और विश्राम हो अनहद में, ओंकारेश्वर में ।

‘ततः प्रत्यक्चेतना अधिगमः अपि अन्तराय-अभावश्च’— पंतजली ‘ॐ’ को ही वह प्रबल साधना मानते हैं जिससे अन्तराय टूटते हैं और चेतना का

ज्ञान होता है। अन्तराय का अर्थ होता है बाधा। अन्तराय तो पर्दा है। चेतना-जगत् के इर्द-गिर्द पता नहीं कितनी परतें/पर्दे हैं। हर अन्तराय चित्त का विक्षेप है। विक्षिप्त मनुष्य अन्तर्यात्रा में दिलचस्पी नहीं ले पाता। व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति/आसक्ति, भ्रान्ति, लक्ष्य की अप्राप्ति और अस्थिरता— ये प्रमुख अन्तराय और चित्त-विक्षेप हैं। 'ॐ' में वह शक्ति एवं क्षमता है कि वह हर बाधा को कमजोर करता है, उसे जीवन-पथ से हटने को मजबूर करता है।

शरीर का रुग्ण रहना स्वाभाविक है, किन्तु निरोग होना चमत्कार है। 'ॐ' मनोवैज्ञानिक ध्वन्यात्मक चिकित्सा है। 'ॐ' को यदि हम प्रखरता के साथ आत्मसात् होने दें तो जैसे शरीर से पसीना बाहर निकल आता है वैसे ही रोग भी शरीर से दूर हट जाते हैं। शरीर को संयमित रखना और संयमित आहार ग्रहण करना 'ॐ' की व्याधि-मुक्ति प्रक्रिया को और बल देना है। 'ॐ' में थिर होने वाला स्वास्थ्य-लाभ और अप्रमत्तता तो क्या आत्म-स्थिरता/स्थितप्रज्ञता को उपलब्ध कर लेता है। 'ॐ' तो अनमोल शब्द है। हीरों के दाम होते हैं, 'ॐ' हर मोल से ऊपर है।

सबद बराबर धन नहीं, जो कोई जाने बोल।

हीरा तो दामों मिले, सबदहिं मोल न तोल ॥ — कबीर

'ओम्' तो परा-ध्वनि है, भाषा-जगत का सूक्ष्म विज्ञान है। 'ॐ' को ही अपनी ध्वनि बनने दो और उसी की प्रतिध्वनि स्वयं पर बरसने दो। 'ओम्' की प्रतिध्वनि जब स्वयं हम पर ही लौट कर आयेगी, तो उसकी प्रभावकता केवल कर्मांश ही नहीं, रोम-रोम से हमारे भीतर प्रवेश करेगी। हर रोम कान बन जाएगा और एक ग्राहक की तरह ग्रहण करेगा। कान ग्राहक है। आँख का काम घूरना है, जबकि कान का वरण करना। श्रवण का उपयोग करने वाला श्रावक है और महावीर की मनीषा में 'श्रावक' होना जीवन के राष्ट्र-द्वार पर पहली आध्यात्मिक क्रान्ति है।

'ओम्' से बढ़कर श्रवण क्या होगा ! बड़ा मधुर है 'ॐ'। रस है, माधुरी से सराबोर। 'ॐ' का विज्ञान भी मधुर है, किन्तु 'ॐ' का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। अर्थ तो शब्दों के होते हैं। 'ॐ' को प्रतीक बनाया जा सकता

है। उसे कहने और सुनने में डूबा जा सकता है, परन्तु अर्थ की सीमाओं में उसको नहीं लाया जा सकता है। 'ॐ' अर्थों से ऊपर है, अर्थात्तः है।

इसलिए 'ओम्' में सिर्फ जिया जा सकता है। जो मुँह से बोलने, मन से बोलने, अन्तस्तल से बोलने लग जाता है, उसकी चक्र-संधान की यात्रा पूरी हो जाती है। उसका विश्राम तो फिर अनहद में होता है, सहस्रार में, ब्रह्मरन्ध्र में।

पहले पहल तो 'ओम्' को बोला जाता है, सुना जाता है, किन्तु सिद्धत्व के करीब सिर्फ अनुभूति की जाती है, अहसास में सुना जाता है। बिना बोले भी सुना जाता है। यह कम दिलचस्प बात नहीं है कि भगवान को देखा नहीं जा सकता, वरन् सुना जा सकता है। भगवान की अभिव्यक्ति 'ॐ' के रूप में होती है। 'ॐ' को देखोगे कैसे? उसे तो सुनोगे ही। दृष्टा होने का अर्थ केवल देखना नहीं है। जो दिखायी दे रहा है, उससे हटना है। जब दिखना बन्द हो गया, तभी हकीकत में सुनना प्रारम्भ हुआ और यह श्रवण तब पुरजोर होता है, साधक सातवें शरीर में अपने कदम पाता है। यह पराकाष्ठा है।

'ॐ' से साध्य की खोज प्रारम्भ करो। सम्भव है पहले हम लड़खड़ायेंगे, तुतलायेंगे, लोग मजाक भी उड़ायेंगे, पर घबराना मत। यदि भयभीत हो गये, तो कैसे दौड़ पाओगे किसी प्रतियोगिता में। कोई माघ, या मैक्समूलर कैसे पैदा होगा? आखिर बीज बोते ही तो बरगद नहीं बनता। माली का काम सींचना है, फल तो तब पैदा होंगे जब ऋतु आयेगी। ऋतु ज्यादा दूर नहीं है। किसी की ऋतु तो चेतना के द्वार पर आठ वर्ष की उम्र में भी आ जाती है, तो किसी को अस्सी वर्ष तक भी इन्तजार करना पड़ता है। ऋतु तो पर्वत के पीछे खड़ी है, हम उसके पास कब पहुँचते हैं, सब कुछ हमारी तैयारी पर, संलग्नता और समग्रता पर निर्भर है।



ध्यान : स्वयं के आर-पार

ध्यान स्वयं की मौलिकताओं को पहचानने की प्रक्रिया है । ध्यान का सम्बन्ध मन, वचन और शरीर के व्यापारों के नियंत्रण से है । आत्मा का न कभी ह्रास होता है, न ही विकास । संकोच और विस्तार तो दीवार के आकार-प्रकार में होता है, रोशनी के फैलाव की दूरी / नजदीकी में होता है; किन्तु रोशनी में नहीं ।

आत्मा तो चैतन्य-ज्योति है । परतों से रुंधी पड़ी है आत्मा । छोटे कक्ष में दीप की रोशनी बौनी लगती है, वहीं महल में भूमा । सूरज में कहाँ फर्क आता है रोशनी की निगाहों से; किन्तु एक छोटे-से बादल का परदा उसकी सारी उज्वलताओं को अपनी काख में दबा लेता है । ध्यान सूरज की रोशनी को पाना नहीं है वरन् आवरणों-का-उघाड़ना है । स्रोत प्रकट करने के लिये जरूरत है चट्टानों को हटाने की । इसलिए ध्यान स्वयं को बेनकाब करने का अभियान है । ध्यान है महाशून्य में प्रवेश करने के लिए, छिलकों को उतारने के लिए ।

व्यक्ति को अपनी जिन्दगी में कमल की पंखुड़ियों की तरह जीना होता है । संसार में रहना खतरों को बुलावा नहीं है । आखिर ऐसा कोई ठौर भी तो नहीं है, जो संसार से जुदा-बिछुड़ा हो ।

मित्र समझते हैं कि गुफा का जीवन ही संन्यास है । गुफा के फायदे जरूर हैं, पर गुफा की सत्ता संसार की समग्रता से अलग-थलग नहीं है । आम आदमी के लिए यह संभव भी नहीं है कि वह घर-बार से नाक-भों सिकोड़कर गुफावासी बन जाए । वह ध्यान टेढ़ी खीर है, जिसे साधने के लिए व्यक्ति सिर्फ गुफावासी ही हो । ध्यान तो जीवन की परछाई है । अपनी छाया को छोड़कर आदमी कहाँ भाग सकेगा ? अपनी छाया

को तलवार से काट भी कैसे पाएगा ? डर है कि मनुष्य कहीं अपनी छाया को काटने के चक्कर में अपने पाँवों पर घाव न कर ले ।

ध्यान तो जीवन को कमल की तरह निर्लिप्त करना है । अपनी किसी भी पंखुड़ी को कीचड़ से न सटने देना ही जीवन में आत्म-जागरण-की-पहल है । प्रमाद तो हृदय में संसार को बसाना है । जिन्दगी के कारवाँ में कितने ही हमसफर बन जाते हैं और कितनों के लिए विरह की कविताएँ रच जाती हैं । इस गुजरने और बिछुड़ने के बीच होने वाले भावों को स्वयं के चित्त पर छायांकित न करने का नाम ही साधना है ।

ध्यान सिर्फ उन लोगों के लिए नहीं है, जिनके जीवन का वृषभ बूढ़ा हो चुका है । ध्यान के लिए चाहिये ऊर्जा। यौवन ऊर्जा-का-जनक है । ध्यान और यौवन का जिगरी संबंध है । जो अपनी जवानी का हाथ ध्यान के हाथ से मिला लेता है, उसके सामने संसार का हर तूफ़ां परास्त है ।

तनाव के बीज जवानी में ही बुए जाते हैं । शैशव तनाव-के-पार है । ध्यान मनुष्य को बुजुर्ग नहीं बनाता है । ध्यान स्वयं की शैशव-में-वापसी है । परमात्मा शिशु के ज्यादा पास है । उसे बेहद प्रेम है बच्चों से । जीवन को सदैव शिशु की तरह निर्मल, निश्छल और सरल बनाये रखने का उपनाम ही सहज-योग है । यह वह योग है, जिसे साधने के लिये दुनिया-भर के योगों की पगडंडियाँ हैं ।

सहजयोग को साधने के लिए मनुष्य स्वयं को दूसरे के प्रभावों से मुक्त करे । मैं दूसरों को प्रभावित करूँ— यह तृष्णा ही संसार की नींव को और चूना-सिमेन्ट पिलाती है । प्रभाव सहजता से किलकारियाँ भरे तो ही वह टिकाऊ बन पाता है । ऊपर से लादा गया प्रभाव अन्तरंग की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् ओहदे या पैसे का प्रताप है ।

प्रभाव मन की तृष्णा है और स्वभाव तृष्णा का अभाव है ; ध्यान मन से ऊपर उठने की बेहतरीन कला है । आत्म-जागरण मन से ऊपर उठना है, विचार से ऊपर उठना है, शरीर से ऊपर उठना है । चैतन्य-दर्शन

सबके पार है— मन के, वचन के, शरीर के । शरीर आत्मा के लिए है, ऐसा नहीं । आत्मा की उपस्थिति के कारण शरीर नहीं है, अपितु आत्मा की उपस्थिति विदेह के निमित्त है । जहाँ देह की स्वस्थ अनुभूति है, वहाँ स्वास्थ्य नहीं है । असली स्वास्थ्य-लाभ तो वहाँ है, जहाँ देह-के-अनुभव की कोई गुंजाइश ही नहीं है ।

मित्र-साधक मुझसे मशविरा करते हैं चैतन्य-दर्शन के लिए, अनन्त की अनुभूति के लिए । मेरी सलाह रहती है स्वयं को ऊपर उठाने की । पात्र की चमक जरूर पाना चाहते हो, किन्तु इसके लिए पहले उसे मांजने की पहल की जानी चाहिये । स्वयं को ज्योतित देखने का एकमात्र उपाय यही है कि अपने आपको विदेह में, निर्वचन में, अमन में झाँको । पारदर्शी हुए बगैर स्वयं तक न पहुँच सकोगे । मुझे भी जानना चाहो, तो देह के-पार देखो । क्योंकि मैं देह नहीं हूँ । मैं देह में हूँ, पर देह नहीं हूँ । स्वयं को भी ऐसे ही देखो देह-के-परदों-के-पार । विदेह की अनुभूति घर के दरवाजे का वह छेद है, जिससे अन्तर-जीवन के कक्ष में सजी मौलिकताओं को नजर मुहैया किया जा सकता है । शरीर जड़ है और ध्यान के लिए जड़ के प्रति होने वाले तादात्म्य की अन्त्येष्टि अनिवार्य है । मन में शब्दों की भारी भीड़ और भारी कोलाहल है । जो अपने मन से ऊपर उठ जाता है, वह सबके मन से ऊपर उठ जाता है । मन का पारदर्शी सिर्फ स्वयं को ही शरीर, वचन और मन से अलग नहीं देखता, वरन् दूसरों के जीवन का भी आत्म-दृष्टि से मूल्यांकन करता है । अन्तर की इस वैज्ञानिक पहल का नाम ही भेद-विज्ञान है ।

ध्यान हमारी आँख है । जिसकी हथेली से ध्यान छूट गया, उसका जीवन इकार-रहित 'शिव' है । जिसकी आँख ही फूट गई है, उस बेचारे को तो अन्धा कहना ही पड़ता है, पर बड़ा अन्धा तो वह है, जिसने ध्यान की आँख में लापरवाही से सुई चुभा दी है ।

आज सुबह की बात है । एक सज्जन मेरे पास आये । कहने लगे, मैं बीस साल से ध्यान करता हूँ वह भी रोजाना चार-पाँच घण्टे । मेरे गुरुजी ने मुझे ध्यान सिखाया है । मैंने पूछा, वह कैसे ? उसने झट से पद्मासन लगाया और स्वयं को अकम्प/अडोल बना लिया । मैंने कहा,

अगर आपका चित्र खींचा जाय तो लाजवाब होगा। किन्तु वह ध्यान कैसा जो व्यक्ति को पत्थर की मूर्ति मात्र बना दे।

वे झिझके। मैंने कहा, पहली बात; ध्यान करते बीस साल हो गये, किन्तु ध्यान हुआ ही नहीं। करना अभ्यास है। बीस साल तक पढ़ने के बावजूद छात्र ही रह गये, गुरु न बन पाये। दूसरी बात; ध्यान घंटों के दायरे में नहीं आता। चार-पाँच घंटों तक जो ध्यान करते हैं, वह भीतर का उत्सव बनकर नहीं, वरन् बाहर से भीतर लादते हो। ध्यान तो आठों पहर हो। जब भी कोई पूछे, तुम क्या कर रहे हो; उत्तर आना चाहिए— ध्यान में हूँ। पचासन, श्वास-प्रेक्षा, ज्योति-केन्द्र में चित्त-स्थिरता, दो घंटे की बैठक— यह सब तो सुबह-शाम ली जाने वाली दवा की गोली मात्र है, ताकि उसकी तरंग दिन-भर/रात-भर रहे।

मुझे ध्यान से उज्ज्वलताएँ मिली हैं; पर मैं उस ध्यान में डूबा रहता हूँ, जो मुझे मुरझाए नहीं, हुलसाए।

ध्यान सिर्फ शरीर को अकड़ कर बैठना नहीं है, श्वास पर नजर की टकटकी बाँधना नहीं है। ध्यान रोजमर्रा की जिन्दगी से जुदा नहीं है। दफ्तर में काम करना, दुकान में कपड़ा नापना, घर में रसोई बनाना सबमें एकाग्रता के गीत सुनाई देते हैं। ध्यान एकाग्रता की निर्मिति है। जहाँ एकाग्रता वहाँ ध्यान और जहाँ ध्यान वहाँ जीवन-की-पहचान। जो ध्यान से चूका वह जीवन से चूका, जो ध्यान से जुड़ा वह जीवन से जुड़ा।

ध्यान जीवन की समग्र एकाग्रता है। जियो। जीवन जीने के लिए है। जीवन जन्म और मृत्यु के बीच सिर्फ टहलना नहीं है, जीवन आनन्द के लिए है, उत्सव के लिए है। जीवन सिर्फ गति के लिए ही नहीं है, गीत के लिए भी है। उसमें संगीत भरो; अन्तर-शक्तियों को तनावमुक्त करो। खाओ मगर ध्यान पूर्वक; पियो, मगर ध्यान के साथ; मौज उड़ाओ मगर ध्यान को आत्मसात् कर। जीवन की हर प्रवृत्ति में सजगता और निर्लिप्तता का वाक्य-विन्यास करना अपने ही हाथों से अपना वेद रचना है। ध्यानपूर्वक चलना, ध्यानपूर्वक बैठना, ध्यानपूर्वक सोना, ध्यानपूर्वक खाना, ध्यानपूर्वक बोलना समाधि की मंजिल की ओर

कदम-दर-कदम बढ़ाना है ।

अधिकांश साधकों की यह समस्या रहती है कि वह ध्यान के प्रति अभिरुचि होने के बावजूद समाज/संसार को छोड़ नहीं पाते । मेरी समझ से छोड़ना आत्यन्तिक अनिवार्य नहीं है । छूट जाए तो कोई नुकसान नहीं है । न छूटे तो परेशान होने की भी जरूरत नहीं है । आखिर यह परेशानी भी एक सलौने ढंग का तनाव ही है । ध्यान तो हर तनाव के पार है । तनाव से अतिमुक्त करना ही ध्यान-का-दायित्व है ।

‘तृप्ति’ (मूल नाम : ट्राडिल ऑटो, ध्यान-दीक्षित नाम : तृप्ति; बर्लिन, वेस्ट जर्मनी) भी इसी तनाव में उलझी । महावीर को पढ़ा तो महावीर से प्रभावित अवश्य हुई; वह सोचती है कि मैं महावीर के ध्यान-मार्ग पर तो चलूँ, किन्तु समाज से अलग-थलग होकर नहीं ।

मैं तो कहूँगा तृप्ति समझी नहीं । महावीर विद्रोह के सूत्रधार नहीं, बोध के सूत्रधार हैं । महावीर खूब रहे, सो जंगलों में रमे और जब साधना सध गई तो शहरों में लौट आये । महावीर बन सको तो अच्छा ही है, पर हर आदमी महावीर की तरह जंगलों में जाकर नहीं रह सकता । अगर हर आदमी जंगलों की तरफ कदम बढ़ा ले तो जंगल भी शहर का बाना ओढ़ लेंगे । स्थान बदल जाएँगे, वस्तु-स्थिति के घूँघट नहीं उघड़ेंगे । स्थान-परिवर्तन मात्र से तो शहर जंगल बन जाएँगे और जंगल शहर ।

स्थान के बदलने मात्र से आदमी नहीं बदल जाता । मुखौटों के बदलाव से स्वभाव में बदलाव कहाँ आता है ! मांसाहार छोड़ने से हिंसा मरती नहीं है, किन्तु हिंसा को मन से देश निकाला दिये जाने के बाद मांसाहार को छूटना ही पड़ता है । इसलिए भीतर के परिवर्तन में अपना विश्वास-प्रस्ताव पारित करो । क्या नहीं सुना है तुमने कि ‘मन चंगा तो कठौती में गंगा ?’ अगर अन्तरंग को न बदल पाये तो सारा बदलाव गीदड़ द्वारा हिरण की खाल ओढ़ना है । स्वयं को अन्तर-जगत में निर्विष किए बिना किया गया आचरण बिच्छु का तार्किक संवाद है ।

ध्यान स्वयं को देखना है, स्वयं के द्वारा देखना है, स्वयं में देखना है । इसलिए ध्यान पूरे तौर पर अपने आपको हर कोण से ऊपर उठाकर

देखने की कला है । जहाँ शरीर, वचन और मन का अन्त आ जाता है वहीं यात्रा प्रारम्भ होती है, अनन्त की । डूबें हम स्वयं में, ताकि उभर पड़े नयनों में नयनाभिराम अन्तर्यामी । निमंत्रण है सारे जहान को अनन्त का, अनन्त-की-लहरों में । अनन्त का निमंत्रण चूकने जैसा नहीं है । स्वयं को आर-पार देखो । शरीर, मन, वचन जीवन की उपलब्धि अवश्य है, पर वह माटी के दीये से ज्यादा नहीं है । उस दीये से ऊपर भी अपनी नजरें उठायेँ, जहाँ लौ माटी के दीये को प्रकाश में भिगो रही है । ज्योति का आकाश की ओर उठना ही चेतना-का-ऊर्ध्वारोहण है । ज्योति की पहचान से बढ़कर जीवन का कोई वेहतरीन मूल्य नहीं है । मर्त्य में अमर्त्य की पहचान ही अमृत-स्नान है ।



ध्यान : संकल्प और निष्ठा की पराकाष्ठा

सत्य के फूल जीवन के डगर-डगर पर खिले हुए हैं। फूल बड़े बेहतरीन हैं। उनका गुलाबी सौन्दर्य लाजवाब है। ये फूल अदृश्य हों, ऐसी बात नहीं है। फूल दृश्य हैं। इन्हें देखने की सूक्ष्म दृष्टि की जरूरत है। ध्यानपूर्वक देखते रहना सत्य के फूल को पहचानने की दूरबीन है।

सत्य एक है, परन्तु उसके रूप अनन्त हैं। इसलिए सत्य भी अनन्त है। जीवन और जीवन-परिवेश को ध्यानपूर्वक देखना और पढ़ना ही सत्य की एकता बनाम अनन्तता को आत्मसात् करना है। सत्य प्रकाश है। किन्तु सूरज या दिये की तरह नहीं। सत्य तो भ्रान्तियों के अन्धकार को दूर धकेलने वाली रोशनी है। वह स्वयं भी ज्योतिर्मय है। उसे भी ज्योतिर्मय कर देता है, जो उसको उपलब्ध करता है। आत्म-ज्योतिर्मयता से अभिप्राय है विश्वास-की-अटलता, सन्देह-की-उन्मूलनता, प्राप्ति-की-प्रसन्नता।

सत्य ज्ञान है। सत्य प्राप्ति का मतलब है सत्य को जान लेना। स्वयं को जान लेना तो सत्य है ही, उसको भी जान लेना सत्य की पहल है, जिसमें सत्य की सम्भावना है। सत्य को सत्य रूप जान लेना ही सत्य नहीं है। असत्य को असत्य रूप जान लेना भी सत्य है। वास्तव में सत्य पैदा तभी होता है, जब असत्य को जान लिया जाता है। सत्य को लंगड़ी तो तब खानी पड़ती है, जब गलत को सही मान लिया जाता है और सही को गलत। गलत को सही मानना और सही को गलत मानना झूठ है।

सत्य शान्ति है । अशान्ति को मन से बिसार देना ही जीवन में शान्ति का अभ्युदय है । अशान्ति का मूल कारण हमारे मन की ऊहापोह है । मन से मुक्त होने का अर्थ है, मन का शान्त हो जाना । इसलिए शान्ति वास्तव में मन-की-अनुपस्थिति है । मन की रौद्रता के रहते शान्ति कहाँ ? शान्ति की शुक्लता कहाँ ? रौद्रता अशुभ है और शुक्लता शुभ । ध्यान रौद्रता से अलगाव है, शुक्लता में प्रवेश है । जो मन व्यक्ति के नियन्त्रण से बाहर है, वह रौद्र है । मन का नियन्त्रण होना ही शुक्ल ध्यान है । मन जितना सुथरा होगा, ध्यान उतना ही साफ-स्वच्छ होगा, शान्ति उतनी ही हरी-भरी होगी ।

मनुष्य स्वयं सत्य है । सत्य की प्राप्ति के मार्ग अनगिनत हैं । औरों की बात न भी उठाएँ, मनुष्य यदि मनुष्य को भी जान-समझ ले, तब भी उसकी उपलब्धि ओछी नहीं कहलाएगी । मनुष्य ने मनुष्य को जाना, मनुष्य ने मनुष्य को पाया, यह वास्तव में सत्य को जानना और पाना है । मनुष्य को जानने का मतलब है अपने आपको जानना । आत्म-ज्ञान इसी का दूसरा नाम है । कैवल्य और सम्बोधि इसी के शिखर हैं । आत्म-ज्ञान से बढ़कर सत्य-ज्ञान का कोई दूसरा हिमायती रूप नहीं हो सकता ।

मनुष्य विचार-प्रधान भी है और भाव-प्रधान भी । वह बहिर्मुखी भी है और अन्तर्मुखी भी । बहिर्मुखी के लिए अन्तर-यात्रा बेहद कठिन है । अन्तर्मुखी के लिए बहिर्यात्रा पहाड़ी पगंडण्डियों पर चलना है ।

विचार-प्रधान व्यक्ति ज्ञानी है, और भाव-प्रधान प्रेमी । ज्ञानी ध्यान को अपनी नाव बनाता है और प्रेमी प्रार्थना को । ध्यान भी एक मार्ग है और प्रार्थना भी एक मार्ग है । ध्यान अलग ढंग की नौका है और प्रार्थना अलग ढंग की । ध्यानी भी पार लगता है और प्रेमी भी । महावीर और बुद्ध जैसे लोग ध्यान से पार लगे, यीशू और मीरा जैसे प्रेम के मार्ग से ।

प्रार्थना का अर्थ ही प्रेम होता है । वह प्रार्थना केवल शब्द-जाल है, जो प्रेम-रहित है । परमात्मा छन्दों और अलंकारों से भरी प्रार्थनाओं को

पसंद नहीं करते । उनकी पसंदगी तो प्रेम है । प्रेम परमात्मा का हृदय है । गूंगा प्रार्थना बोल नहीं सकता, लेकिन वह प्रार्थना कर सकता है । बोलना यदि प्रेम-पूर्वक हो, तो वे बोल केवल वाक्-पटु प्रार्थना नहीं रह जाते, वे परमात्मा की आँखों का कोइया बन जाते हैं ।

प्रेम भी मार्ग है, ध्यान भी मार्ग है । सच तो यह है कि ध्यान प्रेम से अलग नहीं है और प्रेम ध्यान से जुदा नहीं है । ध्यान का अन्तर-व्यक्तित्व प्रेम बन जाता है, और प्रेम ध्यान का बुर्का पहन लेता है । इसलिए ध्यान प्रेम है और प्रेम ध्यान । मार्ग चाहे जो अपनाया जाये, मंजिल के करीब पहुँचते-पहुँचते सारे मार्ग एक हो जाते हैं । मार्ग तो आदमी की सुविधा के अनुसार बनाये जाते हैं । आदमी भी भला एक जैसे कहाँ होते हैं । कोई मोटा है, कोई पतला; कोई लम्बा है, तो कोई बौना; कोई तार्किक है, तो कोई याज्ञिक; कोई पण्डित है तो कोई पुजारी । जब आदमी ही एक नहीं है तो मार्ग एक कैसे होगा ! मार्ग अनन्त हैं । जिसकी जैसी रुचि हो, वैसे मार्ग पर अपने कदम बढ़ाएं ।

सारे मार्ग ध्यान के ही रूप हैं । उपासना भी ध्यान है, ज्ञान-स्वाध्याय भी ध्यान है, कर्म और भक्ति भी ध्यान है । अन्तराय, चित्त-विक्षेप, दुःखदौर से मनुष्य को दूर रखने के लिए ही ध्यान है । 'तत्प्रतिषेधार्थ एकतत्त्वाभ्यासः' । ध्यान एक तत्त्व का अभ्यास है । जब चित्त की वृत्तियाँ किसी एक ही वृत्ति में जाकर विलीन हो जाती हैं— जैसे नदियाँ सागर में समा जाती हैं— तो वृत्तियों की ऊहापोह-अवस्था तिरोहित हो जाती है । एक का स्मरण, एक के अतिरिक्त सबका विस्मरण यह लक्ष्योन्मुख सत्य की उपलब्धि का मार्ग है । स्वयं को केन्द्रित करो किसी एक तत्त्व पर, चाहे वह ईश्वर-की-उपासना हो, 'ॐ' पर ध्यान-का-केन्द्रीकरण हो, वीतराग के आदर्श का पल्लवन हो, या और कोई मार्ग हो; मार्ग मात्र मंजिल तक पहुँचने का माध्यम है । मंजिल चित्त-की-शुद्धावस्था है, मन का-मौन है, विकल्पों-के-जुकाम-से-मुक्ति है । किस प्रक्रिया से परम अवस्था को उपलब्ध करते हो, यह बात मामूली है । यात्रा ही महत्त्वपूर्ण है । चिकित्सा-पद्धति पर अधिक मत उलझो । जिससे स्वस्थ हो सको, वही तुम्हारे लिए सही है ।

अपने आपको जमाने से इतना ऊपर उठा लो कि जमाने का कोई भी दुर्व्यवहार हम पर असर न कर सके । बुरा बुराई कर रहा है, कहीं हम तो उसके साथ बुरे नहीं हो गये हैं ।

एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं देकार्त । एक बार किसी ने उनसे दुर्व्यवहार किया, पर देकार्त ने उसे कुछ न कहा । इस पर एक मित्र कहने लगे, तुम्हें उससे बदला लेना चाहिए था । उसका सलूक बहुत बुरा था । देकार्त नरमी से बोले— जब कोई हमसे बुरा व्यवहार करे तो अपनी आत्मा को उस ऊँचाई पर ले जाना चाहिए, जहाँ कोई दुर्व्यवहार उसे छू न सके ।

ध्यान उस ऊँचाई को पाने का राजमार्ग है । आत्मा वह तत्त्व है, जिस पर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना है । ध्यान के लिए किसी आसन या आँखों पर पट्टी बाँधने की जरूरत नहीं होती । ध्यान के लिये चाहिए सिर्फ संकल्प । संकल्प जितना परिपूर्ण और उल्लास भरा होगा, ध्यान हमारा उतना ही सक्रिय होगा । आत्म-संकल्प और आत्म-निर्णय ही ध्यान का संविधान-सूत्र है ।

हमें अपनी ऊर्जा को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहिए । केन्द्र की यात्रा के लिए हमें परिधि का मोह तजना ही होगा । ऊर्जा जितनी केन्द्रित होगी, शक्ति उतनी ही सघन बनेगी । ऊर्जा का बिखराव तो चित्त की विक्षिप्तता है । इसलिए अपना ध्यान अपनी ही ऊर्जा पर केन्द्रित करो ।

महावीर और बुद्ध ने ध्यान की विधि बतायी है । 'अनुप्रेक्षा' महावीर की ध्यान-विधि का नाम है और 'विपश्यना' बुद्ध की ध्यान-विधि का । अनुप्रेक्षा और विपश्यना दोनों दो नाम होते हुए भी समानान्तर नहीं हैं । अनुप्रेक्षा का अर्थ है अन्दर देखना । अन्तर्दर्शन ही अनुप्रेक्षा है । विपश्यना भी इसी अर्थ की पर्याय है । ढाई हजार वर्षों के बाद भी इस ध्यान-विधि की महिमा और गरिमा में थोड़ा-सा भी हास नहीं हुआ है । आज भी मनुष्य की अन्तरयात्रा में अनुप्रेक्षा और विपश्यना अर्थपूर्ण है, उपयोगी है ।

हम बैठ जायें । आँखें बन्द करें । शरीर और मन को तनाव न

दें । अपने ध्यान को श्वास पर केन्द्रित करें । श्वास की यात्रा में हम नाक के ऊपर दोनों भौंहों के बीच विशेष ध्यान दें ।

यह एक तत्त्व पर अपना ध्यान केन्द्रित करने की प्रक्रिया है । सम्भव है ध्यान में विचार भी उठें, ध्यान कहीं ओर चला जाये, किन्तु इससे घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है । उसे देख लें, सुन लें और फिर ध्यान को श्वास-की-यात्रा के साथ जोड़ दें ।

विधि तो और भी कोई स्वीकारी जा सकती है । महत्त्व इस बात का है कि हम अपने लक्ष्य पर किस तत्त्व के साथ जुड़ते हैं । त्वरा से जीना ही ध्यान है । जीवन के नाटक का कब पटाक्षेप हो जाये, इसका कोई भरोसा नहीं है । पाँवों में मृत्यु का काँटा कभी भी गड़ सकता है । कुछ हो, इससे पहले सत्य को समझ लेना चाहिए । जीवन से बढ़ कर और सत्य क्या होगा ।

जीवन सत्य है; झूठ तो मृत्यु है । जीवन जीने वाला मृत्यु को भी जीता है । मृत्यु से डरना हमारी हार है । जीवन तो मृत्यु-के-पार भी है । समय पर शाश्वतता के हस्ताक्षर वही कर सकता है, जो जीवन और मृत्यु के आर-पार झांकता है । अन्तर-द्रष्टा जीवन-स्रष्टा है । जीवन बिखरने/मिटाने के लिए नहीं है; जीने और केन्द्रित करने के लिए है ।

हमारे पास ढेरों सम्पदाएँ हैं । शरीर भी हमारी सम्पदा है । शरीर के हर अंग का मूल्य है । विचार भी हमारी सम्पदा है । जीवन के सारे मूल्य उसी से जुड़े हैं । सम्पदाएँ सुरक्षा चाहती हैं, स्वस्थता चाहती हैं, तरोताजगी चाहती हैं । जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने में समेटे रखता है, वैसे ही तो आत्म-नियन्त्रण-का-शास्त्र है । जो आत्म-नियन्त्रित है, अनुशासित है, उसे कैसा खतरा और कैसा भय ! व्यक्ति ही स्वामी होता है अपनी सम्पदाओं का ।

तेरो तेरे पास है, अपने मांहीं टटोल ।

राई घटे न तिल बढ़े, हरि बोलौ हरि बोल ॥

तुम्हारी सम्पदा तुम्हारे पास है । खोजना भी क्या, सिर्फ टटोलना

और पहचानना है। दुनियादारी के रंग में इतने रच-बस गये हो कि आज स्वयं की सम्पदा को भी खोजने की जरूरत आ पड़ी है। ईश्वर की सम्भावना भी हमारे जीवन से जुड़ी है। इसलिए ईश्वर की उपासना भी अपनी ही उपासना है। स्वयं को टटोलना ईश्वर को ही टटोलना है।

‘हरि बोलौ हरि बोल’- उसकी स्मृति ही उसकी प्राप्ति का नुस्खा है। हरि का अर्थ होता है हरने वाला। तुम उसे याद करो, वह तुम्हें याद करेगा। भले ही अन्धेरा हो, पर टटोलने पर वह मिल ही जायेगा। क्योंकि हम से अलग नहीं है हमारी सम्पदा। यदि उसने एक बार भी हाथ थाम लिया, हमारा समर्पण स्वीकार कर लिया, हमारे परमात्म-संकल्प को सर्वतोभावेन मान लिया, तो उससे गलबांही कल की प्रतीक्षा नहीं करेगी। जिसे हम हाथ समझ रहे हैं, वह हाथ नहीं, वह पारस है। फिर हम वह न रहेगें जो अभी हैं। हाथ यदि पारस थामे तो लोहा लोहा कैसे रह पायेगा! हम स्वर्ण-पुरुष हो सकते हैं, उसका हाथ हमारी ओर बढ़ा हुआ है। आवश्यकता है अपना हाथ बढ़ाने की, अपने संकल्प और अपने निष्ठा-मूल्यों की।



समाधि का प्रवेश-द्वार

मनुष्य-जीवन का फूल कुदरत की किसी महत् अनुकम्पा से खिलता है । बड़े श्रम और बड़े भाग्य से इस फूल की पंखुरियाँ खिला करती हैं । जरा देखो उस फूल को । रोम-रोम मुस्कुरा रहा है उसका । थोड़ा अपने चेहरे को देखकर यह पता लगाओ कि हमारा मुँह लटका हुआ है या मुस्कुराता हुआ । चेहरे की बनावटी हैंसी पर विश्वास मत करना । यह मुस्कुराहट तो उधार है, दूसरों के सुख-दुःख में शरीक होने की चिकनी-चुपड़ी सान्त्वना है । बात हृदय की मुस्कुराहट की है । बाहर से खुश दिखाई देने वाला आदमी भीतर से आँसुओं की तरैया से भरा हो सकता है । बाहर से तो किसी के लिए शोक व्यक्त कर रहे हो और भीतर से बड़े प्रसन्न हो कि 'चलो, एक तो बला टली' । कई बार भीतर दुःख-दर्द का लावा उबलता रहता है और चेहरे पर तुम्हें वह भाव-भंगिमा दर्शानी पड़ती है मानो तुम-सा कोई और प्रसन्न-बदन नहीं है । यदि ऐसा है तो यह जीवन के साथ अन्याय है । जब शोक हो तो विशुद्ध रूप से शोक ही हो और जब प्रसन्नता हो तो बाहर-भीतर एकरूपता हो ।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि जीवन के साथ भी हम सरकारी-बुद्धि या व्यवसायी-बुद्धि लगा रहे हों ? जीवन कोई रिश्वत नहीं है और न ही कोई जायदाद की बढ़ोतरी । जीवन तो बस जीवन है ।

मनुष्य अपने पूरे जीवन में स्वयं-का-संरक्षण नहीं करता, बल्कि स्वयं को बेचता है । आखिर स्वयं को बेचकर क्या पा रहे हो ? वह सब कुछ, जो जीवन और मृत्यु की कसौटी में निर्मूल्य है । यदि खुद को बेच-बेचकर खुद को भी भर लेते तो बात का बतंगड़ न होता । पर वह अपने को कहाँ भर रहा है ! वह तो तिजोरी को भरता है । अपने चारों

और माल-सामान का ढेर लगा रहे हो और स्वयं बिल्कुल खाली पड़े हो । अन्ततः नतीजा यह होगा कि माल यहीं पड़ा रह जाएगा और मालिक लुट जाएगा । उस पिंजरे का क्या मोल जिसका पंछी उड़ जाये !

कहते हैं किसी आदमी के पास कई तरह के पशु-पक्षी थे । जब उसने सुना कि हजरत मूसा पशु-पक्षियों की भाषा समझते हैं तो वह मूसा के पास गया । उसने मूसा से पशु-पक्षियों की भाषा सीखनी चाही, पर मूसा ने मना कर दिया । आदमी अपनी जिद पर अड़ा रहा और हठ करके उसने मूसा से भाषा सीख ली । तब से वह आदमी अपने पशु-पक्षियों की बातें जब-तब सुना करता ।

एक दिन मुर्गे ने कुत्ते से कहा कि मालिक का घोड़ा बहुत जल्दी ही मरने वाला है । आदमी ने जब यह सुना तो वह खुश हुआ । उसने अपना घोड़ा बेच दिया और होने वाली हानि से बच गया । थोड़े दिन बाद उसने मुर्गे को कुत्ते से यह कहते सुना कि मालिक का खच्चर शीघ्र ही मर जाएगा । मालिक ने खच्चर को भी बेच दिया । एक दिन मुर्गे ने गुलाम के मरने की बात कुत्ते को कही, तो मालिक ने उसे भी बेच दिया । वह प्रसन्न था कि उसने पशु-पक्षियों की भाषा सीखकर कितना-कितना फल प्राप्त किया । अन्त में एक दिन मुर्गे ने कुत्ते से कहा कि दो दिन बाद अपने मालिक की मृत्यु होने वाली है । यह सुनकर वह घबराया और भय के मारे कांपने लगा । वह दौड़ा-दौड़ा गया मूसा के पास, पूछा कि अब मैं क्या करूँ ?

मूसा ने कहा— करना क्या है ? जाओ और अपने को बेच डालो ।

‘क्या ?’

‘हाँ, ठीक वैसे ही जैसे तुमने घोड़े, खच्चर और गुलाम को बेचा।’

क्या बेचोगे स्वयं को ? कितने में बेचोगे ? किसके लिए बेचोगे ? तुम्हें तो आग लगी जा रही है । जिन्दगी न तो बेचने के लिए है, न बदले में कुछ पाने के लिए । मेहरबानी कर अपने लिए जरा सोचो कि जीवन क्या है, और जीने के उद्देश्य क्या हैं ।

अपने इर्द-गिर्द देखता हूँ कि हर कोई जन्म लेता है, पलता है, बढ़ता है, संघर्ष करता है, ऐश-आराम, मौज-मस्ती करता है और फिर अपने बनाये-बसाये संसार को छोड़कर एक दिन मर जाता है। यह एक बंधी-बंधाई लीक दिखाई देती है। लोग इसी लीक पर चलते हैं। कोई आराम से गुजर रहा है, तो कोई कठिनाई से। अब सवाल यह है कि क्या यही जीवन है। यदि है, तो जानवर और इंसान में कोई बिचौलिया फर्क नहीं है ? और यदि यह जीवन नहीं, तो फिर वास्तव में जीवन क्या है ? जीने के उद्देश्य क्या होते हैं ? मैं इस प्रश्न को मात्र प्रश्न नहीं कहूँगा। मैं इसे जीवन के प्रति एक सघन जिज्ञासा कहूँगा। मन में ऐसे प्रश्न उभरने भी कोई सामान्य बात नहीं है। यह पहेली नहीं, जीवन के प्रति जागने की पहल है। जब तक यह हकीकत में न होगी, तब तक जीवन में किसी भी प्रकार का रूपान्तरण घटित ही न हो पाएगा।

जीवन में क्रान्ति उपदेशों से नहीं, जिज्ञासा और अभीप्सा से घटित होती है। जीवन में लगने वाली चोटों और ठोकड़ों से भी अगर इन्सान कुछ न सीख सके, न जग सके, तो वह जीवन के प्रति लापरवाह कहलाएगा। क्या उसे तुम जिंदा कहोगे ? वह तो चलता-फिरता मुर्दा है।

जहाँ जीवन के परिसर में चोट लगती है, वहाँ आदमी उसका हर हाल में समाधान पाना चाहता है। वह प्रश्न उसे बेचैन कर देता है। दुनिया में आत्मदाह और आत्मघात की घटनाएं ऐसे मानसिक प्रश्नों के कारण ही हुई हैं।

जिन्दगी सभी जी रहे हैं। कोई नदी के किनारे बैठा पानी का कलकल निनाद सुन रहा है। कोई बाँसुरी के सुरों में खोया है। कोई चरवाहा बना पहाड़ों में भेड़-बकरियों को हाँक रहा है। कोई भीड़ से बचकर निकलना चाहता है। कहीं लोग दिन-भर मेहनत करते हैं और रात को शराब की मदहोशी में पड़े रहते हैं। कोई रात को जुआघर में दिखाई देता है, तो कहीं लोग फुटपाथ पर पड़े मिलेंगे। उनके अगल-बगल शहर की गंदगी पड़ी है, मच्छर भिन-भिना रहे हैं, पर वे इन सबसे बेखबर सम्राट से भी बेहतर नींद सो रहे हैं। आखिर जिन्दगी क्या है; क्या यही जिन्दगी है ?

हर मनुष्य जन्म के साथ एक घेरे में जीता है । उसे बना-बनाया घेरा मिलता है, चोर है तो चोरी का और व्यवसायी है तो व्यवसाय का । हर व्यक्ति का घेरा बंधी-बंधायी लीक की तरह है । लीक तोड़ो और नये नीड़ का निर्माण करो । अगर घेरे में ही जिओगे तो तुम्हें अपनी ज़िन्दगी में वही विरासत में मिलेगा, जिसमें तुम बड़े हुए हो । विरासत तो पराश्रय है । जो हो रहा है, बपौती के कारण हो रहा है । हमारी मौलिक क्षमता और सम्भावना तो राख की ढेरी के नीचे दबी पड़ी है । हम अपना एक नया रूप ले सकते हैं । एक नई परम्परा बना सकते हैं । अपनी क्षमताओं का गला मत घोटो । क्षमताएं जीवन्त हैं और उनकी जीवन्तता का जीने में भरपूर उपयोग करो । आखिर चक्रव्यूह को तो भेदना ही होगा । संघर्ष करना है, मौत से घबराना नहीं है । अभिमन्यु की मृत्यु को हम मृत्यु नहीं कह सकते । वह तो दुनिया के लिए आज़ादी-का-पैगाम है । कुछ नया होने के लिए कुछ पुराने को छोड़ना ही होगा । जरूरत है सिर्फ साहस की, बुलंद हौसले की ।

जो घेरा हमें बना-बनाया मिला है विरासत के रूप में, उससे चिपके रहना तो अध्यात्म की भाषा में राग है । केवल लिफाफों को चिपकाने का काम ही करोगे या उन्हें खोलोगे भी ? खुद के द्वारा जैसा भी होगा, जो भी होगा, वह हमें और आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करेगा । आखिर अपने बनाये पद-चिन्हों को देखने का मजा ही कुछ और होता है । यह मजा आनन्द है । यह आनन्द सिर्फ उसी व्यक्ति से जुड़ सकता है, जो आत्म-केन्द्रित हो गया है ।

आत्म-केन्द्रीकरण का नाम ही निजत्व और बुद्धत्व का सर्वोदय है और उसका विकेन्द्रीकरण संसार-के-घेरे-का-निर्माण । बुद्धत्व का बोध जीवन की महान उपलब्धि है, जीवन की गहन-से-गहन और ऊँची-से-ऊँची सम्भावनाओं का आविष्कार है ।

ज्ञान-बोध सिर्फ सच्चाई के आलोक का दर्शन ही नहीं कराता, वरन् स्वयं व्यक्ति को रोशन और ज्योतिर्मय कर देता है । यह व्यक्ति की अर्हत-अवस्था है । यह परा-पहुँच है । यहाँ तक पहुँचने के लिए दो तरह के व्यक्ति होते हैं । एक तो वे, जिनमें जन्मजात यह प्रतिभा होती है ।

दूसरे वे होते हैं, जिन्हें यह प्रतिभा बनानी होती है। जो जन्मजात प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं, वे वास्तव में पूर्व-जन्म के संस्कारों का परिणाम हैं। हरिभद्र ने उसे कुल-योगी कहा है और पंतजलि ने 'भवप्रत्यय'। भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृतिलयानाम्'।

'भव-प्रत्यय' वे लोग हैं, जो पूर्व जन्म में विदेह-अवस्था तक पहुँच चुके थे, किन्तु कैवल्य-प्राप्ति से पहले ही चल बसे। हालांकि पुरानी धर्म-किताबों में तो ऐसे लोगों के लिए 'योग-भ्रष्ट' कहा गया है, पर मैं इस गलती को न दोहराऊंगा। व्यक्ति योग-भ्रष्ट तो तब होता है, जब वह योग के मार्ग से खलित हो जाता है, फिसल जाता है जैसे मेनका से विश्वामित्र। मृत्यु होने से योग-भ्रष्ट नहीं होता। मृत्यु तो जीवन का सिर्फ पड़ाव है। एक शरीर छूटा तो दूसरे से यात्रा चालू हो गयी। एक चप्पल घिस गई तो दूसरी पहन ली। इससे योग के सातत्य में पड़ाव के सिवाय और कोई बुनियादी असर नहीं पड़ सकता। शंकराचार्य की तो युवावस्था में ही मृत्यु हो गई थी। उन्होंने जो पाया और जो उचारा, वह वास्तव में उनके पूर्व-जन्म के योग-प्रवाह के सातत्य का प्रतिफल था। नचिकेता यमराज के पास जाकर भी वापस लौट आया। यह एक छोटे बच्चे का 'भव-प्रत्यय' है। महावीर के शिष्य 'अतिमुक्त' ने मात्र दस वर्ष की उम्र में अमृत-पद प्राप्त कर लिया था। प्रतिभा का संस्कार-सातत्य कब अपना अमृत-पुष्प खिला देता है, इसका कोई मापक-यन्त्र नहीं है।

जिनके जीवन में पूर्व जन्म के प्रवाह के सातत्य के कारण कुछ होता है, उनकी बात अलग है। उनका दीया तो तैयार है, बस ज्योति की याद आनी चाहिये। आम आदमी को तो ज्योति की खोज करनी होगी, चिंगारी को दूँढ़ना होगा, समर्पित होकर, संकल्पपूर्वक, एक स्मृतिलय होकर, एक होशपूर्वक। दूसरे साधकों का योग श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा सिद्ध होता है और वह भी क्रमशः— 'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकम् इतरेषाम्'।

साधना के ये चरण बहुत सारे लगते हैं, पर ये वास्तव में एक ही हैं या एक-जैसे हैं। शब्दों का थोड़ा फर्क है। शाब्दिक अर्थों में भी कुछ भेद हो सकता है, पर समाधि का मार्ग स्वयं समाधि ही है, इसके लिए हमें श्रम कुछ नहीं करना है। आवश्यकता है मात्र ध्यान की।

ध्यान में सब कुछ आ जाते हैं, श्रद्धा भी, स्मृति भी, संकल्प भी, प्रज्ञा भी । अलग-अलग शब्द तो इसलिए परोसे गये हैं, ताकि बारीकी को अलग-अलग ढंगों से देख सको, जान सको । वैसे मूलतः तो ध्यान की जरूरत है; मन को केन्द्रित करने की जरूरत है । जहाँ मन टिका, उसके प्रति श्रद्धा भी होगी, उसके लिए वीर्य/पुरुषार्थ भी होगा, उसकी स्मृति/याद भी आएगी । समाधिस्थ/निमग्न भी रहोगे । बुद्धि से उसका रिश्ता भी होगा । सिद्धत्व तो सबका संगम है, किन्तु सबों का लक्ष्य और आधार तो एक ही है । अमृत सबसे जुड़ा हुआ है और अमृत ही सबका परिणाम है ।

श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय से है । वीर्य अर्थात् सामर्थ्य का सम्बन्ध शरीर से है । स्मृति का सम्बन्ध मन से है और समाधि-प्रज्ञा का मस्तिष्क से, निर्मल बुद्धि से । गीता के श्लोक भी इस तथ्य की पुष्टि करेंगे । आगम और पिटक भी यही कहेंगे । मजहबों और शास्त्रों की अनेकता को देखकर मार्ग को अनेक मत मान लेना । जीवन का द्वार तो वही है और सब ले जाना चाहते भी हैं उसी द्वार पर । शब्दों और अभिव्यक्तियों का विभेद कोई अर्थ नहीं रखता । मूल्य तो जीवन का है, जीवन की परम जीवन्तता आत्मसात् करने का है ।

श्रद्धा का अर्थ है समर्पण । श्रद्धा वह भावना है, जिसमें हृदय की नौका चलती है । समर्पण हो- न सिर्फ साध्य के प्रति, वरन् साधन के प्रति भी । श्रद्धा ही तो शिष्यत्व की सही पहचान है । शिष्य अगर सही है, तो सद्गुरु चाहे उससे सैंकड़ों कोस दूर भी क्यों न हो, उसे आना ही पड़ेगा । श्रद्धा सिद्धान्तों का ढिंढोरा पीटना नहीं है । इससे तो श्रद्धा को उल्टा खेद होता है । श्रद्धा तो तरंग है, जीवन का आभामण्डल है । श्रद्धा न केवल शिष्य को तरंगित करेगी, वरन् जो भी उसके सम्पर्क में आएगा, वह भी श्रद्धा के प्रकाश से भरेगा ।

श्रद्धा सुषुप्ति है । नींद आते ही आदमी दुनिया से बेखबर हो जाता है । उसे मित्र की तो चिन्ता रहती ही नहीं है, शत्रु की भी वह चिन्ता नहीं करता । नींद बड़ी मीठी होती है । श्रद्धा नींद है । नींद से बेहतर मिठास और कहाँ, जिसमें आदमी सुख-दुःख, भूख-प्यास, अमीरी-गरीबी, सब भूल जाता है,

सारे भेदभाव भूल जाता है। श्रद्धा नींद की तरह मीठी है। जिसके प्रति श्रद्धा हो गई, उसके लिए तो उससे बढ़कर और कोई नहीं है।

श्रद्धा प्रेम है, पर प्रेम होते हुए भी प्रेम से बढ़कर है। प्रेम तो पति-पत्नी के बीच भी होता है। प्रेम शारीरिक भी हो सकता है। श्रद्धा विशुद्ध प्रेम है। श्रद्धा का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं होता। श्रद्धा हृदय की अभिव्यक्ति है, हृदय की प्यास है। श्रद्धा में निकलने वाले आँसू कोरा पानी नहीं है, वह हृदय-की-अंजुरी है।

श्रद्धा और समर्पण की सबसे ज्यादा मात्रा स्त्रियों में होती है। स्त्रियाँ ध्यान के मार्ग पर जल्दी गति कर सकती हैं। पुरुष की यात्रा बुद्धि से होती है, पर स्त्रियों की श्रद्धा से। एक वैज्ञानिक है, दूसरा हार्दिक। ध्यान विज्ञान का नहीं, हृदय का मार्ग है। धर्म हृदय का प्रवाह है और श्रद्धा उसका मूल स्रोत है।

जरा मन टटोलो— अभी श्रद्धा कहाँ है ? अभी तो पूँजी के प्रति, पद के प्रति, प्रतिष्ठा के प्रति है। पूँजी के पिछलग्गू बने हो; वह तो यहीं पड़ी रह जाएगी— जब हंसा उड़ जाएगा। पूँजी जीवन-यापन के लिए है। वह व्यक्ति नासमझ है, जो जीवन को पूँजी के लिए खर्च कर रहा है। पूँजी से इतना चिपका है कि—

एक द्वार पर किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। उसने अपना चश्मा ठीक तरीके से लगाते हुए पूछा, कौन है ? आगन्तुक ने कहा, तेरी मौत। व्यक्ति ने कहा, तब कोई हर्जा नहीं, मैंने सोचा कहीं इन्कमटैक्स वाले तो नहीं आ गये। तुम आ गये, चलेगा, वे नहीं आने चाहिये।

अभी तुम्हारी श्रद्धा जीवन के प्रति नहीं, पूँजी के प्रति है। तुम्हें चिन्ता आयकर वालों की है, मृत्यु की नहीं। असली पूँजी तो जीवन है, परमात्मा है। उसे बचाओ। उसे बटोरो।

या फिर समर्पित हो पद के प्रति। पद सफेद झूठ है। सारे पद कुर्सियों के हैं। कुर्सी बड़ी लग गयी, तुम बड़े लगने लग गये। एक बात ध्यान रखिये कि इससे मात्र कुर्सी बड़ी हुई है, व्यक्ति बड़ा न हुआ

धन से प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, खुशामदी करने वाले मिल जाएंगे। पद मिल जाएगा, पर पद से नीचे उतरे तो ? फिर कौन पूछता है। असली प्रतिष्ठा तो भीतर है। जिसके हृदय में परमात्मा प्रतिष्ठित हो जाता है, वह अमृद-पद का स्वामी है। श्रद्धा इसी अन्तर-प्रतिष्ठा की पहल है।

साधना-पथ का दूसरा सोपान है वीर्य। वीर्य शक्ति का प्रतीक है, संकल्प और सामर्थ्य का परिचायक है। यहाँ वीर्य का सम्बन्ध शरीर के शुक्राणुओं से नहीं है। यह आत्म-ऊर्जा की बात है, मनोसंकल्प की चर्चा है। ब्रह्मचर्य उसी आत्म-ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करता है। लोगों ने ब्रह्मचर्य को न भोगने के साथ जोड़ा है। भोग से ब्रह्मचर्य का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। ऐसे कई लोग मिलेंगे, जिन्होंने कभी सहवास न किया हो, पर इतने मात्र से वे ब्रह्मचारी नहीं हो गये। वे तो अभोगी हुए। ब्रह्मचर्य अभोग नहीं है। ब्रह्मचर्य चर्या है। खुद में चलना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य वास्तव में ब्रह्म-विहार है। अभोगी रुका हुआ है। ब्रह्मचारी कर्म-योग और ब्रह्मयोग का संवाहक है। वह भीतर डूबता है। वह अपने वीर्य/ऊर्जा को पूर्ण सत्य की प्राप्ति में लगाता है। उसने वीर्य रोका नहीं, अपितु उसका जीवन-विकास के लिए उपयोग किया। भोगी उसे शरीर के बाहर निकाल कर उसकी सारवत्ता व मूल्यवत्ता को असार व निर्मूल्य कर देता है। अभोगी इसे भीतर दबा लेता है। ब्रह्मचारी उसकी शक्ति को ऊर्ध्वगामी बना लेता है। जिसे हम कुण्डलिनी-का-ऊर्ध्वारोहण कहते हैं, वह दूसरे अर्थों में इसी शक्ति की शिखर-यात्रा है।

साधना के ऊँचे शिखरों को छूने के लिए हमें सामर्थ्य तो जुटाना होगा। असमर्थ व्यक्ति जीवन-का-कारवाँ मंजिल तक नहीं ले जा सकता। यदि सीढ़ियों को पार करना है, तो पाँवों की मजबूती तो चाहिये ही। बिना सामर्थ्य के तो आदमी को सीढ़ी ही मंजिल लगती है। शरीर भी स्वस्थ हो, मन भी तन्दुरस्त हो, तभी तो सफर आसानी से होगा। संघर्ष तो यहाँ भी करना होगा। नदिया के बहते पानी के साथ बहना हो तो बात अलग है। यहाँ बहना नहीं है, यहाँ तो तैरना है। किशती को किनारे पर नहीं रखना है। इसे तो भँवर के खतरों से गुजरना है, कहीं ऐसा न हो कि कर्तव्य-पथ पर कदम उठाने के बाद हम फिसल पड़ें।

कहीं ऐसा न हो कि शरीर की काम-आग हमें झुलसा दे, मन-की-तृष्णा हमें तोड़ दे ।

साधना के मार्ग में महावीर ने शरीर की स्वस्थता, मन की अडिगता और वातावरण की अनुकूलता को अनिवार्य माना है ।

साधना-पथ का तीसरा चरण है स्मृति । यह महत्त्वपूर्ण चरण है । यदि स्मृति है तो श्रद्धा अपने आप है । समाधि भी परछाई की तरह साथ-साथ आ जाएगी । लोग जो मालाएँ गिनते हैं, मन्त्रों का जाप करते हैं, वह वास्तव में स्मृति को ही परिपक्व और सशक्त बनाने के लिए है । स्मृति की सघनता के लिए ही मन्त्रों का विधान हुआ । संसार के सपनों को कम करने के लिए मंत्र-योग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है । यदि हम हरे-हरे, राम-राम या अर्हम्-बुद्धम् का निर्बाध सतत् स्मरण करते चले जायें तो संसार से अनिवार्यतः अनासक्त हो जाएंगे । फिर भीतर में स्वप्न नहीं, वरन् जागरण होगा । तुलसी और सूर ने इसीलिए तो नाम-स्मरण पर जोर दिया । यदि श्वांसोश्वांस के साथ स्मृति जुड़ जाये तो रात में, नींद में भी जप/अजपा अनायास चालू रहेगा । यदि कोई दूसरा हमें देखेगा तो बड़ा स्तम्भित रह जाएगा । हम नींद में रहेंगे, लेकिन जप जागा हुआ होगा ।

स्मृति तो धुन है । परीक्षा के दिनों में बच्चों को कैसी धुन सवार होती है ! खाने को उसने खा भी लिया, सोने को उसने सो भी लिया, पर उसके ध्यान की समग्रता तो केवल पढ़ाई से ही जुड़ी रहती है । नतीजतन वह खाते वक्त भी पढ़ रहा है और सोते वक्त भी । ऐसी ही स्मृति जब परमात्मा की होगी तो तुम परमात्मा को पाने में बहुत जल्द सफलता पाओगे । परमात्मा की स्मृति से भरा हुआ हृदय ही तो प्रार्थना है । परमात्मा की पूजा से मतलब है, उसके अहोभाव से सराबोर । परमात्म-स्तुति जिस क्षण हो, वही तुम्हारे लिए ब्रह्म-मुहूर्त है और जहाँ हो, वहीं मन्दिर है । ये क्षण चूकने जैसे नहीं होते । ब्रह्म-मुहूर्त चौबीस घण्टों में कभी भी साकार हो सकता है । मन्दिर कहीं भी मूर्त रूप ले सकता है । मूल्य हमारी स्मृति का है, प्रार्थना का है ।

कहते हैं सूरदास आँखों से अन्धे थे । उनकी भक्ति दुनिया के लिए प्रेरणा है । अन्धा आदमी अगर ध्यान और स्मृति के मार्गों से गुजर जाये, तो उसके हृदय की आँखें खुल सकती हैं ।

एक दिन सूर रास्ते पर चलते-चलते गड़ढे में गिर गये । थोड़ी ही देर में उन्होंने पाया कि कोई चरवाहा गड़ढे के पास आकर कह रहा है— 'बाबा ! मेरा हाथ पकड़कर बाहर आ जाओ' । चरवाहे ने सूर को बाहर निकाला । सूर ने उसका हाथ मजबूती से पकड़ लिया । चरवाहे ने कहा— मेरा हाथ छोड़ो । सूर ! मुझे अपनी गायें चरानी हैं । पर सूर ने कहा— मैं तुम्हारा हाथ नहीं छोड़ूंगा । तुम तो मेरे कान्हा-कन्हैया हो । मगर उसने कहा कि नहीं, मैं तो सिर्फ चरवाहा हूँ । तुम्हें गड़ढे में पड़ा देखा तो बाहर निकाल दिया और यह कहकर उसने सूर से अपना हाथ छुड़ाया और भाग गया । सूर ने कहा—

हाथ छुड़ाकर जात हो, निर्बल जानके मोहे ।
हृदय से जब जाओ तो, सबल मैं जानूँ तोहे ।

प्रार्थना का सम्बन्ध तो हृदय से है । हृदय की नौका के सहारे ही परमात्मा के उस पार को पाया जा सकता है ।

कबीर ने, आनन्दघन ने स्मृति को सुरति कहा है । सुरति का वास्तविक अर्थ स्मृति ही है । कबीर जैसा गृहस्थयोगी तो सुरति को ही परमात्म-प्राप्ति का अमोघ और अचूक उपाय बताते हैं । कबीर ने जाप का विरोध किया, माला-मणियों का भी विरोध किया, मंदिर-मूर्ति से भी वे कटे । पर वे अगर किसी पर पूरी तरह डटे रहे तो वह मात्र सुरति है, स्मृति है । उनकी दृष्टि में तो स्मृति अनहद से भी परा-स्थिति है—

जाप मरै अजपा मरै, अनहद भी मरि जाय ।
सुरति समानि सबद में, ताहि काल नहीं खाय ॥

मृत्युंजय तो सिर्फ उसी समग्र की स्मृति ही है । स्मृति अगर सम्यक् हो, समग्र हो तो वही समाधि का सिंह-द्वार बन जाती है ।

साधना का एक और पगथिया है समाधि । समाधि को हम आम

तौर पर साधना की मंजिल मानते हैं। किन्तु वह मंजिल नहीं है। समाधि तो रास्तों-का-रास्ता है, समाधानों-का-समाधान है। मंजिल तो कैवल्य है, अमृत-पद है। समाधि शान्त मनःस्थिति का नाम है। मन की उथल-पुथल असमाधि है और मन के सरोवर का शान्त/निस्तरंग होना समाधि है। चित्त का साफ-सुथरा व स्वच्छ शीशे जैसा होना समाधि ही है। समाधि में प्रवेश करना हो तो पहले स्मृति से गुजरो, ध्यान में बैठ जाओ, प्रभु का स्मरण करो, उसकी सुरति के रंग में भीगो और फिर शान्त हो जाओ। यही तो वह प्रक्रिया है जो हमें स्मृति में और स्मृति से समाधि में ले जाती है।

मगर साधना का यह जीवन्त-पथ प्रज्ञापूर्वक हो। यदि प्रज्ञा नहीं, तो श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा बन सकती है, संकल्प भ्रान्ति के अन्धे गलियारे में ले जा सकता है, स्मृति जीवन से घृणा की ओर ले जा सकती है और समाधि बेहोशी बन सकती है। इसलिए जो कुछ हो, प्रज्ञापूर्वक हो। प्रज्ञा का अर्थ है बोध, होश। साधना के दूसरे चरण के कारण हम जोश में भी आ सकते हैं। मगर वह जोश किस काम का, जिसमें होश न हो।

प्रज्ञा कोई पाण्डित्य नहीं है, वह तो विवेक-बुद्धि है, समझ की क्रान्ति है। प्रज्ञापूर्वक चलने वाला साधक न कभी फिसल सकता है और न कभी च्युत हो सकता है। वह जो करेगा, जितना करेगा, उससे वह परितुष्ट/परितृप्त ही होगा। जितना हुआ, उतना पाया। दीप जल रहे हैं डगर-डगर पर। जितना आगे बढ़ोगे रोशनी का पैमाना उतना ही बढ़ेगा। सिर्फ ज्योति-दर्शन ही नहीं होगा, मनुष्य स्वयं ज्योतिर्मय हो जायेगा। फिर तो वह ऐसा प्रकाश-पुंज होगा, जो युग-युगों तक ज्योतिर्मय रहेगा और दुनिया उसके प्रकाश में चलेगी। और भी लोगों को इस उज्ज्वल मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलेगी, उसी ज्योति के सहारे।



समाधि के चरण : एकान्त, मौन और ध्यान

बहुत पुरानी बात है । महावीर ने एक बार अपने प्रधान शिष्य गौतम को अपने पास बुलाया । महावीर ने गौतम से कहा- "मेरे प्रिय शिष्य ! मैं जानता हूँ कि तुम मुझे बहुत प्यार करते हो । तुम्हें यदि त्रैलोक्य की सम्पत्ति और महावीर के चरण में से चुनाव करना पड़े तो तुम निश्चित रूप से महावीर के चरणों की पूजा-अर्चना पहले लोगे । मैं यह नहीं कहूँगा कि तुम मुझसे प्यार न करो । मैं तो यह कहूँगा कि तुम जितना प्यार मुझसे करते हो, अपने आप से भी उतना ही प्यार करो । अपने आपको अंगीकार करना ही आस्तिकता है ।"

महावीर ने गौतम को समझाया कि 'मेरे प्यार के पीछे तुम अपने आपको मत झुठलाओ । मेरा प्यार तुम्हारे कल्याण में सहायक जरूर होगा । दुनिया के राग से हटने के लिए मेरा राग मददगार जरूर होगा, मगर एक बात जरूर ध्यान में रखना कि मेरा 'राग' भी आखिर है तो 'राग' ही । इसलिए जाओ, पहले अपनी जिन्दगी को 'जिन्दगी' बना लो । इससे पहले कि मृत्यु आकर तुम्हारा आलिंगन करे, तुम अपने जीवन की सम्पदा ढूँढ लो । जीवन के जुही के फूल सूख जाए, उससे पहले ही उनका सार्थक उपयोग कर डालो । आज तुम्हारे सामने जिनेश्वर खड़े हैं । उनके रहते भी यदि तुम अपना कल्याण नहीं कर सके तो तुम्हारे जैसा अभाग कोई और नहीं होगा ।'

आम आदमी की यही आदत है जब जीवन्त महापुरुष, तीर्थंकर, सद्पुरुष उसे मिलते हैं तो वह सोया रहता है और जब वे चले जाते हैं तो उनकी मूर्तियां बनाकर उनकी पूजा करता है । आज तुम मुझसे कुछ पा नहीं सकते और जब मैं चला जाऊँगा तो मेरी मूर्तियां बनाकर उन्हें

पूजते फिरोगे । आज तुम्हारे सामने जिन है । आने वाले समय में लोग कहेंगे कि हमें कोई जिन, सदपुरुष दिखाई नहीं देता । जो दिखाई देते हैं, वह भी एक मत नहीं हैं । आज तुम्हें एक मत के सदपुरुष मिले हैं, तो अपना भविष्य संवार लो । मेरे जीते जी समाधि पा लो । दीये की मौजूदगी में अगर दीया न जलाया तो कब जलाओगे ?

मैं भी आपसे यही कहूंगा कि जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है । वह तो बीतती जा रही है । उसका बीतना हमारे लिए चुनौती है । आदमी पचास वर्ष गुजारने के बाद भी सोचता है कि जिन्दगी अभी बाकी है । वह यह नहीं सोचता कि मेरा आने वाला कल कौन-सा भविष्य लेकर आएगा । मेरा कल वर्तमान बनेगा या मेरे लिए काल बनेगा, इस बात का भरोसा नहीं है ।

इसलिए मैं तो यही कहूंगा कि जिन्दगी को जितना डुबा सकते हो डुबा लो । डूबना ही उबरना है । तल तक डूबना सतही रहस्यों को जानना है । मृत्यु हमारे पास आए, उससे पहले मृत्यु को मार गिराना है । अमरता की मेंहदी इस तरह रचा लेना कि सिर्फ केसरिया-ही-केसरिया हो जाए । मेंहदी रचने पर भी न तो हरितिमा नजर आए और न लाल रंग, वहां तो एक ही रंग नजर आएगा और वह रंग होगा 'केसरिया' । एक ऐसा रंग अपने ऊपर चढ़ा लो कि लगाओ तो मेंहदी, मगर रंग कोई तीसरा ही निकल कर आए ।

साधना करोगे, ध्यान करोगे, लेकिन परिणाम 'समाधि' होगा । समाधि परम चीज है । जीवन की परम शाश्वत धरोहर है । जिस आदमी ने समाधि पा ली और डूब गया, उसने जिन्दगी में उपलब्धि ही पाई है । हर जिन्दगी मृत्यु की 'क्यू' में खड़ी है । इस 'क्यू' में कब किसका नम्बर आ जाए इसका पता नहीं है । हमारा नम्बर आए उससे पहले हमें मृत्यु की कतार से बाहर निकल जाना है और अमरता को आत्मसात कर लेना है । क्योंकि समाधि रास्तों-का-रास्ता है, समाधान है । समाधि के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता । समाधि का नाम ही महाजीवन, निर्वाण और जीवन-मुक्ति है । महावीर समाधि को अपनी भाषा में मोक्ष कहते हैं, और बुद्ध उसे निर्वाण कहते हैं ।

जिसे समाधि कहा जाए, निर्वाण कहा जाए, उसे मैं महाजीवन कहता हूँ। एक ऐसा जीवन, जो जन्म से पहले भी जीवन हो, जन्म के बाद भी जीवन हो और मृत्यु के बाद भी जीवन रह जाए। जो सदा था, है और रहेगा, उसी का नाम महाजीवन है। समाधि तो परिणाम है, मार्ग नहीं। उसका फल है जो उस समाधि में प्रवेश करना चाहते हैं।

मैंने इस मार्ग को गहराई से परखा तो उसके कुछ चरणों को पाया। मैंने अनुभव किया है कि यदि कोई व्यक्ति समाधि के मार्ग पर बढ़ना चाहता है, तो उसके भी कुछ चरण होते हैं। समाधि के मार्गों को मैंने तीन चरणों में जाना है। समाधि पाने के वे ही चरण महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। इन चरणों को अपने भीतर उतरने दो।

ये तीन चरण हैं : एकान्त, मौन व ध्यान। यही तीन चरण हैं। इन चरणों के पार और कोई चरण नहीं है। सारे रास्ते इन्हीं तीन रास्तों में मिल जाते हैं। एकान्त का उपयोग है दूसरों को भूलने के लिए। मौन है वाणी का सम्बन्ध तोड़ने के लिए और ध्यान का उपयोग है अपने विचारों के विसर्जन के लिए। व्यक्ति जहां दूसरे को भूला वहीं एकान्त और जहां वाणी का सम्बन्ध टूट गया वहीं मौन और जहां भीतर से विचारों का विसर्जन हो वहीं ध्यान सध गया।

‘मैं एक हूँ’— इस अस्तित्व का बोध कराने के लिए एकान्त उपयोगी है। व्यक्ति कहीं कमरे में बैठ जाए, इसी का नाम एकान्त नहीं है। व्यक्ति को जब ‘एक’ का बोध हो जाए वहीं एकान्त होता है। जनता की भीड़ खतरनाक होती है। लेकिन इस भीड़ से बचने के अनेक साधन हैं जंगल हैं, हॉल हैं, कमरे हैं, मगर विचारों की भीड़ से बचने के लिए कोई गुफा नहीं है। आदमी गुफा में जाकर बैठ गया मगर विचारों की भीड़ वहां भी उसका पीछा नहीं छोड़ती। वहां आदमी शहर में ही बैठा है।

भीड़ से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय एकान्त है। ‘मैं एक हूँ’ जितने भी संगी-साथी हैं, सब कोई और हैं। अगर आप यह कहो कि ये मेरी पत्नी है, ये मेरा पति है। मगर क्या आप जिस पति पत्नी के लिए अपने आप को कुर्बान कर रहे हैं वह क्या आप कहेंगे, उसी अनुसार

काम करने का दावा करते हैं ? वह काम करेंगे, जो आप कहेंगे ?

मनुष्य को लगता है कि मेरी पत्नी मुझसे खुश है, मेरा पति मुझसे खुश है, मगर अगले पल ही कैसा वातावरण बनने वाला है यह आप नहीं बता सकते । जब मैं घर आया था पत्नी खुश थी । थोड़ी देर बाहर चला गया और वापस आया तो वैसी ही खुश मिलेगी, यह नहीं कहा जा सकता । आप अपनी पत्नी के बारे में यह भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि अगला मिनट कैसा होगा और क्या होगा । कोई भी स्त्री अपने पति के बारे में ऐसी भविष्यवाणी नहीं कर सकती । जब यह नहीं हो सकता तो फिर कैसा राग, कैसी आसक्ति ? दूसरों को छोड़ो, आदमी स्वयं अपने बारे में भी यह दावा नहीं कर सकता कि मेरे आगामी दो मिनट कैसे बीतने वाले हैं । दो व्यक्ति एक दूसरे के गहरे मित्र थे, मगर न जाने क्या बात हुई कि आपस में एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए । जो आदमी अपने पर भी विश्वास नहीं कर पाया है, वह भला दूसरों के बारे में क्या भविष्यवाणी करेगा ।

किस चीज पर इतना गुमान कर रहे हो ? यहाँ कोई भी चीज स्थिर नहीं है । हर चीज अनित्य है । जो पत्नी अभी खुश है, अगले पल नाराज हो सकती है । जिन्दगी में यहाँ हर क्षण सफलता और विफलता मिलती है । सफलता मिले तो गर्व मत करना और विफलता मिले तो दिमाग में तनाव मत लाना । व्यक्ति की सबसे बड़ी समाधि यही है कि जिन्दगी में जहाँ ये दोनों आएँ वहाँ अपने आपको सम बनाए रखना ।

रस्सी पर करतब करते दिखाते नट को आपने देखा होगा । हाथ में बांस लिए वह दोनों तरफ का संतुलन बनाए उस रस्सी पर चलता चला जाता है । दाएँ-बाएँ में से एक तरफ का भी संतुलन बिगड़ा नहीं कि वह धड़ाम से जमीन पर आ गिरता है । यही तो सहज समाधि है कि दोनों तरफ का संतुलन बनाए रखा जाए । सुख-दुःख, राग-विराग, शत्रु-मित्र, कैसी भी स्थिति हो, संतुलन जरूरी है । पक्षी उड़ रहा है । दोनों पंख सलामत हैं तो वह उड़ पाएगा । एक पंख भी यदि टूट जाए तो वह तत्काल नीचे आ गिरेगा । समाधि का सूत्र यही है जिन्दगी के हर पल को इतने संतुलन के साथ बिताया जाए कि कब आफत आए और कब खुशी का पल आए, पता ही न चल पाए ।

मैं आपको एक घटना सुनाता हूँ। इस घटना से मेरे स्वयं के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। एक सम्राट के मन में इच्छा पैदा हुई कि दुनिया में जितने भी धर्म हैं, उनके बारे में जानूँ। सम्राट ठहरा। सारे धर्मों के ग्रन्थ पढ़ने का समय कहाँ से मिलता। सम्राट ने पंडितों, मौलवियों व अन्य धर्मों के प्रमुखों को बुलाया और उनसे कहा कि जो जिस धर्म के बारे में अध्ययन रखता हो, निष्णात हो, वह उस धर्म का सार मुझे एक-एक पंक्ति में लिखकर दे दे, ताकि मैं उन धर्मों के बारे में जान सकूँ। हर धर्म के पंडित व ज्ञानी ने अपने-अपने धर्म का सार लिखकर दे दिया, मगर सम्राट के मन में कोई भी बात नहीं उतरी।

एक दिन सम्राट ने सुना कि गाँव के बाहर कोई ऐसा संन्यासी आया है जो एकान्त में जीता है। वह किसी से कुछ बोलता नहीं है। परम ध्यान में ही अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। वह किसी प्रकार का उपदेश नहीं देता। किसी से नहीं बोलता। सम्राट ने सोचा ऐसे संन्यासी के पास चला जाए। हो सकता है, वह कोई सूत्र दे दे।

सम्राट उस संन्यासी के पास पहुँचा और कहा, फकीर ! मैं कोई गुरु जानना चाहता हूँ ताकि सारे धर्मों का सार समझ सकूँ और जो मेरी जिन्दगी के लिए कामयाब सूत्र बन सके। आप मुझे ऐसा ही मंत्र दीजिए।

फकीर ने सम्राट की मनःस्थिति समझी और उसे कहा कि मेरे गुरु ने मरते समय मुझे एक ताबीज दिया था। यह ताबीज मेरी बाँह पर हमेशा बंधा रहता है। मेरे गुरु ने मुझे कहा था कि उस ताबीज में एक मंत्र है, जिस पर सारे धर्मों का सार एक पंक्ति में लिखा है। मेरे गुरु ने यह भी कहा था कि इस ताबीज को तभी खोलना जब तुम अपने आप को चारों तरफ से असहाय महसूस करो, सारे रास्ते बन्द हो जाएँ। मेरे सामने अभी तक ऐसी स्थिति नहीं आई, इसलिए मैंने इस ताबीज को नहीं खोला है। मैं यह ताबीज तुम्हें देता हूँ, मगर शर्त याद रखना। इस ताबीज को तब ही खोलना जब सारे रास्ते बन्द हो जाएँ और तुम अपने आप को बेसहारा पाओ।

हकीकत में जिस समय आदमी जीवन की आखिरी वेदना को समझता है तभी उसका वेद पैदा होता है। वेदों को केवल पढ़ने और उन्हें कण्ठस्थ करने

से कोई मतलब नहीं है। यह तो सिर्फ रटन होगी। जिन्दगी का असली वेद तो तभी पैदा होता है जब व्यक्ति अपने चारों तरफ वेदना महसूस करता है। इसलिए जीवन का प्रसाद कभी सुख की घड़ियों में नहीं मिलता। जीवन का प्रसाद हमेशा दुःख की घड़ियों में मिलता है। मैं तो भगवान से हमेशा यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे हमेशा एक-न-एक आफत दिये रहना, ताकि मैं जीवन में वेदना का अनुभव करता रहूँ। वेदना के उन क्षणों में ही मैं जीवन का असली अनुभव प्राप्त कर सकूँगा। अपने द्रष्टा और साक्षी भाव को पाऊँगा। दुःख की घड़ियों में भी शांत रहना असली आनन्द को प्रगट करने का आधार है।

व्यक्ति के चारों तरफ सुख-ही-सुख है, आनन्द-ही-आनन्द है तो कुछ नहीं होगा। फकीर ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा कि यह ताबीज तब ही खोलना जब चारों तरफ से दुःख के बादल घिर आएँ और तुम निराश हो जाओ, कोई रास्ता न बचे। फकीर ने सम्राट को ताबीज दे दिया। अब राजा को जब-तब उस ताबीज की याद आ जाती और उसमें बंधा मंत्र खोलकर पढ़ने की वह इच्छा करता, मगर साथ ही उसे फकीर की शर्त भी याद हो आती।

काफी दिन बीत गए। राजा ताबीज को भूल गया। दुर्योग से पड़ौसी देश के राजा ने उस राजा पर हमला कर दिया। राजा बहादुरी से लड़ा, मगर हार गया और अपने घोड़े पर जान बचाकर भागा। दुश्मन के सिपाही भी उसके पीछे अपने घोड़े दौड़ा रहे थे। उनके घोड़ों की टापों से राजा डरता-डरता भागा जा रहा था। आखिर राजा ऐसी जगह पहुँच गया जहाँ से आगे रास्ता बन्द था। उसने सोचा कि अब क्या होगा? अब तो मारे गए। दुश्मन के सिपाही अपने घोड़ों पर उसकी तरफ बढ़ते चले आ रहे थे।

अचानक राजा का हाथ अपनी बांह पर गया और ताबीज याद आ गया। फकीर ने कहा था कि जब अपने आपको चारों तरफ से असहाय महसूस करो तब इस ताबीज को खोलकर उसमें लिखा मंत्र पढ़ना। राजा ने तुरन्त ताबीज खोला और उसमें रखा मंत्र निकालकर पढ़ा। उस कागज पर लिखा था— 'यह भी बीत जाएगा'। राजा को यह पढ़ते ही एकान्त नई शक्ति प्राप्त हो गई और उसने पाया कि दुश्मन के सिपाही के घोड़ों की टापें भी अब सुनाई नहीं दे रही हैं। राजा ने अब चैन की सांस ली और सोचा कि मैं राजा था वह समय भी नहीं रहा और अब राजा नहीं हूँ। यह समय भी नहीं रहेगा

आफत की यह घड़ी भी बीत जाएगी। यह सोचकर राजा को नई शक्ति मिली और उसने अपनी बिखरी सैन्य-शक्ति को दुबारा एकत्र किया। पड़ौसी राजा पर हमला किया और अपना खोया राज-पाट पुनः हासिल किया।

नए मुहूर्त में उत्सव के बीच राजा का राज्याभिषेक हो रहा था, तो उसे अचानक उस मंत्र की याद आई और वह उदास हो गया। उसका चेहरा मुरझा गया। दरबार में बैठे लोगों ने पूछा कि आपका राज्याभिषेक हो रहा है और आप हैं कि उदास खड़े हैं। इसका क्या रहस्य है? राजा ने कहा कि यह जिन्दगी का एक ऐसा सूत्र है, ऐसा अनुभव है, जिसे मैंने वेदना-के-क्षणों में पहचाना है। सब कुछ बीत जाने वाला है। जो आज है वह कल नहीं रहेगा और जो कल होगा वह परसों नहीं रहेगा। जीवन-मृत्यु सब बीत ही तो रहे हैं। कुछ भी रहने वाला नहीं है। कोई चीज टिकाऊ नहीं है। सिर्फ वह चीज है जिसे हम अस्तित्व का बोध कह सकते हैं। बोध इस बात का कि 'मैं' जीवन के बाद भी शाश्वत रहता है। यही तत्त्व मनुष्य को समाधि का अनुभव करवा सकता है।

यह तत्त्व व्यक्ति को जीवन के आखिरी क्षणों में अनुभूति कराएगा कि कैसी भी घड़ी आ जाए, अपना संतुलन बनाए रखना। जीवन की धारा बहुत बारीक है, थोड़ा-सा संतुलन बिगड़ा कि धड़ाम से नीचे आ गिरोगे। कहते हैं कि साधु का जीवन तलवार की धार पर चलने जैसा है। मैं कहूंगा कि गृहस्थ का जीवन तलवार की धार पर चलने जैसा है। एक तरफ समाधि रखो और दूसरी तरफ तलवार की धार पर भी चलो। जीवन तलवार की धार पर चलने जैसा ही है।

मैं तो यह कहूंगा कि भूल जाओ तलवार को, धार को भी। यह समझो कि नृत्य करना है। जिन्दगी तलवार की धार है और इस पर नृत्य करना है क्योंकि जिन्दगी नृत्य के लिए ही है। आनन्द के लिए है। तुम्हें रस्सी के सहारे चलकर अपनी जिन्दगी को पार लगाना है। समाधि इसी का नाम है। थोड़ा-सा संतुलन बिगड़ा कि असमाधि पैदा हो जाएगी।

दूसरों को भूलना है एकान्त में आने के लिए; नीचे के जो तीन चक्र हैं उनसे छुट्टी पानी है। इसके बाद ही ऊपर के तीन चक्रों में प्रवेश

कर पाओगे । व्यक्ति का पहला चक्र है उसका शरीर, वासना । दूसरा चक्र है कषाय-तन्त्र । तीसरे का स्वभाव है राग द्वेष । इन तीनों चक्रों को पार कर जब व्यक्ति चौथे चक्र में प्रवेश करता है वहां से उलटी यात्रा शुरू हो जाती है ।

चौथे चक्र में पहले चक्र की वासना जो स्त्री या पुरुष रूप से जुड़ी थी, छूट जाएगी । चौथे चक्र में, जो मनोचक्र और हृदय चक्र है, वह आत्मा से जुड़ता है, वह व्यक्ति के आत्म-तत्त्व से जुड़ेगा और पांचवें चक्र, में आदमी निष्काम और निर्विचारिता में प्रवेश करेगा । व्यक्ति जहाँ अपने पाँचवें चक्र, कण्ठ-चक्र, में प्रवेश करता है वहीं क्षमा और अहिंसा पैदा होती है । उस समय व्यक्ति छठे चक्र की ओर अग्रसर होता है और आज्ञा-चक्र में प्रवेश करता है । इस चक्र का स्वभाव वीतरागता का है और जब व्यक्ति अपने सहस्रकमल में, ब्रह्माण्ड में, ऊपरी लोक में प्रवेश करता है, वहीं मोक्ष और निर्वाण होता है । वहीं व्यक्ति को कैवल्य आकर चूमता है और परम ज्ञान उसका आलिङ्गन करता है । इस परम स्थिति को पाने के लिए पहला साधन एकान्त, दूसरा मौन और तीसरा ध्यान है । यही समाधि के तीन चरण हैं ।

आप चुपचाप बैठे हैं । अच्छे लग रहे हैं। आप सभी बड़े हैं मगर चूँकि आप चुपचाप बैठे हैं, इसलिए बच्चे नजर आ रहे हैं । बच्चा अच्छा क्यों लगता है ? क्योंकि वह पाप से परे होता है और कम बोलता है । दो साल का बच्चा बड़ा सलोना लगता है । दो दिन का बच्चा और ज्यादा सलोना लगेगा । इसीलिए मैं कहता हूँ कि यहाँ बैठे सभी लोग बच्चे हैं क्योंकि चुपचाप बैठे हैं ।

बच्चा पैदा होता है उस समय बोलना नहीं जानता । बोलना तो वह बाद में सीखता है । हमारा स्वभाव तो मौन ही है । उसमें डूबो । इतना डूब जाओ कि बोलना न रह जाए । वाणी से हमारा सम्बन्ध ही टूट जाए । आदमी बोलता क्यों है ? दूसरों को प्रसन्न करने के लिए ।

इसलिए मैंने कहा समाधि का पहला पथ एकान्त है, दूसरे से दूर हुए । दूसरा मौन है, ताकि हमारे विचार शांत हो जाएं । आदमी बोलने में ईमानदार नहीं होता, मगर मौन में ईमानदार होता है । बोलना झूठ हो

सकता है, मगर मौन तो हमेशा सत्य ही होता है। सारी बेईमानी बोलने के साथ ही आई है। व्यक्ति अपने में तल्लीन रहता है वहाँ भीतर कचरा नहीं भर पाता। जो आदमी झूठ बोलता है वह दूसरों के दिमाग में अपने दिमाग का कचरा भरता है। आपके घर में कोई कचरा डाल जाए तो आप पसन्द करेंगे ? जब कोई व्यक्ति अपनी खोपड़ी का कचरा आपकी खोपड़ी में डालता है तो वह आपको सुहाता है।

यह भी तो आपके घर में कचरा डालने जैसा ही हुआ। जरा जागो ! सजग बनो। वह कचरा लेना है या नहीं। अपने आप को मौन में रमाना है या नहीं। आदमी शब्दों से गरीब है मगर मौन से धनी है। उसे बोलना तो बहुत आता है। इसीलिए तो नेताओं का बहुत स्वागत होता है। वे बहुत बोलते हैं। मेरी समझ में जो आदमी जितना अधिक बोलता है वह साधना के दृष्टिकोण से उतना ही पिछड़ा हुआ है। यदि आदमी कम बोलने का अभ्यास करे, तो उसके जीवन की आधी मुसीबतें तो ऐसे ही कम हो जाएं। बोलना ऊर्जा का प्रगटन है और मौन ऊर्जा का संकलन एवं सम्पादन।

ध्यान ऊर्जा का आरोहण है। मनुष्य ऊर्जा है। ऊर्जा उसका व्यक्तित्व है। बिना ऊर्जा के वह शव है। ध्यान अपनी ऊर्जा से अपनी मैत्री है। ऊर्जा से ऊर्जा का घर्षण क्रोध है और ऊर्जा से ऊर्जा का आकर्षण वासना है। ध्यान ऊर्जा से स्वयं का योग है। ऊर्जा का न दमन करो और न घर्षण। ऊर्जा का ऊर्जा रूप रहना ही उसकी पूर्णता है।

एकान्त अन्तर्यात्रा की तैयारी है, मौन भीड़ में भी अकेले रहने का आधार है और ध्यान अन्तरतल्लीनता, अन्तरलयबद्धता। ये तीन चरण हैं समाधि के लिए। समाधि है अहोभाव; शब्दातीत आनन्द-उत्सव। निमन्त्रण है उसी उत्सव के लिए। आओ और डूबो स्वयं के अहोभाव में, अहोरूप में, समाधि में।



ध्यान : प्रकृति और प्रयोग

जीवन संगीत है, विसंगीत भी; उत्सव है, घुटन भी। घर में माँ की गोद में मुस्कराते और किलकारी भरते बच्चे के चेहरे पर मुखर है जीवन का संगीत, परम तृप्ति का उत्सव। संगीत पैदा करने की कला आ जाये तो जीवन स्वर्ग-उत्सव की ओर अभिमुख हो सकता है। आम आदमी के लिए तो जीवन संगीत-का-विपर्यय और दुःख-का-दलदल है। जीवन के प्रति संकुचित और मृत दृष्टि ही आत्म-हत्या की प्रेरिका बनती है। उसके लिए आत्म-हत्या असम्भव है, जो जीवन की प्रसन्नता और सहजता में सराबोर है।

मनुष्य जन्म से जीवन की यात्रा प्रारम्भ करता है। वह जीने में जी तो रहा है, किन्तु जीवन के पाठ कहाँ पढ़ पाता है। उसके दस्तावेज कदम-कदम पर रखे पड़े हैं, उन्हें आत्मसात् करना जीवन के रहस्य-दर्शन का उद्घाटन है, ठोकर लगने से पहले सम्हल जाने की भूमिका है।

आदमी पिस रहा है अहर्निश चक्की में। दिन की जागरूकता दुकान-दफ्तर में पूरी होती है और रात की वेला खाट पर खुराटे में। जीवन की राह पर चलते सभी हैं, परन्तु जीवन का जीवन्त सार विरले ही बटोर पाते हैं। लोग रोते हैं मरघट की यात्रा में, उसकी आँखें भीगी हैं (दिया कबीरा रोय) जन-जीवन के विसंगीत से, 'दो पाटन के बीच में'।

दुःख से गैर-दुःख में और गैर-दुःख से दुःख में, स्वप्न से गैर-स्वप्न में और गैर-स्वप्न से स्वप्न में— इस संघर्ष-लय में ही व्यक्ति दो मुँहा मानव बना हुआ है। रंगे हुए मुखौटे पहनने का अब तो वह इतना अभ्यस्त हो गया है कि पाउडर लिपस्टिक की परत-दर-परत के नीचे दबा मैल धोने की याद भी नहीं आती। मुखौटे रोजमर्रा की जिन्दगी से भरपूर जुड़ गये हैं। अपना मौलिक चेहरा तो पता नहीं कहाँ छिपा पड़ा है। हमें ढूँढ़ना

है वह चेहरा, जो जन्म से पहले था, वह चेहरा जो मृत्यु के बाद भी सलामत रहेगा । यदि जीवन में हमने उस चेहरे को खोज निकाला, तो अनित्यता-के-इतिहास में शाश्वतता की यह अनूठी पहल कहलाएगी ।

मृत्यु जब भी आए, उसका मुस्कराते हुए मन से स्वागत हो । मृत्यु हमारा जन्म-सिद्ध/जन्मना-प्राप्त अधिकार है । पर यह कैसा आश्चर्य ! अनित्यता के आँचल में पलने वाली जिन्दगी अनित्यता का भी बोध नहीं जुटा पाती । बुद्धत्व की प्राथमिक पहल अनित्यता के बोध से प्रारम्भ होती है । मनुष्य को मृत्यु से भय भले ही लगे पर जब तक जीवन है, उसकी जीवन्तता का सम्पादन एवं संरक्षण हमारा दायित्व है ।

मनुष्य संघर्षशील है, संवेदनशील भी, किन्तु शान्ति उसका प्रथम और अन्तिम लक्ष्य है । चैन की बाँसुरी के स्वर उसकी जीवन-आराधना है । तन की स्वच्छता, भवन की पूर्णता, भोजन की पौष्टिकता और धन की समुचितता वांछनीय है, परन्तु जीवननिष्ठ मूल्य इनसे अतिरिक्त भी हैं ।

लोग धन संग्रह करते हैं, मकान बनाते हैं, परिवार पोषते हैं, मन की चंचलता समझते हैं, पर इस सम्पूर्ण वातावरण का कोई आधार/कर्ता/साक्षी भी है । हर व्यक्ति उस ऊर्जा का संवाहक है । जीवन की सारी संभावनाएँ बीज रूप में उसी से जुड़ी हैं ।

वह बरगद का वृक्ष कितना फला-फूला है । द्वेर सारी शाखाओं से उसका खून-का-रिश्ता है, शीतलता और आत्मीयता का विस्तार भी खूब किया है, भरापूरा परिवार है उसका, पर पता है यह सब बीज का फल/फैलाव है । बरगद लदा है पत्तों/फलों से । हर फल एक ही बीज का परिणाम है, पर प्रत्येक फल में सैकड़ों बीज हैं । बरगद का बीज अब भी बीज रूप में है । अनगिनत बीज उससे फैले, पर अन्ततः वह बीज ही है । जो प्रथम था, वही अन्तिम है । मैं अपने उस मित्र को कैसे भूल सकता हूँ, जो जन्म के समय अकेला था; खूब फला-फूला, प्रेम का प्रसार किया और मरते वक्त निपट-निरपेक्ष था ।

बीज ने स्वयं को बीज रूप न माना, यही उसकी केन्द्र-च्युति और बोध-शून्यता थी । वृक्ष द्वारा बीज का स्मरण न केवल सम्यक्त्व और

सम्बोधि की आधारशिला है, अपितु मूल-की-ओर-वापसी भी है ।

बीज मूल का प्रतीक है और वृक्ष तूल का । जैसे बात का बतंगड़, बीज का बरगद होता है, वैसे ही मूल का तूल होता है । मूल का मतलब है केन्द्र और तूल का अर्थ है विस्तार । तूल का मूल की ओर मुड़ना प्रतिक्रमण है, जबकि मूल का तूल पकड़ना अतिक्रमण । अतिक्रमण के वातावरण में जीने वाले के लिए प्रतिक्रमण का प्रयोग/बोध जीवन-के-द्वार पर एक सही पहल है ।

बीज-बोध की घटना वास्तव में सम्बोधि है । सम्बोधि के मायने हैं बोध पाना, बुद्ध होना । गौतम बुद्ध हुए । बोध पाया, इसलिए बुद्ध कहलाए । बुद्ध हर कोई हो सकता है । बोध की सम्यक् समग्रता ही बुद्ध-स्वरूप की बुनियाद है ।

बोध की पूर्व सीढ़ी है जिज्ञासा और बोध ही व्यक्ति को सत्य का सान्निध्य और सामीप्य देता है । बिना बोध के अबोध-दशा में किया गया विश्वास अन्ध-व्यवस्था का निर्माण है । वह विश्वास अविश्वास से बदतर है, जो बाहर से निष्ठा की प्रार्थना दुहराता है और भीतर गर्भ में संदेह को पालता है । बिना जिज्ञासा और बोध के किया गया विश्वास उपचारतः व्यक्ति को आस्तिक बना देता है, किन्तु नास्तिकता उसके अन्तःकरण में साकार रहती है । नास्तिकता और आस्तिकता के संदिग्ध कगार पर खड़ा आदमी 'अभ्रव्य' है ।

इसलिए जिज्ञासा से बोध, बोध से विश्वास और विश्वास से उपलब्धि— यह क्रम जीवन में नूतन एवं सम्यक् पथ का प्रारम्भ है । सीधे विश्वास की बजाय जिज्ञासा एवं मनन का मार्ग उद्घाटित करना सत्य की ओर दो सही कदम बढ़ाना है । हर आविष्कार की प्रथम भूमिका एक मात्र जिज्ञासा रही है । बिना जिज्ञासा के मनुष्य भीतर से कोरा और अज्ञानी बना रहेगा ।

मैं जिज्ञासा का हिमायती हूँ । जिज्ञासा एवं बोध से होने वाला विश्वास श्रद्धा है । विश्वास बौद्धिक चीज है, जबकि श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय से है । इसलिए सीधे विश्वास मत करो । क्योंकि विश्वास दो ही तरीकों से दिमाग में घर करता है— या तो परम्परागत या आरोपित ।

परम्परागत प्राप्त चीज स्वयं की उपज नहीं है और आरोपित चीज किसी के द्वारा जबरदस्ती थोपना है। फूल खिलता है सहजतया, नैसर्गिक। किसी तथ्य को जाने बिना विश्वास करना गलत है, तो अविश्वास करना भी अनुचित है। जिसे जाना नहीं उसके प्रति विश्वास न करना सामान्यतः बुद्धिमानी है, परन्तु खोज-खबर किये बना अविश्वास करना लापरवाही है।

आखिर उस विश्वास की कीमत कितनी हो सकती है, जिसे बनाए और संजोए रखने में व्यक्ति को उम्र/आधी-उम्र कुर्बान करनी पड़ती है, किन्तु किसी एक ठोकर से व्यक्ति के सम्पूर्ण विश्वास को लकवा मार जाता है। हर इन्सान अपनी जिन्दगी में अनेकानेक लोगों के प्रति विश्वास करता है, मगर दुनिया में विश्वासघात अधिकतर वे ही करते हैं, जिनके प्रति विश्वास किया जाता है। इसलिए जीवन की आधारशिला हमें उस धरातल पर रखनी चाहिए, जिसकी जाँच-परख हम कर चुके हैं। ध्यान उसी धरातल-की-कसौटी है।

ध्यान मृत्यु नहीं, जीवन की समग्रता में प्रवेश है। वह ऊर्जा को शून्य नहीं करता, वरन् उसे सौ गुना बढ़ाता है। सचमुच ध्यान सत्य के प्रति जिज्ञासा है, उसकी प्राप्ति के लिए तैयारी है, उसकी समग्रता में सराबोर रहने का सरोवर है। मैंने माना कि शरीर सत्य है, विचार भी सत्य है, मन भी सत्य है। इन सत्यों के हमें एड़ी-से-चोटी तक ढेर सारे अनुभव भी हैं। मगर इस नगर-का-मरघट इन सत्यों की सत्यता पर प्रश्न-चिन्ह लगाता है। वह एक नई जिज्ञासा और एक नई उत्सुकता जगाता है। वह कहता है वे सत्य तो उस सत्य के सामने निरे बौने हैं, जिसकी वजह से ये सत्य-रूप लग रहे हैं।

मेरा निवेदन है उस सत्य के लिए जहाँ एक समग्रता विराजमान है, उस सत्य के लिए जो हर असत्य का मूक दर्शक है। उस यथार्थ तक दो कदम बढ़ाने को भी हमने चेष्टा न की, जो मन और तन की हर छिया-छी का गवाह बना रहा। आखिर वही तो जीवन की नींव है। उसके प्रति जगने वाली जिज्ञासा जितनी गहनतम होगी, अन्तर-की-प्यास उतनी ही भूमा रूप होती जाएगी। ध्यान का कार्य-क्षेत्र है उस प्यास की मशाल को निन्तर जलाये रखना, बुझने न देना। पकड़ जितनी गहरी होगी, कोशिशें

उतनी ही कामयाब होंगी ।

योग के प्रवेश-द्वार पर उस समग्रता का ही आह्वान है । चेहरे पर मुहैया होने वाली मुस्कान उस समग्रता की बोलती जुबान है ।

जीवन की समग्रता ऊर्जा की प्रगाढ़ता है । वह इन्सान मुर्दा है, जो ऊर्जा-क्रान्ति से मुख मोड़ लेता है । ऊर्जा आधार है हर गतिविधि का । विश्व में ऊर्जा कभी नदारद नहीं हो सकती । सर्जन ही क्यों, प्रलय भी बिना ऊर्जा के संभावित नहीं है । ऊर्जा सारे ब्रह्माण्ड में है । जहाँ ऊर्जा नहीं, वहाँ लोक नहीं ।

बहुत सारी पवित्र किताबें कहती हैं कि 'विश्व का प्रवर्तक ईश्वर है' । विश्व के ऐश्वर्य को नकारा नहीं जा सकता । विश्व अभिनव सुन्दर है । सौन्दर्य की उपासना होनी चाहिये । जो विश्व के सौन्दर्य की रक्षा करते हैं, उसके प्रति स्नेहिल निगाहें रखता है, वह वास्तव में ईश्वर के पूजा-भाव से भरा हुआ है । वह व्यक्ति ईश्वर का सबसे बड़ा गुणहगार है, जो विश्व-के-वैभव पर कारतूस चलाता है, उसकी समग्रता को छलनी करता है, खून के भदे धब्बे लगाता है, बलात् दबोचता है ।

विश्व प्रेम करने जैसा है । मैत्री और प्रेम का विस्तार ही धर्म है । धर्म ने सबको धारण करने की ऋचाएँ रची हैं । परिवार को धारण करना मनुष्य की जिम्मेदारी है, परन्तु मानवता का तकाजा कुछ और ही है । वह केवल किताबों में लिखी रहने वाली चीज नहीं है । जिन्दगी में उसको ढाल लेना ही धर्म-का-आचरण है । उन लोगों के प्रति मेरा मन अभिभूत है, जो अन्य लोगों की खातिर जीवन-मूल्यों का सम्मान करते हैं । यह कार्य-क्षेत्र मनुष्य का धार्मिक और मौलिक व्यक्तित्व है ।

वैसे हर व्यक्ति में परमात्मा की संभावना है । इसे आप आर्ष-वचन समझें । आर्ष-वचन का मतलब है जो हर युग में सिद्ध होता रहा है । जिसे सिद्ध करने की जरूरत ही न पड़े, वही आर्ष-वचन है । परमात्मा की संभावना तभी से उभरी हुई है, जबसे व्यक्ति की जीवन-दर्शन को समझने की जिज्ञासा जगी । परमात्मा आत्म-प्रगति का वाचक है । मनुष्य का परम विकास ही परमात्मा की अर्थ-ध्वनि है । इस अर्थ में हर इन्सान परमात्मा

है; अगर नहीं है तो हो सकता है। वैयक्तिक चेतना का परमरूप से खिलना ही परमात्मा है।

हर व्यक्ति परमात्मा होने की ओर गतिशील है। व्यक्ति ही क्यों, पशु-प्राणी भी, यहाँ तक कि पेड़-पौधे और पहाड़ भी इस ओर बढ़ रहे हैं, देर-सबेर सभी परमात्मा होंगे। वह दिन सबसे ज्यादा सौभाग्यशाली और धरती को स्वर्ग बनाने वाला होगा, जब ब्रह्माण्ड की सकल समग्रता परमात्म-स्वरूप होगी। यह वह दिन होगा जब कोई व्यक्ति कीचड़ को भी छुएगा तो सोना बन जाएगा। वर्तमान में तो, क्षमा करने जैसा है। आज तो कोई सोने को भी छूता है तो वह कीचड़ बन जाता है। मनुष्य के प्रयास स्वर्णिमता की ओर होने चाहिये। वह अन्धकार में भले ही खड़ा हो, किन्तु प्रकाश के लिए उसे निरन्तर खोज और प्रयास करने चाहिये।

ध्यान उस परम संभावना को निमंत्रण है। यह परमात्म-स्वरूप के लिए है, स्वयं की अस्मिता की सुरक्षा के लिए है। डूबें हम ध्यान में। ध्यान में आँसू बहें, बहने दें। यह आन्तरिक घुटन को बाहर निकाल देगा। प्रकाश उभरे, स्वागत करें। यह हमें नई ऊर्जा से भर देगा। निश्चयतः ध्यान के प्रयोग विश्व को एक नई ऊर्जा और नई दिशा दे सकता है।

मनुष्य बुद्धिजीवी है। प्रयोग पर उसे सक्रिय रहना चाहिये। प्रयोग विज्ञान का सृजनधर्मी कदम है और ध्यान प्रयोग-पथ का प्रवर्तक है। ध्यान का सम्बन्ध अनुभव से है और अनुभव प्रयोग का पर्याय है। प्रयोग और अनुभव एक ही है। अनुभव आन्तरिक प्रयोगशाला का प्रयोग है और प्रयोग बाहरी प्रयोगशाला का अनुभव है। ध्यान अनुभूति के जगत् में आन्तरिक प्रयोग है।

ध्यान प्रत्येक को करना चाहिये। ध्यान से मानसिक घुटन तो टलती ही है, नई स्फूर्ति और नई ऊर्जा से भी साक्षात्कार होता है। ऊर्जा मनुष्य की चैतन्य-शक्ति है। ध्यान उस ऊर्जा का सम्पादन है।

ध्यान सिर्फ अन्तर्यात्रा ही नहीं है, वरन् अन्तर की स्वच्छता एवं प्रदूषण-मुक्ति के लिए सार्थक अभियान भी है। अच्छाइयों के प्रति व्यक्ति की रुचि बढ़ती है। बुराइयाँ उससे बिना किसी प्रयास के छूट जाती हैं।

जब मनोचेतना स्वयं से ही अभिमुख हो जाएगी, तो बुराइयों के प्रति रहने वाला भाव स्वयमेव समाप्त हो जाएगा। जब व्यक्ति भीतर से परम मौन हो तो महत्वाकांक्षा तो दूर, आकांक्षा भी मेंढक-मुहर टर्-टर् नहीं करेगी।

ध्यान है आन्तरिक अनुशासन की व्यवस्था का निर्माण। मनुष्य की चेतना सारे जहान में भटकती है। उसे केन्द्र के सिंहासन पर बैठाना ही आंतरिक अनुशासन है। बिना आत्मानुशासन के अन्याय, अराजकता, हिंसा जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ जड़ से उखड़ नहीं सकतीं। ध्यान उसे प्रारम्भिक सोपानों पर ही एक भीतरी अनुशासन को जन्म देने लग जाता है। यदि आत्म-केन्द्रीकरण पूरा हो जाए तो वह वास्तव में चैतन्यजगत् का महोत्सव है।

शुरूआत में व्यक्ति को ध्यान करना पड़ता है, किन्तु बाद में ध्यान में होता है। करना प्रयास है, होना अनायास, सहजता है, प्रकृति है। कुछ होने के लिए कुछ करना पड़ता है। पहले पहल तो प्रयासपूर्वक कार चलानी सीखनी पड़ती है, किन्तु चलाने में अविरत रहने पर उसे सहजतः चलाया जा सकता है। ध्यान की सिद्धि भी ऐसा ही प्रयास है। जितना इससे जुड़ेंगे, इसकी प्रगाढ़ता उतनी ही गहरी होती जाएगी। फिर तो ऐसे लगेगा जैसे ध्यान कोई योग-साधना नहीं, अपितु जीवन का अंग है, मेरी परछाई-जैसा है।

चूंकि ध्यान का सम्बन्ध जीवन से है, इसलिए यह समय-निरपेक्ष है। समय की कोई पाबंदी इसके लिए नहीं है। फिर भी सुबह-शाम दोनों समय ध्यान कर लेना चाहिये। सूर्योदय का समय जीवन की पंखुरियों को ऊर्जा-पूरित करने में सहयोग देता है। हर सूर्योदय एक नया शैशव है। सुबह में किया जाने वाला ध्यान स्वयं की सोयी ऊर्जा को जगाने और नई ऊर्जा को एकत्रित करने के लिए है। जबकि संध्याकाल में किया जाने वाला ध्यान बिखरी ऊर्जा के सम्पादन के लिए है।

सूर्य प्रकाश का प्रतिनिधि है। ऊर्जा की समग्रता के साथ वह उदित होता है। यह प्रकृति की ओर से मानव को जागरण का आह्वान है। योगासन की क्रिया-प्रक्रियाओं में सूर्य-स्नान का इसीलिए महत्त्व है। सूर्य की उगती पारदर्शी किरणों को अपने बदन पर पड़ने देना ही

सूर्य-स्नान है । ऊर्जा शक्ति है और सूर्य के साथ मानवीय-शक्ति का बेहद संतुलन है । इसलिये मैं यह सलाह दूंगा कि सूरज की उगती रोशनी का भरपूर उपयोग किया जाये ।

ध्यान भीड़ के कोलाहल से साधक को ऊपर उठाते हुए आत्म-एकत्व में प्रतिष्ठित करता है । इसलिए ध्यान आत्म-एकत्व की एकाग्रता है । वह अकेले भी किया जा सकता है और औरों के साथ भी । ध्यान के समय व्यक्ति के चारों तरफ एक विशेष प्रकार की तरंगें उभरती हैं । इसे आभामंडल भी कहा जा सकता है । यह ऊर्जा का स्पन्दन है, एक मंडल है, आवर्तन है । यदि हमारे साथ और कई लोग ध्यान में बैठें तो हमें इस पर आपत्ति नहीं करनी चाहिये, अपितु इस सामूहिक ध्यान-मंच का स्वागत करना चाहिये । यदि कई लोग एक साथ बैठकर ध्यान करते हैं तो आभामंडल की ये तरंगें और प्रगाढ़-प्रभावी हो सकती हैं । इससे बाहर का वातावरण भी हमारे लिये अनुकूल बन सकता है ।

शौच-स्नान से निवृत्त हो जायें, योगासन कर सकें तो ज्यादा अच्छा है । इससे एक नयी स्फूर्ति प्राप्त हो जाती है । सहज आसन में बैठ जायें, कमर को सीधी रखें ।

प्रथम चरण में देह-ऊर्जा को स्थित करना पड़ता है । इसके लिए हम ॐ का उद्घोष करें । इसे बार-बार दोहरायें और इस पर ध्यान करें । स्वयं को, स्वयं की ऊर्जा को ललाट पर, दोनों भौंहों के बीच या हृदय के मध्य भाग में केन्द्रित करने का प्रयास करें ।

दूसरे चरण में मन-की-क्रियाशीलता-से-मुक्त होना पड़ता है । इसके लिए हम सांस का सहारा ले सकते हैं । पहले गहरे, फिर तेज और बाद में सहज सांसों में प्रवेश करें । सांसों की पूर्वापर तीव्रता तब तक हो, जब तक हम थक न जायें । सांसें चलती रहेंगी, हम स्थित हो जायें द्रष्टा-स्वरूप में; भूल जायें अपने शरीर को, अपने मन को । यह विस्मरण ही हमें एक अलख शांति और शून्यता में प्रवेश करायेगा ।

तीसरे चरण में अस्तित्व-विहार होता है । एक ऐसी गहराई में प्रवेश होता है, जो अनुभव से भी दो कदम आगे है । हमें समरस होना होता

है अपनी ऊर्जा के साथ, चैतन्य-शक्ति के साथ । यहाँ जब शरीर और मन के पार चले जाते हैं, तो जीवन की एक गहन प्रशान्तता उभरती है । सहकारी बन जायें जो कुछ उस समय घटित हो रहा है । इस समय हम अपने अन्तरजगत् में जहाँ भी हैं, जो भी हो रहा है, अपनी वास्तविकता से साक्षात्कार है । यह चरण वास्तव में सम्बोधि से समाधि की ऊँचाइयों को जीवन में विकसित करता है ।

यह स्थिति जीवन का परम पुण्य-कृत्य है । हम मर चुके हैं एक परम भाव से, परम तृप्ति से, परम ऊर्जा से, परम संगीत से । साक्षात्कार हुआ है जीवन के अन्तर् वैशिष्ट्य से, आत्म-वैभव से । आप प्रमुदित हुए, आनन्द-मग्न । धन्यवाद दीजिए स्वयं की धन्यता पर, कृतपुण्यता पर ।

प्रतीक्षा है जीवन में ऐसे ही सूर्योदय की, प्रतिदिन । जीवन के इस उत्सव में सरीक होने के लिए न्यौता है प्रभात का; मंगल कामना के साथ ।



ध्यान से सधती शान्ति, शक्ति, समाधि

पौ जन्म है, प्रभात बचपन है, दोपहर जवानी है, सन्ध्या बुढ़ापा है, रात मृत्यु है । जीवन एक बिना रुकी यात्रा है । पूर्व में उगा सूरज पश्चिम की ओर कदम-पर-कदम बढ़ाता है । हर कोई जीवन में कुछ-न-कुछ कमाता है, पैदा करता है । बाँझ अभागा माना जाता है । बाहर का कमाया-जमाया यहीं धरा रह जाता है । अपने भीतरी जीवन में कुछ पैदा किये बिना चले जाना स्वयं का बाँझपन नहीं तो और क्या है ?

रात जीवन-कहानी का विराम है । सन्ध्या आ रही है । काल उपहास करे, उससे पहले सन्ध्या को सार्थक कर लेना सफेद बाल वालों की अनुभव-प्रौढ़ता है । जिन्दगी बहुत बीत चुकी है । शेष बची थोड़ी जिन्दगी के लिए भी आँख खुल जाये, तो लाखों पाये । यह जरूरी नहीं है कि जो काम पूरी जिन्दगी में नहीं होता, वह थोड़े समय में नहीं हो सकता । विद्यार्थी साल भर मेहनत कहाँ करता है ! परीक्षा की घड़ी ज्यों-ज्यों करीब आती है, मानसिकता उसके मुताबिक तैयार होती चली जाती है । परीक्षा के दिनों में समय कम, पर लगन अधिक होती है । यह लगन ही सफलता-की-बुनियाद है ।

व्यक्ति को अपने समय की दूसरे सभी कामों से थोड़ी-थोड़ी कटौती करनी चाहिये और घड़ी-दो-घड़ी का समय ध्यान में लगाना चाहिये । अन्तरशक्तियों के सम्पादन एवं जागरण के लिए रात को सोते समय और सुबह उठते समय ध्यान में स्वयं को सक्रिय अवश्य कर लेना चाहिये । घड़ी भर किये गए ध्यान का प्रभाव चौबीस घड़ियों तक तरंगित रहता है । दवा की एक गोली भी दिन भर स्वास्थ्य की लहरें फैला सकती हैं । जिसे एक बार ध्यान का रंग चढ़ गया, वह उतरना सहज नहीं है । दूध पीने के बाद समुन्द्र के पानी को पीने की चाह कौन करेगा !

ध्यान इस धरती पर स्वर्णिम सूर्योदय है । ध्यान हमें सिखाता है घर आने की बात, नीड़ में लौटने की प्रक्रिया ।

चित्त परमाणुओं-की-ढेरी है । परमाणु जीवन-जीवी नहीं होते । ध्यान चित्त को चैतन्य बनाने की गुंजाइश है । लोग समझते हैं कि ध्यान मृत्यु है, वह हमें अपनी चित्तवृत्तियों को रोकना सिखाता है । जबकि ऐसा नहीं है । ध्यान से बढ़कर कोई जीवन नहीं है । वह हमें रुकना या रोकना नहीं सिखाता, वरन् लौटना सिखाता है । वह तो यह प्रशिक्षण देता है कि इसमें गति करो । जितनी तेज रफ्तार पकड़ सको, उतनी तेज पकड़ लो । जब स्वयं में समा जाओगे, तो स्थितप्रज्ञ बन जाओगे । जहाँ अभी हम जाना चाहते हैं, वहाँ गये बिना ही सब कुछ जान लेंगे । उसकी आत्मा में प्रतिबिम्बित होगा सारा संसार । परछाई पड़ेगी संसार के हर क्रिया-कलाप की उसके घर में पड़े आईने में । यह असली जीवन है । यह वह जीवन है, जिसमें दौड़-धूप, दंगे-फसाद, आतंक-उग्रवाद की लूँ नहीं चलती । यहाँ तो होती है शान्ति, परम शान्ति, सदाबहार ।

मन सक्रिय है । ध्यान मन की सक्रियता को हड़पता नहीं है । उसे निष्क्रिय करके शव नहीं बनाता, बल्कि चेतना के विभिन्न आयामों पर उसे विकसित करता चलता है । जिस मन के कमल की पंखुड़ियाँ अभी कीचड़ से कुछ-कुछ छू रही हैं, ध्यान उन्हें कीचड़ से निर्लस करता है । सूरज की तरह उगकर उसे अपने सहज स्वरूप में खिला देता है । यानी उसे वास्तविकता का सौरभ दे देता है । यह प्रक्रिया निष्क्रियता और जड़ता प्रदान करने की नहीं है । यह तो विकासशीलता का परिचय देती है ।

नाभि में कुण्डलिनी सोयी है । उसे जागृत कर ध्यान चक्रों का भेदन करवाता है । जब व्यक्ति ध्यान के द्वारा चक्रों का भेदन करता है, तो वह नीचे से ऊपर की यात्रा करता है । यह ऊर्ध्वारोहण है, एवरेस्ट की चढ़ाई है । षड्चक्रों का भेदन वास्तव में षड्लेश्याओं का भेदन है । इन चक्रों के पार है वीतरागता, जहाँ साधक को सुनाई देता है, ब्रह्मनाद, कैवल्य-का-मधुरिम-संगीत ।

ध्यान वस्तुतः आत्म-शक्ति की बैटरी को चार्ज करने का राजमार्ग

है । अब यह हम पर निर्भर है कि हम उस बैटरी को कब चालू करें, कब उसका उपयोग करें और उसकी शक्तियों का लाभ लें । आज न केवल बाहरी खतरे बढ़े हैं, वरन् भीतरी खतरे भी बहुत बढ़-चढ़ गये हैं । सच्चाई तो यह है कि भीतर बाहर से भी ज्यादा खतरे बढ़े हैं । इसलिए आज समस्याओं की पहेलियों को सुलझाने के लिए ध्यान अचूक है । हमें अधिक समय न मिले, तो दर-रोज सुबह चौबीस मिनट ध्यान अवश्य करें । शत्रुपक्ष की बातें छोड़ने की चेष्टा करें और अपने घर में सजी चीजों का आनन्द लें । घर लौटने का रस पैदा होते ही मन-की-एकाग्रता सधेगी ।

रस जगना जरूरी है । 'रसो वै सः' वह रस रूप है । अपना घर तभी अच्छा लगेगा, जब इसके प्रति रसमयता जगेगी । रसमयता मन की एकाग्रता की नींव है । पिछें हम रसमयता के प्याले-पर-प्याले, जिससे सफल हो सके ध्यान, पा सकें हम ध्यान के जरिये अपने घर को, लक्ष्य को, मंजिल को ।

स्वयं की एकरसता ही समाधि है । रसमयता का ही दूसरा नाम एकाग्रता है । मन की चंचलता रसमयता का अभाव है । जैसे पके हुए बाल एक लम्बे जीवन-की-दास्तान है, वैसे ही रस की परिपक्वता ध्यान की मंजी हुई कहानी है ।

व्यक्ति का ध्यान के बिना कोई अस्तित्व नहीं है । ध्यान एक व्यभिचारी का भी हो सकता है । वासना और वासना से सम्बन्धित बिन्दुओं पर वह एकाग्रचित्त रहता है । पर यह ध्यान अशुभ है । वह इसलिए, क्योंकि यह ध्यान उत्तेजना, विक्षोभ एवं आक्रोश को जन्म देता है । वह हिमालय-का-शिखर नहीं, अपितु सड़क-का-सांड है ।

जो स्वयं को स्वयं की नजरों में आत्म-तृप्त और आह्लाद-पूर्ण कर दे, वही ध्यान शुभ है । वह बाहरी संघर्ष से पलायन नहीं है । ध्यान शक्ति भी देता है और शान्ति भी । शक्ति पुरुषार्थ को प्रोत्साहन है और शान्ति उसकी मंजिल । सुबह के समय किया जाने वाला ध्यान शक्ति के द्वार पर दस्तक है और संध्या समय किया जाने वाला ध्यान शान्ति की इयोद्धी पर । सुबह तो रात भर सोयी-लेटी ऊर्जा का जागरण है । जबकि सन्ध्या दिन भर मेहनत-मजदूरी कर थकी-मांदी चेतना की पहचान है । सुबह अर्थात् सम्यक् बहाव और संध्या

अर्थात् सम्यक् ध्यान । सुबह/शक्ति कुण्डलिनी से चेतना-के-ऊर्ध्वारोहण-की-यात्रा की शुरूआत है । सन्ध्या/शान्ति उस यात्रा-यज्ञ की पूर्णाहुति है । शक्ति-जागरण के लिए पद्मासन, सिद्धासन, प्राणायाम भी सहायक-सलाहकार हैं और शान्ति-अभ्युदय के लिए शवासन, सुखासन भी अच्छे साझेदार हैं ।

आसनपूर्वक ध्यान स्वास्थ्य-लाभ की पहल है । ध्यान के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अपरिहार्य है । आसन इसीलिए किये जाते हैं । आसन का सम्बन्ध ध्यान से नहीं, अपितु शरीर से है । आसन एक तरह से व्यायाम के लिए हैं । भूख लगे, जीमा हुआ पचे, शरीर-शुद्धि हो, यही आसन की अन्तर्कथा है । ध्यान शरीर-शुद्धि नहीं, बल्कि चित्त-शुद्धि है । ध्यान के लिए तो वही आसन सर्वोपरि है, जिस पर हम दो-तीन घंटे जमकर बैठ सकें ।

स्वस्थ मन के मंच पर अध्यात्म के आसन की बिछावट होती है । आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए मन की निरोगता आवश्यक है और मन की निरोगता के लिए कषायों-का-उपवास उपादेय है । विषयों-से-स्वयं-की-निवृत्ति ही उपवास का सूत्रपात है । क्षमा, नम्रता और संतोष के द्वारा मन को स्वास्थ्य-लाभ प्रदान किया जा सकता है ।

समाधि स्वास्थ्य का विपक्ष नहीं है । यह शरीर को एकत्रित ऊर्जा देकर स्वास्थ्य-लाभ की दिशा में सहायिका बनती है । सांसों पर संयम करना, चित्त के बिखराव को रोकना और इन्द्रियों की अनर्गलता पर एड़ी देना— यही तो समाधि के खास सेतु हैं और आयु-वर्धन तथा जीवन-पोषण के लिए भी यही मजबूत सहारे हैं ।

आसन शरीर का एकान्त कर्मयोग है । यह शरीर को श्रम का अभ्यासी बनाये रखने का दत्तचित्र उपक्रम है । जो तन्मयतापूर्वक काम करता है, वह कई तरह के साधनों को साध लेता है । अध्यात्म का अर्थ यह नहीं होता है कि सब काम छोड़-छाड़ दो । काम से जी-चुराना अध्यात्म नहीं है, अपितु काम को तन्मयता एवं जागरूकतापूर्वक करना अध्यात्म-की-जीवन्त-अनुमोदना है । निष्क्रियता अध्यात्म की परिचय-पुस्तिका बनी भी कब ! अध्यात्म का प्रवेश-द्वार तो अप्रमत्तता है । प्रमाद छोड़ कर दिलोजान से काम करते रहना इस कर्म-भूमि का महान् 'उद्योग' है ।

उद्योग अर्थात् उद् + योग > ऊँचा योग । उद्योग की बुनियाद श्रम है और श्रम करना ऊँचा योग है । अगर श्रम ठीक है, तो उद्योग करना कहाँ पाप है ! यह तो जीवन की साधना का एक जरूरतमन्द पहलू है । अपनी मेहनत-की-रोटी-खाना अपने पौरुष-का-पसीना निकालना नहीं है, वरन् पसीने के नाम पर उसका उपयोग करते हुए, उसे जंग लगने से दूर रखना है ।

अपने हाथों से तन्मयतापूर्वक श्रम करना पापों-से-मुक्ति पाने का आसान तरीका है । दूसरों द्वारा कोई काम कराने की बजाय स्वयं करना अधिक श्रेयस्कर है । खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते हर समय होश रखना स्वयं को गृहस्थ-सन्त के आसन पर जमाना है । ध्यान-योग की यही व्यावहारिकता है ।

दिन संसार है; रात उससे आँख मूँदना है । दिन में अपनी वृत्ति फैलाओ, ताकि जीवन की गतिविधियाँ ठप्प न हो जाएँ और साँझ पड़ते-पड़ते सूर्यकिरणों की तरह उनका संवरण कर लो । यही चित्त का फैलाव और संकोच है । यदि रात को स्वप्न-मुक्त निद्रा भी ली, तो भी वह चित्त-की-एकाग्रता ही है । ध्यान का काम स्वप्न-मुक्त/निर्विकल्प चित्त का प्रबन्ध है । जब किसी आसन पर बैठे बिना ही, बिना प्रयास किये ध्यान हो जाये, तो ही वह जीवन का इंकलाब है । जब ध्यान अभ्यास और सिद्धांत से ऊपर जीवन का अभिन्न अंग बन जाये, तभी वह अन्तर्मन में परमात्मा के अधिष्ठान का निमित्त बनता है ।

स्वयं-के-द्वारा स्वयं-को स्वयं-में देखने की प्रक्रिया स्वच्छ ध्यान है। स्वयं से मुलाकात हो जाने का नाम ही आत्मयोग है । ध्यान है अन्तर्यात्रा । वह भीतर का बोध कराता है । मन का हर संवेग वह सुनाता है । ध्यान के समय मन का भटकाव फिसलन नहीं है, अपितु अन्तरंग में दबे-जमे विचारों-का-प्रतिबिम्ब है । ध्यान अगर ऊपर-ऊपर होगा, तो वह ऊपर-ऊपर के विचार जतलाएगा; यदि गहरा होगा, तो गहराई से साक्षात्कार करवाएगा । जो यह कहते हैं कि ध्यान के समय हमारा मन टिकता नहीं, वे ध्यान नहीं करते, वरन् ध्यान के नाम पर औपचारिकता निभा रहे हैं । ध्यान ज्यों-ज्यों गहरा होता जाएगा, त्यों-त्यों विचार भी गहरे होते जाएँगे । वे बड़े पके हुए और सधे हुए फल होंगे । समाधि-के-क्षणों-में आने वाले विचार आत्म-ज्ञान की झंकार है । समाधिमय जीवन में उभरे

विचार स्वयं की भागवत् अभिव्यक्ति है ।

समाधि समाधानों-का-केन्द्र है । समाधान तो हजारों किस्म के होते हैं, पर समाधि समाधानों-का-समाधान है । यह उत्तरों-का-उत्तर/अनुत्तर है । भला, जो जगमहाहट सूरज में है, वह ग्रह-तारों में कहाँ से हो सकती है ? उसकी उजियाली को बादल ढांक नहीं सकता । इसलिए समाधि अन्तर्-व्यक्तित्व के विकास की समग्रता है । ध्यान इसमें मददगार है । अचेतन मन को राहत देना ध्यान की प्रफुल्लता है । रोजमर्रा की तनाव-भरी जिन्दगी में भी स्वस्थ मानसिकता तथा प्रफुल्लता को अंकुरित करना ध्यान की मौलिक देन है ।

ध्यान और समाधि कोई चमत्कार नहीं है । यह चित्त के साथ एकाग्रता तथा वास्तविकता की दोस्ती है । चमत्कार मायाजाल भी हो सकता है, पर समाधि बाजीगरी और मदारीगिरी नहीं हो सकती । चमत्कार हर आदमी नहीं कर सकता, पर समाधि हर आदमी पा सकता है । तन्द्रा टूटी कि समाधि की देहरी पर पाँव रखा ।

किसी ने मुझसे पूछा कि मन्दिर में घण्टा क्यों बजाया जाता है ? क्या भगवान को जगाने के लिए ?

मैंने कहा, नहीं । मन्दिर में घण्टा बजाया जाता है अपने आपको जगाने के लिए, स्वयं को तन्द्रा से उबारने के लिए । ताकि दुनिया-जहान के बिखराव और भटकाव को रोककर मन्दिर में एकाग्रचित्त हो सके, मन्दिर हमारी श्रद्धा-का-घर है । वह हमारे चित्त की एक उज्ज्वल भाव-दशा है । जहाँ चित्त शांति और समाधि का आलिंगन करे, वही मन्दिर है । घण्टा भीतर के लिए जाग-घड़ी है । उसे सुनकर यदि खुद जग गये, तो खुदा जगा है । खुद भी न जगे, तो खुदा को क्या जगाओगे ! वह जागृत के लिए जागृत और सुप्त के लिए सुप्त/लुप्त है ।

ध्यान हमें भीतर में आठों पहर जगाए रखता है । वासना की तन्द्रा ध्यान-प्रहरी को आन्दोलित नहीं कर सकती । इन्सान जकड़ा है वासना के पंजों में । उसकी जड़ें गहराई तक हैं । मन में जितनी गहरी वासना है, उतनी ही गहरी मुक्ति की भावना होगी, तभी पुनर्जन्म की जड़ उखड़ सकती है । जीवन का फूल सोये-सोये न मुरझा जाये, इसके लिए सावचेत रहना जीवन-कर्त्तव्य

है। प्राप्त क्षण को बेहोशी में भुला बैठना वर्तमान को ठुकराना है। वर्तमान का अनुपस्थी ही अतीत के नाम पर भविष्य का सही इतिहास लिख पाता है। वर्तमान से हटकर केवल भूत-भविष्य के बीच जीवन को पैँडुलम की तरह चलाने वाला अधर में है।

वर्तमान जीवन की मौलिकता है। वह देह नहीं, वह प्राण है। कज्जल/धवल देह के भीतर पालखी मारे जमा है एक जीवन-साधक। उसे पहचानना ही जीवन की सच्चाइयों को भोगना है। वहाँ बिन बादल बरसात होती है, बिन टकराहट बिजली चमकती है। मूक है वहाँ भाषा/भाषण। अनुभव के झरने में आवाज नहीं, मात्र अमृत-स्नान होता है। समाधि उस जीवन-साधक से साक्षात्कार है। यह स्थिति पाने के लिए हमें पार करने होंगे समाधि-के-चरणों को। समाधि मार्ग नहीं; समाधि लक्ष्य है, मंजिल है।

समाधि के तीन चरण हैं— एकान्त, मौन और ध्यान। एकान्त संसार से दूरी है, मौन अभिव्यक्ति से मुक्ति है और ध्यान विचारों से निवृत्ति है। घर-भर के सभी सदस्य अपने-अपने काम से बाहर गये हुए हैं। हम घर में अकेले हैं। यह हमारे लिए एकांत-का-अवसर है। कुछ समय के लिए घर भी गुफा का— एकांतवास का मजा दे सकता है। अभिव्यक्ति रुकी, तो दोस्ती-दुश्मनी के समाजिक रिश्ते अधूरे/धमे रह गये। भला, गूंगों का कोई समाज/सम्बन्ध होता है। जब किसी से कुछ बोलना ही नहीं है, तो विचार क्यों/कैसे तरंगित होंगे। निर्विचार-ध्यान ही समाधि का प्रवेश-द्वार है।

व्यक्ति रात-भर तो मौन का साधक बनता ही है, किन्तु वह सोये-सोये। दिन में नींद नहीं होती, जाग होती है, पर मन बड़बोला रहता है। अध्यात्म में प्रवेश के लिए एकांत उपयोगी है और मौन भीड़ में भी अकेले रहने की कला है। जीवन में मौन अपना लेने से व्यावहारिक झगड़े तथा मुसीबतें भी कम हो जाएँगी।

मौन विचारों की शक्ति का हास नहीं; वरन् उसका समीकरण है। भाषा आंतरिक ऊर्जा को बाहर निकाल देती है, किन्तु मौन ऊर्जा-संचय का माध्यम है। बहिर्जगत से अन्तर्जगत में प्रवेश के लिए मौन द्वार है। स्वयं की नई शक्तियों का आविर्भाव करने के लिए मौन प्राथमिक भूमिका है। इसलिए मौन

अपने आप में एक ध्यान-साधना है। यह वाणी-संयम का प्रहरी है, शक्ति-संचय करने वाला भण्डार है, सत्य को अक्षुण्ण बनाए रखने वाला मन्त्र है।

जिसने मन, वचन और काया के द्वार बन्द कर लिए हैं, वही सत्य का पारदर्शी और मेधावी साधक है। उसे इन द्वारों पर अप्रमत्त चौकसी करनी होती है। उसकी आँखों की पुतलियाँ अन्तर्जगत के प्रवेश-द्वार पर टिकी रहती हैं। बहिर्जगत के अतिथि इसी द्वार से प्रवेश करते हैं। अयोग्य/अनचाहे अतिथि द्वार खटखटाते जरूर हैं, किन्तु वह तमाम दस्तकों के उत्तर नहीं देता, मात्र सच्चाई की दस्तक सुनता है। वह उन्हीं लोगों की अगवानी करता है, जिससे उसके अन्तर्-जगत का सम्मान और गौरव-वर्धन हो।

समाधि भीतर की अलमस्ती है। चेहरे पर दिखाई देने वाली चैतन्य-की-प्रसन्नता में इसे निहारा जा सकता है। यह किसी स्थान-विशेष की महलनुमा सोनैया संरचना नहीं है, न ही कहीं का ठाणापति/स्थानापति होना है, वरन् अन्तरंग की खुली आँखों में अनोखे आनन्द-की-खुमार है। वह हार में भी मुस्कुराहट है, माटी में भी महल की जमावट है। समाधि शून्य में विराट् होने की पहल है। वासना-भरी प्यासी आँखों में शलाई घोंपने से समाधि रोशन नहीं होती, अपितु भीतर से सियासी आसमान की सारी बदलियाँ और धुंध हटने के बाद किरण बनकर उभरती है।

समाधि तो स्थिति है। वहाँ वृत्ति कहाँ ! प्रवृत्ति की सम्भावना से नकारा नहीं जा सकता। वृत्ति का सम्बन्ध तो चित्त के साथ है, जबकि समाधि का दर्शन चित्त के पर्दे को फाड़ देने के बाद होता है। चेतना का विहार तो चित्त के हर विकल्प के पार है। समाधि में जीने वाला सौ फीसदी अ-चित्त होता है, मगर अचेतन नहीं। चेतना तो वहाँ हरी-भरी रहती है। चेतना की हर सम्भावना समाधि की सन्धि से प्रवर्तित होती है। उसे यह स्मरण नहीं करना पड़ता कि मैं कौन हूँ। उसके तो सारे प्रश्न डूब जाते हैं। जो होता है, वह मात्र उत्तरों-के-पदचिन्हों-का-अनुसरण होता है।



शवास-संयम से ब्रह्म-विहार

जीवन की व्यवस्थाएँ बनाए रखने के लिए मनुष्य ने आयाम खड़े किये हैं। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण- ये सब मनुष्य द्वारा बनाये गए सोपान ही हैं। कोई व्यक्ति ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने से ब्राह्मण और शूद्र-कुल में जन्म लेने से शूद्र नहीं हो जाता। मुझे मानव से बहुत प्यार है। भले ही उसने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया हो, या शूद्र कुल में। आदमी को उसके जन्म के कारण बांटा नहीं जा सकता। शूद्र-कुल में उत्पन्न होना नफरत का आधार नहीं है और ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होना पूजनीय नहीं है। आदमी तो शूद्र-कुल में पैदा होकर ब्राह्मण हो सकता है और ब्राह्मण-कुल में पैदा होकर शूद्र हो सकता है। इसलिए आदमी को जन्म के आधार पर बांट डालने की चेष्टा मत करिएगा।

मेरी समझ से तो हर आदमी शूद्र ही पैदा होता है। ब्राह्मणत्व तो प्राप्त करना पड़ता है। ब्राह्मण-कुल में पैदा होने वाला भी शूद्र तथा शूद्र-कुल में पैदा होने वाला भी शूद्र के रूप में ही जन्मा है। सच तो यह है कि व्यक्ति जन्म से कुछ नहीं होता। उसे ब्राह्मण कहना भी अपराध है और शूद्र कहना भी। मैं जिस व्यक्ति को ब्राह्मण और शूद्र सोचता हूँ, उस सोच के सारे आधार और मापदण्ड जीवन के साथ जुड़े हैं, जन्म के साथ नहीं।

हमारे शरीर के चार प्रमुख आधार हैं। पहला आधार— शरीर, दूसरा— मन, तीसरा— आत्मा और चौथा आधार है : परमात्मा। जो व्यक्ति देह-भाव में जीता है, वह शूद्र है। मन-भाव में जीनेवाला वैश्य, आत्मा-भाव में जीनेवाला क्षत्रिय और परमात्मा-भाव में जीनेवाला ब्राह्मण है।

आदमी देह लेकर पैदा होता है और देह-भाव में जीता चला जाता है। इसलिए आदमी का अधिकांश जीवन शूद्र के रूप में ही बीतता

है । जो व्यक्ति यह सोचता है कि 'मैं देह हूँ', वह शूद्र ही है । वह चाहे जैन हो, बौद्ध या कोई और, वह शूद्र ही है । 'मैं देह रूप हूँ, अपनी देह को धोता हूँ, संवारता हूँ', यह भाव जब तक बना रहेगा, आदमी शूद्र ही रहेगा । व्यक्ति देह के कारण, जड़ के कारण अपने भीतर ममत्व का आरोपण करता है, महावीर की भाषा में उस आरोपण का नाम ही मिथ्यात्व है और शंकर की भाषा में वही माया है ।

संसार की बात तो दूर, एक आम आदमी के जीवन की शुरूआत भी माया और मिथ्यात्व से नहीं हो सकती । अविद्या और अज्ञान से नहीं हो सकती । उसकी शुरूआत सम्यक्त्व और ज्ञान से होती है ।

पुरानी बात है । बादशाह इब्राहिम के महल के नीचे एक फकीर पहुँचा और वहाँ खड़े चौकीदार से कहा— मुझे इस 'सराय' में ठहरना है । चौकीदार हँसा, 'तुम्हारा दिमाग तो ठिकाने पर है । यह महल है, सराय नहीं ।' फकीर अड़ गया कि वह तो इस सराय में ही ठहरेगा । बादशाह संयोग से उस समय ठीक चौकीदार और फकीर के ऊपर, एक झरोखे में बैठा दोनों का वार्तालाप सुन रहा था । उसने फकीर को अन्दर बुलाया और पूछा— 'तुम इस महल को किस आधार पर सराय कहते हो, जो यहाँ ठहरने की जिद कर रहे हो ।' फकीर ने इस प्रश्न का जवाब देने के बजाय बादशाह से उल्टा प्रश्न पूछ लिया— 'तुमसे पहले इस महल में कौन रहता था ?' बादशाह बोला 'मुझसे पहले यहाँ मेरे पिता रहते थे ।' फकीर ने फिर पूछा— 'तुम्हारे पिता से पहले यहाँ कौन रहता था ?' बादशाह बोला, 'मेरे पिता-के-पिता' । 'और उनसे पहले ?' फकीर ने फिर प्रश्न कर डाला । इस बार बादशाह बोला— 'उससे पहले उनके पिता-के-पिता रहते थे ।' अब फकीर बोला कि जब इतने लोग आए, यहाँ रहे और चले गए तो यह सराय ही तो हुई । आज तुम हो, कल तुम्हारा पुत्र यहाँ रहेगा । यह तो सराय ही है । बादशाह निरुत्तर हो गया, बोला— 'फकीर ! सचमुच तूने मुझे बता दिया कि यह सराय है । अब मुझे भी यहाँ नहीं रहना है ।' उसने जाना स्वयं को और यहीं से शुरूआत हो गई ब्राह्मणत्व की ।

ब्राह्मण जरा अपने आप को टटोलें कि वे कितने ब्राह्मण हैं ? जन्म के

आधार पर जीवन के मापदण्डों को खड़ा मत करिएगा, क्योंकि जीवन के मापदण्ड जीवन के आधार पर बनते हैं, उन्हें जन्म से मत तोलिएगा। जन्म से हर आदमी शूद्र होता है। मैं तो यह कहूँगा कि जन्म से ही आदमी शूद्र नहीं होता, क्योंकि शूद्र वह है जो शरीर-भाव से जीता है।

आप रोजाना नहाते हैं, चेहरे को साफ करते हैं दाढ़ी बनाते हैं, आइने में देखते हैं। कितनी अजीब बात ! आईना (देह) ही आइने में देख रहा है। नहा चुके हो, मगर काला दाग अब भी लगा है। जिन्दगी भर नहाते रहोगे तब भी यह काला दाग नहीं छूटेगा।

आखी उमर लगाय लीधी लक्स रेक्सोना साबू।
फेर भी काळो रो काळो रेयग्यो जगजीवन राम बाबू।

बाहर का कालापन तो फिर भी उतर जाएगा, अन्दर का क्या करोगे ? आप कोयले को सफेद करने चले हैं, भला यह भी सम्भव है ? अन्धकार दूर करना है तो दिया जलाओ, रोशनी हो जाएगी। मगर देह के कालेपन को कैसे मिटाओगे ? देह के प्रति रहने वाला भाव ही शूद्रता का उदय कर बैठता है। देह के प्रति आसक्ति ही व्यक्ति-का-शूद्रत्व है।

स्त्रियों को मासिक धर्म होता है। जानते हैं क्यों होता है ? क्योंकि स्त्रियों में देह के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति होती है। यहीं से मासिक धर्म की शुरूआत होती है। जो स्त्री देह में रहते हुए भी देहातीत अवस्था में अपने आपको महसूस करती है, उसका मासिक धर्म समाप्त हो जाता है। देह के प्रति रागात्मकता ही सारे दुःखों की जड़ है।

देह के प्रति रागात्मकता के कारण मासिक धर्म होता है और मन के प्रति रागात्मकता होने के कारण पागलपन। आपने पागल देखे होंगे। आपने पाया होगा कि सौ पागल में से निन्यानवे पुरुष होते हैं तो एक स्त्री पागल नजर आती है। यही कारण है। रागात्मकता उसे छोड़ती नहीं है। इससे ऊपर उठने की जरूरत है। जो व्यक्ति शूद्र से ऊपर उठता है, वह वैश्य बन जाता है। वैश्य-मन-का प्रतिनिधि है। वैश्य का काम यही रहता है यहाँ से माल मंगाना है, वहाँ भोजना है। वह गोदाम भरता चला जाता है। मन का भी यही स्वभाव है। हमेशा 'और' की चाह

करता है। इसलिए जो मन के स्वभाव में जीता है, वह वैश्य बना रहता है, भले ही वह किसी भी कुल में जन्मा हो। असल में तो वह वैश्य ही है। मन की मांग शरीर की मांग से ज्यादा होती है। मन का पेट ही नहीं होता, इसलिए वह कभी भरता भी नहीं है। रोटी-कपड़े की चाह की भी एक सीमा है, मगर मन की नीयत कभी नहीं भरती। मन असीमित है। मन की सीमा हर सागर-के-पार है। मन के कर्मयोग के सामने ईश्वर भी बौना नजर आता है। मन की गति जैसी ईश्वर की भी गति नहीं होगी। मन की तृष्णा इतनी विराट है कि ईश्वर भी उसके सामने बौना नजर आने लगता है। कितना भी मिल जाए, फिर भी मन कहेगा 'और'। मन की परिभाषा भी यही है—

सुवण्ण-रूपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।

यदि मनुष्य को सोने-चाँदी के कैलाश-पर्वत भी मिल जाएं तो भी वह तृष्णा के लोभ में फंसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं हैं। इसलिए जो व्यक्ति मन में जीता है, वह वैश्य है।

अपने कांटे को एक स्थान पर टिकाओ। यह ऐसा रेडियो है जिसमें एक ही स्थान पर संगीत सुनाई देता है। अगर कांटा इधर-उधर घूमेगा तो क्या कोई संगीत सुन पाओगे? साधना की पहली शुरुआत यहीं से होती है। मन को एक जगह केन्द्रित करो और कांटे को एक जगह टिकाओ, ताकि कोई संगीत सुनाई दे सके। किसी बाँसुरी या वीणा के स्वर सुनाई दें। रेडियो पर कांटा विविध भारती स्टेशन के बिन्दु पर लगा है। डेढ़ से द्वाइ बजे तक गीत आ रहे हैं। उसके बाद दूसरा कार्यक्रम आया। आखिर देर रात उस बिन्दु पर आवाज बंद हो गई। इसी प्रकार समय समाप्त होने पर आपको भी लगेगा कि समय-सीमा समाप्त होने पर आपने एक अनिर्वचनीय शांति के क्षेत्र में प्रवेश किया, महाशून्य में प्रवेश किया। वहाँ विचार समाप्त हो जाते हैं, सिर्फ रह जाती है शांति। वहाँ होता है महाशून्य का अवतार। ऐसे में कुछ भी नहीं रहता और सब कुछ 'मिलना' शुरू होता है।

उदयपुर की बात है। एक पत्रकार मेरे पास आया करता था।

वह एक दैनिक समाचार पत्र में उपसम्पादक था । उसके मन में ध्यान साधना के प्रति बहुत लगाव था । एक दिन वह बोला कि जब ध्यान-साधना करने बैठता हूँ तो मेरे मन में तरह-तरह के विचार उठते हैं । मैं शांत चित्त रह ही नहीं पाता हूँ । कोई उपाय बताइये । मैं तो परेशान हो गया हूँ । मन पर जितना नियंत्रण करने का प्रयास करता हूँ, यह उतनी ही तेजी से दौड़ने लगता है ।

मैंने उसके अंतरंग का अध्ययन किया । उसे कहा कि ठीक है, तुम आज से एक काम करो । जब शाम को ध्यान करने बैठो तो जो विचार तुम्हारे मन में आएँ, उन्हें आने देना । तुम एक पत्रकार की हैसियत से काम करना । मान लेना कि तुम्हें रिपोर्टिंग के लिए कहीं भेजा गया है और नेता भाषण दे रहा है । तुम उन विचारों को अपनी डायरी में उतारते चले जाना । वह बोला— इससे क्या होगा ? मैंने उसे कहा— तुम करके देखो, शेष मुझ पर छोड़ दो । वह चला गया और उसने मेरे कहे अनुसार ही किया । दूसरे दिन मेरे पास आया तो मैंने पूछा— लिख लाए ? बोला— ‘जी हाँ !’ मैंने कहा— ईमानदारी से लिखा है ना ? उसने ‘हाँ’ में सिर हिलाया । मैंने उसे कहा— ‘अब तुम पन्द्रह दिन तक ऐसा ही करो ।’ एक पखवाड़े बाद जब वह मेरे पास आया तो उसकी डायरी भर चुकी थी । मैंने डायरी ले ली और उसे फिर से नियमित ध्यान करने को कह दिया ।

करीब एक पखवाड़े के बाद मैंने उस डायरी में लिखी सामग्री को टाइप करवाया और उसी पत्रकार के अखबार में, प्रकाशित करने के नोट के साथ भेज दिया । उसने जब वे टंकित पृष्ठ पढ़े तो दौड़ा-दौड़ा मेरे पास आया और बोला— ‘महाराजश्री ! आप तो काफी जानकार और विद्वान हैं । आपने यह क्या ऊल-जलूल लिखा है और इसे मेरे अखबार में प्रकाशनार्थ भेज रहे हैं ?’

मैंने कहा कि तुझे यह बोध आज हुआ है कि ये बातें ऊल-जलूल हैं । भाई ! ये मेरी नहीं, ध्यान-साधना के दौरान तुम्हारे दिमाग में आने वाली बातें हैं । इन्हें जरा एकान्त में जाकर पढ़ो । यह तुम्हारी आत्मकथा है । गांधी और टालस्टाय की आत्मकथा भले ही तुम पचास बार पढ़ चुके हो, मगर अपनी आत्मकथा को नहीं पढ़ा । अपने भीतर की आत्मकथा को पढ़ लेना, गाँधी की आत्मकथा को पचास बार पढ़ लेने से ज्यादा श्रेष्ठ है ।

अपनी आत्मकथा पढ़ोगे तो अपने सारे निरर्थक विचार खो जाएँगे और खुद पर ही गुस्सा आएगा। आदमी जब अपने आप पर क्रोध कर लेता है तभी क्षमा-की-धारा पैदा होती है। इसके अभाव में सारी क्षमाएँ औपचारिकता ही होती हैं। क्षमा वहीं असली स्रोत बनकर उभरती है, जहाँ व्यक्ति अपने पर क्रोध करता है। व्यक्ति अपनी लघुता को स्वीकार कर लेता है, तभी निर्मल होता चला जाता है। मन में आखिर कितने विचार आते हैं। कोई सैकड़ों तरह के विचार तो नहीं आते। ध्यान करने बैठो तो— पाँच, दस, बीस तरह के विचार आएँगे। दरअसल भीतर का रास्ता है ना, वह विचार-का-गलियारा है। उसका रास्ता तय है। विचार भी उन तयशुदा रास्तों पर चलता है। आपने देखा होगा समीपवर्ती गांव से कोई किसान अपनी बैलगाड़ी लेकर शहर की ओर निकलता है, तो सड़क पर आकर बैल की लगाम ढीली छोड़ देता है। बैल अपने तयशुदा रास्ते पर चलता चला जाता है। मन भी ऐसा ही है। घर से दुकान गया, दुकान से बैंक गया, बैंक से फिर दुकान, फिर मंदिर चला गया। मंदिर से वापस घर चला आया। बस गिने-चुने तय ठिकानों पर गया और लौट आया। उसे जाने दो और तुम दृष्ट-भाव से, साक्षी-भाव से, उसे देखने-परखने का प्रयत्न करो। ऐसा करके मन की तरंगें अपने आप एकाग्र होने लगेंगी। वहाँ मन के बाद जो चित्त का केन्द्र है, वह अपनी परतों को उभारता चला जाएगा।

जरा गौर करिएगा, मन और चित्त में अन्तर है। मन वह है जो हमेशा भविष्य के द्वार पर दस्तक देता है और चित्त वह है जो अतीत के द्वार पर अपने पाँव रखे रहता है। इसलिए मन कभी अतीत में नहीं जाता और चित्त कभी भविष्य में नहीं झाँकता। वह अतीत में ही जीता है। पूर्व जन्म का स्मरण व्यक्ति को चित्त द्वारा ही होता है। मन तो सिर्फ एक तरंग है, जो वर्तमान में जीता है और भविष्य की सोचता रहता है। वह परमाणु की ढेरी है। इसके विपरीत चित्त पर परतें जमी हैं। चित्त संस्कार है, मान्यताएँ हैं। पूर्व मान्यताओं पर रेत (समय) की परतें जमती चली जाती हैं। इन परतों को जैसे-जैसे उतारते चले जाएँगे स्वयं को संस्कार शून्य और मान्यता-शून्य करते चले जाएँगे, इसके साथ-साथ ही चित्त से मुक्ति मिलती चली जाएगी। प्याज के छिलके उतारते चले जाओ,

पीछे शेष रहेगा शून्य ।

जिसे विचार कहा गया है, मन कहा गया है, आज का मनोविज्ञान उसे 'कांशियस' तथा 'अनकांशियस माइंड' कहता है । शरीर को एकाग्र बनाना हो तो उसके लिए 'हठयोग' है, लेकिन विचारों की एकाग्रता के लिए 'मंत्रयोग' का सहारा लेना जरूरी है । ध्यान के समय जिस व्यक्ति के मन में विचारों का बवण्डर उठता हो, वह शांत भाव से अपने आपको एकाग्र करने का प्रयास करे । इसके बाद प्राणायाम के साथ सांस अन्दर ले तथा सांसों की प्रेक्षा करे, अनुप्रेक्षा करे । सांस लेने और छोड़ने के साथ ही 'ओ३म्' मंत्र को अपनाएँ । इससे एक ऐसी लय पैदा होगी, ऐसी राग निपजेगी कि आपको लगेगा कि सारे विचार खो गए हैं । ओ३म् को अपनी सांसों में इतना रमा लेना कि सिर्फ ओ३म् ही रह जाए । ऐसा लगे कि 'ओ३म्' को ही अन्दर खींच रहे हो और 'ओ३म्' ही बाहर निकाल रहे हो । ऐसा करने से एक संगीत पैदा होगा, ऐसी झंकार पैदा होगी, जो आपको विचार से, देह से, एकदम अलग कर देगी । आप अपने को मन से अलग समझेंगे ।

'प्राणायाम' प्राण के विभिन्न तत्त्वों को अलग-अलग डिब्बियों में ले जाकर रखना है, ताकि वह प्राण हमें भीतर से जाग्रत और स्पन्दित कर सके । मोटे तौर पर हम दो-तीन तरह के प्राणायाम कर लें तो भी काफी है । अनुलोम-विलोम, दीर्घ श्वास, सौम्य भस्त्रिका, कपाल-भस्त्रिका ।

इन तीन-चार में से कोई भी प्राणायाम कर लें तो हम पाएंगे कि भीतर की गंदगी का विरेचन शुरू हो गया । अपने आपको शून्य में पाओगे तथा शरीर हल्का होता चला जाएगा और तनाव मुक्त हो जाओगे । प्राणायाम कर लो तो अपनी सांसों में अर्द्ध श्वास-प्रश्वास के साथ ओ३म् की लयबद्धता को भी जोड़ लेना । आपको लगेगा कि आप निःशब्दता में शब्द जोड़ रहे हैं । उस समय 'ओ३म्' की अनुगूँज होगी । उसी का नाम आत्म-अनुभूति और आत्म-स्पन्दनों का साक्षात्कार है । वहीं पर सधती है मन-की-एकाग्रता ।

वास्तव में ध्यान-योग का मूल उद्देश्य जीवन को उसकी जीवन्तता से संयोजित रखना है । ध्यान का लक्ष्य व्यक्ति को मृत्यु की ओर बढ़ाना नहीं है,

वरन् जीवन की ओर लौटाना है। जीवन के सामने जीवन से बढ़कर और कोई उपलब्धि नहीं है। सम्भावनाएं मरने से नहीं उभरतीं, किसी भी सम्भावना को जन्म देने के लिए जीवन अनिवार्य है। जो चीज जीवन से सम्भव है, वह मौत से कहाँ !

यदि मैंने प्राणायाम करने के लिए कहा तो प्राणायाम को मात्र शारीरिक परिश्रम मत समझ लेना, प्राणायाम ध्यान की एक भूमिका है। ध्यान केवल मनोयोग से ही नहीं किया जाता, अपितु काय-योग से भी किया जाता है। काय-योग का मतलब शरीर के प्रति आसक्ति नहीं है, अपितु ध्यान के लिए शरीर को प्रस्तुत करना है। हमें शरीर को सूकाना नहीं है; शरीर को तो सदैव तैयार रखना है, आत्म-साधना के लिए। बड़ा अच्छा सूत्र है— 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'। धर्म में प्रवेश करने का द्वार ही शरीर है। और प्राणायाम ध्यान के लिए शरीर को पूरी तरह से निष्ठावान और एक लय बनाता है।

प्राणायाम का मुख्य सम्बन्ध सांस से है। सांस यानि जीवन की शुरूआत, जीवन की आधारशिला। कोई बच्चा गूंगा पैदा हो सकता है, पंगु भी जन्म सकता है, जन्मान्ध भी हो सकता है; किन्तु कोई भी बिना सांस के जिन्दगी नहीं पा सकता। सांस की क्रिया वास्तव में जीवन-की-प्रक्रिया है। इसलिए एक अच्छे जीवन के लिए जैसे शरीर-संयम जरूरी है वैसे ही श्वांस-संयम भी अनिवार्य है। प्राणायाम श्वांस-संयम की विधा है। श्वांस लेने, रोकने और छोड़ने की क्रिया ही प्राणायाम है। श्वांस का लेना पूरक है, भीतर रखना कुम्भक और छोड़ना रेचक है।

प्राणायाम की ये तीनों विधाएं हर आदमी से जुड़ी हैं। न केवल आदमी से, बल्कि अस्तित्व मात्र से। जिसका सांस जितनी मन्द गति से चलता है, उसका आयुष्य उतना ही अधिक होता है। आपने कुत्ते को सांस लेते हुए देखा है। कितनी तेज गति से सांस लेता है। वह एक मिनट में करीब तीस सांस लेता है। खरगोश उससे भी ज्यादा लेता है। खरगोश प्रति मिनट अड़तीस सांसों लेता है। जिस जन्तु की श्वांस संख्या जितनी ज्यादा, उसकी उम्र में उतनी कटौती होती है। खरगोश अनुमानतः आठ साल जीता है, कुत्ता तेरह-चौदह साल। डार्विन कहता है आदमी बंदर से पैदा हुआ, पर

क्या आपने कभी आदमी की श्वांस-संख्या और बन्दर की श्वांस-संख्या पर ध्यान दिया ? आदमी एक मिनट में चौदह-पन्द्रह श्वांस लेता है तो बन्दर उससे दुगुनी । बन्दर एक मिनट में बत्तीस से पैंतीस सांस लेता है ।

श्वांस पर यदि नियंत्रण हो जाए तो जीवन के आयाम विकसित किये जा सकते हैं । संयम के लिए कछुए का उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है । एक कछुआ करीब डेढ़ सौ साल जीता है । पता है इसका राज क्या है ? इसका राज है मन्द श्वांस । मन्द श्वांस का मतलब है आहिस्ते-आहिस्ते लम्बे-लम्बे श्वांस । श्वांस को एक ऐसी गति मिल जाती है कि श्वांस की अनुभूति भी नहीं होती कि वह ली जा रही है या नहीं ।

कछुआ एक मिनट में सिर्फ पाँच-छः श्वांस लेता है । प्राणायाम की अस्मिता कछुए की चेतना से बड़ी समता रखती है । श्वांस-संयम देह-संयम का भी पोषक है । श्वांस के वेग पर नियंत्रण करके व्यक्ति अपने कषाय के वेग को भी बड़ी आसानी से कम कर सकता है । यह योग-का-अनुशासन है ।

प्राणायाम से सम्पूर्ण नाड़ी-चक्रों में, स्नायुओं में, चेतना का, जीवन्त संचार होता है । कार्य-शक्ति बढ़ती है । मैंने तो यहाँ तक पाया है कि व्यक्ति के ज्ञान-तन्तु भी इससे परिष्कृत और पल्लवित होते हैं ।

एक व्यक्ति की शिकायत थी कि उसके मन में बार-बार आत्म-हत्या के भाव पैदा होते थे । मैंने उसे प्राणायाम सहित ध्यान की सलाह दी । परिणाम यह आया कि आत्म-हत्या के भाव आत्म-बोध में रूपान्तरित हो गये और समाधि की प्यास जग गई ।

शरीर हो शान्त, श्वांसों में मन्दता, विचारों में ओ३म् की लयबद्धता-ब्रह्म-विहार की पहल है । ज्ञांको, जरा अपनी अन्तर की आँखों में; सम्भावनाएँ स्वागत को आतुर हैं । वह अन्दर विराजमान स्वामी तुम्हें पुकार रहा है । उसकी पुकार सुन लेना ही सम्बोधि-से-साक्षात्कार है ।



षट् चक्रों में निर्भय विचरण

डार्विन की एक बहुत बड़ी खोज मानी जाती है। उसने कहा था, मनुष्य बन्दर से पैदा हुआ है। आदमी बन्दर की ही सुधरी हुई अच्छी नस्ल है। डार्विन के अनुसार तो आदमी पैदा ही बन्दर से हुआ है। इसके विपरीत भारतीय तत्त्व-चिन्तक कहते हैं कि मनुष्य अपनी जिन्दगी में जो बुरे कार्य करता है, उसके नतीजे के रूप में अगले जन्म में बन्दर के रूप में पैदा होता है। इस मनीषा को समझिएगा।

डार्विन ने खोजा कि बन्दर से आदमी पैदा हुआ, जबकि भारतीय तत्त्व-चिन्तकों ने कहा कि आदमी बन्दर से पैदा होता है। आदमी ही अपने कर्मों के अनुसार अगले जन्म में कीड़े-मकोड़े, बन्दर, गदहा आदि रूप में पैदा होता है। अगर इस जन्म में अच्छा कर्म किया तो देवता और बुरे कर्म किए तो नरक, पशु-पक्षी, जानवर बनोगे। डार्विन अपनी जगह ठीक है और भारतीय तत्त्व-चिन्तक अपनी जगह।

मैं डार्विन से दो कदम आगे रखने की कोशिश करूंगा। मेरी समझ से डार्विन और भारतीय तत्त्व-चिन्तक अपनी बात को ठीक तरह से नहीं कह पाए। आदमी से न बन्दर पैदा होता है और न ही बन्दर से आदमी। आदमी स्वयं बन्दर ही है। बाहर के आकार-प्रकार और लक्षण को देखकर जानवर व आदमी में खास अन्तर नहीं किया जा सकता। अफलातून ने तो कहा भी है 'मैन इज टू लेग्स एनिमल विदाउट फीदर्स' ('Man is two legs animal without feathers'), मनुष्य दो टांग वाला बिना पंखों का जानवर है। आदमी भी आखिरकार जानवर ही है। कोई चौपाया, तो कोई दोपाया।

यह जरूरी नहीं है कि इस जिन्दगी में बुरे कर्म करोगे तो अगली

जिन्दगी में दुर्गति होगी । अच्छे और बुरे कर्म के प्रतिफल स्वरूप सद्गति और दुर्गति इसी जन्म में हो जाती है । मनुष्य अपने आपको टटोले तो वह जान जाएगा कि वह कीड़ा-मकोड़ा है या बन्दर, आदमी है या देव । मरने के बाद बन्दर होना अलग बात है । मुझे तो लगता है कि आदमी अभी तो बन्दर है ।

डार्विन ने कहा, बन्दर से आदमी पैदा हुआ । अरे ! आदमी पैदा कहाँ हुआ, अभी तो काफी साधना है, आदमी बनने के लिए । पैदा तो वह बन्दर के रूप में ही हुआ है । व्यक्ति जब व्यक्ति बन जाता है तो उसके करने के लिए कुछ बचता ही नहीं है । आप जरा साक्षी-भाव से, द्रष्टा-भाव से अपने केन्द्र-भाव में सारी जागरूकता को केन्द्रित कीजिए । आपको लगेगा कि मेरा अंतर्मन तो अभी बन्दर ही है । आदमी तो अभी भी पैदा नहीं हुआ है । आदमी के रूप में बन्दर जिन्दा बैठा है । मनुष्य जब स्वयं के भीतर देखेगा तो पाएगा कि मनुष्य 'मनुष्य' नहीं बन पाया, अभी तो बन्दर ही है । बन्दर रूपी यह मन कभी इस पेड़ पर, तो कभी उस पेड़ पर, कभी नीचे तो कभी शिखर पर आ जाता है, मगर उसकी उछल-कूद, तड़क-भड़क जारी है ।

स्वर्ग-नरक मनोविज्ञान है, मन की देन है । मन के रहते स्वर्ग-नरक के विकल्प उभरते रहेंगे । मोक्ष मन के पार है, स्वर्ग-नरक के पार है । जीवन ही स्वर्ग-नरक है । मोक्ष पा लेना जीवन की समग्र सफलता है । स्वर्ग और नरक की सम्भावना जीवन से अतिरिक्त नहीं है ।

यह मत सोचिये कि मरने के बाद आप कीड़े-मकोड़े बनेंगे । जो व्यक्ति माया-मोह में फंसा हुआ है, वह अभी भी कीड़ा-मकोड़ा ही है । जिस प्रकार कीड़ा कीचड़ में पैदा होता है और वहीं जीवन पूरा कर दम तोड़ देता है, माया-मोह में फंसा आदमी भी उसी कीड़े के समान है । वह आदमी बन ही नहीं पाया है । इससे ज्यादा दुर्गति और नारकीय अवस्था क्या होगी ?

एक पुत्र ने पिता से पूछा 'मैं डाक्टरी की पढ़ाई करना चाहता हूँ । मुझे सलाह दीजिए कि मैं कानों का डाक्टर बनूँ या दांतों का ?

पिता ने कहा 'इसमें दुविधा की क्या बात है, दांतों का डाक्टर बनो । दांत बत्तीस होते हैं, इसलिए इसमें ज्यादा फायदा होता है । कान तो दो ही होते हैं ।'

कल्पना करें हम, कि हम किस तरह के कीड़े-मकोड़े हैं । आदमी आदमी बन जाए, इसी में उसकी पूर्णता है । मनुष्य यह सोचे कि आदमी मरेगा और उसके बाद कर्मों के हिसाब से उसकी दुर्गति होगी तो वह गलत सोच रहा है । मेरी समझ में तो ऐसे हम अपने वर्तमान जीवन का सही उपयोग नहीं कर पाएंगे । हमने यह मान लिया कि बन्दर से आदमी पैदा होता है और आदमी ही पैदा हो गया तो शेष क्या रहा ? पैदा करना है आदमी को भीतर से भी और बाहर से भी । जिन्दगी में जहाँ देहरी का दिया जल जाता है, 'बाहर' व 'भीतर' दोनों पक्ष उज्ज्वल हो जाते हैं, वहीं मनुष्यत्व-का-आविष्कार होता है ।

साधना, ध्यान और समाधि का सारा सम्बन्ध व्यक्ति के अंतर्मन से जुड़ा हुआ है । मनुष्य का सारा नाता भीतर से जुड़ा होता है । यही कारण है कि मनुष्य भीतर से पाप करता चला जाता है । शरीर द्वारा जो क्रिया होती है, गलत कार्य होते हैं, वे पाप नहीं अपराध होते हैं और मन के द्वारा गलत सोची जाने वाली बातें पाप होती हैं । पाप और अपराध में भारी फर्क है । पाप का सम्बन्ध मन से है और अपराध का शरीर से । मैंने मन में सोचा कि आपके थप्पड़ लगाऊँ । लगाया तो नहीं, मगर सोचा, इसलिए यह पाप हो गया और यदि मैं आपके थप्पड़ मार दूँ तो यहाँ अपराध हो गया । मन में अच्छा सोचना पुण्य है और बुरा सोचना पाप है । शरीर द्वारा अच्छा कर्म तो सत्कर्म है और बुरा कर्म अपराध है । इसीलिए कानून पाप की नहीं, अपराध की सजा देता है । धर्म, ध्यान ये सब पाप की सजा देते हैं । इनके लिए अपराध का कोई मूल्य नहीं है ।

भगवान ने भीतर के जगत से जुड़ने के लिए भीतर के चक्रों का बयान किया । ये बहुत ही बारीक हैं ।

हम अन्दर की वृत्तियों को निर्मल से निर्मलतम करते चले जाएं तो कुण्डलिनी का ऊर्ध्वारोहण अनायास ही हो जाएगा, क्योंकि कुण्डलिनी और

कुछ नहीं, इस द्रव्य-शरीर के भीतर रहने वाला भाव-शरीर ही है ।

मनुष्य के पास छह चक्र हैं । अब हम ध्यान की गहराइयों को छूने का प्रयास करेंगे, जिससे आदमी आदमी रह जाता है और उसके भीतर का बन्दर मर जाता है । यह अपने कमल की पंखुरियों को खोलने जैसा है ।

मनुष्य के शरीर के भीतर छह चक्र हैं । इन्हें समझने से पहले जरा यह समझिए कि मनुष्य के शरीर में नौ द्वार हैं । ये नव द्वार हैं : दो आंखें, दो कान, नाक के दो छेद, मुँह, मल-द्वार और मूत्र-द्वार । मनुष्य अपने शरीर का सारा मैल इन्हीं द्वारों से बाहर निकालता है । जैन मंदिर जाते हैं तो उच्चारण करते हैं 'निस्सीहि'-'निस्सीहि'। इसका अर्थ है जो हमारे मन में मैल भरा था, उसे नौ द्वारों से बाहल निकाल आए हैं । इसका मूल अर्थ है : मानसिक विरेचन । अपने भीतर की माया, कषाय-तंत्र को बाहर उलीच डालो ।

नौका में पानी भरता चला जाएगा तो डूबना भी अवश्यम्भावी हो जाएगा । वह नौका हमें तब ही बचा सकती है, जब उसके छेद बंद करें तथा उसमें भर गया पानी उलीच डालें । नौद्वारों को समझने के बाद जरा गहराई में उतरिए । मनुष्य के शरीर में छह चक्र हैं : पहला है— मूलाधार, दूसरा— स्वाधिष्ठान, तीसरा— मणिपुर, चौथा— हृदय-चक्र, पांचवां— विशुद्धि-चक्र तथा अंतिम चक्र है आज्ञा केन्द्र/भाव केन्द्र । इन छहों के पार है सहस्रार ।

मनुष्य के शरीर में सबसे नीचे, जो जनन-इन्द्रिय है, उसके नीचे तथा मल-द्वार के ऊपर का स्थान कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है । इससे आगे है स्वाधिष्ठान यानि हमारा पेड़ । फिर नाभि हृदय, कण्ठ और छठा स्थान है आज्ञा-चक्र ललाट पर, शिव के तीसरे नेत्र का स्थान ही आज्ञा चक्र है । इन्हें पार करने पर आता है सहस्रार । यह मनुष्य के मस्तिष्क के ठीक बीच में है । शिखा का स्थान ही सहस्रार है ।

सर्वप्रथम, सबसे नीचे जो तत्त्व है, वह है पृथ्वी । उससे ऊपर जल, अग्नि, वायु, आकाश और उससे ऊपर आज्ञा चक्र है । यहाँ व्यक्ति के सारे तत्त्व आकर केन्द्रित हो जाते हैं । आज्ञा-चक्र को पार करने के बाद व्यक्ति अपने सहस्रार में प्रवेश करता है । कुण्डलिनी सबसे नीचे होती

है । इसका आकार बिल्कुल वैसा होता है जैसा किसी सपेरे की टोकरी में कुण्डली मार कर बैठे सांप का होता है । कुण्डलिनी भी इसी प्रकार सोई रहती है । इसके अलावा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी भी होती है । सुषुम्ना तो कुण्डलिनी से आज्ञा-चक्र की ओर सीधी है, हल्की-सी टेढ़ी भी है । इड़ा और पिंगला टेढ़ी ही हैं । इड़ा और पिंगला का सम्बन्ध नीचे कुण्डलिनी और ऊपर आज्ञा-चक्र से जुड़ा है । तीनों नाड़ियां यहाँ समाप्त हो जाती हैं । इड़ा पीले रंग की है तो पिंगला हल्की लाल और सुषुम्ना गहरी लाल । इन तीनों को जब मनुष्य मस्तिष्क के केन्द्र में लाकर केन्द्रित करता है तो वहाँ ॐ का नाद गूंजता है । यह अनुगूंज ही ब्रह्म नाद है । यहाँ व्यक्ति जो अनुभूति करता है, उस अनुभूति का नाम ही 'ज्ञान' है । यह अनुभूति ज्योति-केन्द्र पर होती है ।

जो व्यक्ति अपनी कुण्डलिनी को जगाना चाहता है, वह अपनी सारी ऊर्जा को इस भाव-केन्द्र पर लाकर एकत्र कर ले । जहाँ चेतना, मन, वचन की सारी क्रियाएं और शक्तियां इस भाव-केन्द्र पर केन्द्रित होंगी, वहां से कुण्डलिनी को झटका लगेगा और वह जाग्रत होने लगेगी ।

मनुष्य क्रमानुसार चले । पहले चक्र के बाद, दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे चक्र को पार करे । गहराई से देखा जाए तो पहले तीन चक्र तो हमेशा जाग्रत ही रहते हैं । पहले चक्र से कुण्डलिनी पार लग जाए तो धोखा मत खाना कि मैंने साधना में सफलता प्राप्त कर ली । यह सफलता नहीं है । यहाँ मात मिली है तुम्हें । अभी तो अन्दर की दुष्प्रवृत्तियां जगनी शुरू हुई हैं । शुरू के तीन चक्रों में तो व्यक्ति अपने भीतर राख के नीचे दबी आंच को प्रकट करने का प्रयास करता है । इसलिए पहले तीन चक्र बाधक ही हैं । सच्ची साधना तभी प्रारम्भ होती है, जब चौथे चक्र में प्रवेश होता है ।

कहा जाता है कि भगवान हृदय में बसता है । यही तो चौथा चक्र है । आत्मा की पहली अनुभूति ही इस चक्र में होती है । मनुष्य जैसे-जैसे एक-एक चक्र को पार करता चला जाएगा, उसकी विशुद्धता भी बढ़ती चली जाएगी ।

आइए ! इन चक्रों को अब हम आम जीवन से जोड़ने का प्रयास

करें। व्यक्ति जब चौथे चक्र में प्रवेश करता है तो उसका तीसरा नेत्र खुलता है। योग में जिसे तीसरा नेत्र कहा है, उसे शिव-नेत्र भी कहा गया है। यहां महावीर की भाषा में शुक्ल लेश्या का उद्घाटन होता है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपने आपको ऊपर चढ़ाने का प्रयास करता है, उसकी अनुभूति गहरी होती चली जाती है और उसकी निर्मलता भी बढ़ती चली जाती है। इसके बाद मनुष्य सफलता के सोपान चढ़ता चला जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ऐसी शक्ति है, जो या तो बाहर निकलेगी या भीतर की ओर ऊर्ध्वारोहण करेगी। एक बार इसे ऊर्ध्वारोहण कर लेने दें, चेतना को ऊपर चढ़ जाने दें। इसे आप इस तरह समझें। पानी का स्वभाव है बहना। नीचे की ओर लुढ़कना। उसे कितना भी ऊपर चढ़ा लीजिए, आखिर तो वह नीचे ही आएगा। उसकी प्रकृति ही ऐसी है, किन्तु यदि उसे ऊपर ले जाकर टंकी में बंद कर दें, तो वह रुक जाएगा। इसी प्रकार तीन चक्रों के बाद हम अपने भीतर की ऊर्जा को, जल-सरिता को चौथे चक्र में प्रवेश करा दें तो वह ऊर्जा ऊपर जाने का अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त कर लेगी। इसी का नाम है : चेतना-का-ऊर्ध्वारोहण, और इसी का नाम है चैतन्य-का-विचरण।

महावीर ने अपने जीवन में कुछ बोध-कथाएं कही हैं। महावीर तो मौन के अभ्यासी थे, भीतर का आनन्द वे चुप रहकर ही महसूस करते थे। वे चुप भी खूब रहे तो बोले भी खूब। उन्होंने साधु को कितना अच्छा नाम दिया- 'मुनि'। इसका अर्थ होता है 'मौन'। मन से मौन, वही 'मुनि'। तो महावीर ने एक बार बोधकथा कही— एक बार छह पथिक एक जंगल से गुजर रहे थे। आप छहों चक्रों को इस रूप में भी समझिएगा। चलते-चलते पथिक थक गए। एकाएक उन्हें एक बड़ा-सा पेड़ नजर आया जिस पर आम लगे थे। उन्हें भूख लगी ही थी। एक पथिक ने पेड़ देखा तो उसने मन में सोचा 'बड़ी जोर की भूख लगी है। मैं इस पेड़ को जड़ से उखाड़ दूंगा ताकि भर पेट आम खा सकूं।' दूसरे ने सोचा— इसके तने काट डालूं, तीसरे ने सोचा— इसकी शाखाएं काट दूं, चौथे ने उस पेड़ की उपशाखा काटने की सोची। पांचवें ने सोचा कि मैं इस पेड़ के फल तोड़कर खा लूंगा। छठा पथिक इनसे

अलग ही सोच रहा था। वह मन में सोच रहा था कि पेड़ के नीचे यदि कुछ आम गिरे हुए मिल गए तो खा लूंगा।

महावीर की बोधकथा तो यहाँ समाप्त हो जाती है। न तो किसी ने पेड़ उखाड़ा, न किसी ने तना तोड़ा, न किसी ने आम खाया, मगर अपनी-अपनी सीमा में एक-एक चक्र तो पूरा कर ही लिया। जो आदमी यह सोच रहा था कि 'आम के नीचे गिरे फल खा लूंगा।' महावीर की भाषा में इसने भाव-शरीर के आज्ञा-चक्र का स्पर्श किया है। जो पथिक पेड़ को जड़ से काटने की सोच रहा है, वह मूलाधार में ही अटका है।

महावीर ने मूलाधार को नाम दिया 'कृष्ण लेश्या' और आज्ञा-चक्र को कहा 'शुक्ल लेश्या'। महावीर के अनुसार आदमी कृष्ण लेश्या से शुक्ल लेश्या की ओर यात्रा करता है। वह शुक्ल लेश्या को भी पार कर जाए तो वहाँ उसे सहस्रार के दर्शन होंगे और जब वह सहस्रार को पाता है तो इसका अर्थ है कि उसने वीतरागता को आत्मसात् कर लिया। उसके भीतर न बदी होती है और न सुदी— वह दोनों के पार होता है। महावीर ने तीन-तीन लेश्याएँ बताई : कृष्ण, नील और कापोत तथा तेज, पद्म एवं शुक्ल। इनमें कृष्ण से कापोत अशुभ लेश्याएँ हैं और तेज से शुक्ल तक शुभ लेश्याएँ हैं। इसी प्रकार मूलाधार, स्वाधिष्ठान तथा नाभि यह तीनों अशुभ चक्र हैं। इसके विपरीत हृदय, कण्ठ और मस्तिष्क/आज्ञा चक्र— ये शुभ चक्र हैं।

मनुष्य जब 'अशुभ' को छोड़ता है तो 'शुभ' को पाता है। मगर यह अंत नहीं है। यह मंजिल से साक्षात्कार नहीं है। अशुभ छूट जाए, फिर शुभ को भी छोड़ना है। अंधकार की यात्रा से मुक्ति पाने के लिए शुक्ल पक्ष की यात्रा करनी होगी। मगर बाद में इससे भी मुक्त होना होगा। क्योंकि वहाँ मन, वचन आदि की प्रवृत्ति अभी शेष है। हमें तो रंगों के पार होना है। चाहे वे बैंगनी हों, नीले हों, काले हों या अन्य कोई। पृथ्वी का रंग मटमैला है। यही मूलाधार का भी रंग है और यही कृष्ण लेश्या का। व्यक्ति जब शुक्ल लेश्या का ध्यान करता है, तो वहाँ केवल श्वेत रंग रह जाता है। अन्य सभी रंग उसमें समा जाते हैं। सहस्रार का रंग हरा होता है। कभी अनुभव करना चाहो तो कर सकते हो।

अपनी आँखों के बीच पुतलियों को नाक के अग्र भाग पर टिकाइएगा। आपको एक अपूर्व, अद्भुत आभामंडल नजर आएगा। इसकी शुरुआत नाभि-चक्र से ही हो जाती है, मगर पूर्णता ज्ञान-चक्र से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपने आपको निर्मल से निर्मलतर करता चला जाता है, उसका आभामंडल भी शनैः शनैः प्रकट होने लगता है।

सोवियत संघ ने फोटोग्राफी के क्षेत्र में एक आविष्कार किया है। इसका नाम उन्होंने दिया है किरलियान। आभा-मंडल को देखने का यह भी एक तरीका है। इसमें सभी रंग साफ-साफ नजर आ जाते हैं। इसी प्रकार जब साधक आज्ञा-चक्र में प्रवेश करता है, तो सिर्फ सफेद रंग नजर आता है। लेकिन क्या आप जानते हैं कि दुनियाँ के जितने भी रंग हैं, वे सफेद रंग में से ही निकले हैं और उसी में समाविष्ट हैं ?

इसे आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। सूर्य का प्रकाश सफेद होता है। मगर वर्षा होने के तुरन्त बाद जब ओस व वर्षा के छोटे कणों पर यह प्रकाश पड़ता है तो सात रंगों का आकर्षक इन्द्रधनुष नजर आने लगता है। इसी प्रकार प्रिज्म के एक टुकड़े से सूर्य की किरणें गुजारिए—आप इसके प्रतिबिम्ब में कई रंग निकलते देखेंगे।

जो लोग यह सोचते हैं कि पेड़ से नीचे गिरे फल खाकर ही काम चला लेंगे, महावीर की भाषा में वे शुक्ल लेश्या में प्रवेश कर रहे हैं, आज्ञा-चक्र में प्रवेश की तैयारी कर रहे हैं। इसके विपरीत फल के लिए जो व्यक्ति पेड़ को ही काटने लगा है, वह मूर्च्छित अवस्था में है और आत्म-प्रवंचना में लगा है।

जहाँ राग, मूर्च्छा होती है, वहाँ व्यक्ति यही सोचता है कि सामने वाले की जड़ को काट डालूँ। पेड़ तो एक प्रतीक है। आदमी दूसरे आदमी के पाँव ही काट डालना चाहता है। अगर दूसरे का दिवाला निकलता है तो वह बहुत ही प्रसन्न होता है। यह सोचकर कि 'चलो एक और गया', वह अपने मन को झूठी दिलासा देता है। आदमी यही करता चला जाता है और उसका यह कृत्य रुका नहीं है, जारी है। आदमी चाहता है दूसरे को काटूँ, उखाड़ फेंकूँ।

आपको एक उदाहरण देता हूँ । उसे आप अनुभव भी कर सकते हैं । आप एक पेड़ के पास जाकर मन में विचार करें 'इसे काट डालूँ', आप पाएँगे कि पेड़ में आपके सोचने मात्र से प्रकम्पन हुआ है । आखिर क्यों न हो, वह भी एक जीव है । आप किसी फूल की सुन्दरता को देखते रहिए, मगर जैसे ही आप मन में यह विचार करेंगे कि 'इस फूल को तोड़ लूँ' वह पूरा पौधा संवेदनशील हो जाएगा । पत्तियाँ अपने आप मुरझाने लगेंगी । जिन लोगों ने डार्विन और बसु को गहराई से पढ़ा है, वे इसे समझ सकते हैं कि अगर आप केवल मन में सोचते हैं तो आपका वह सोच भी वनस्पति को प्रकम्पित कर डालेगा ।

जब मैं तमिलनाडू की यात्रा पर था, तो एक बार मैंने देखा कि सड़क पर कुछ गिद्ध किसी मरे हुए पशु को नोंच रहे हैं । हम काफी दूर थे । इतने में हमारे पीछे से दो लड़के दौड़ते हुए आए । उन्होंने एक गिद्ध को पकड़ लिया । उन लड़कों ने उस गिद्ध की गर्दन मरोड़ी, उसके पंख तोड़े और उसका मांस कच्चा ही चबाने लगे । यद्यपि एक गिद्ध की यह हालत देखकर अन्य गिद्धों को उड़ जाना था, मगर वे नहीं उड़े, बल्कि उनकी हालत हठ्ठाण जैसी हो गई । वे यह भूल गए कि हमें तो उड़ जाना चाहिए, नहीं तो हमारा नम्बर भी आ सकता है । यही स्थिति है जो दूसरों को उखाड़ना चाहता है वह अपने आप में कृष्ण लेश्या बाँध रहा है । मूलाधार में ही पड़ा है । उसकी कुण्डलिनी जगती जरूर है, मगर उसे उसका लाभ मिल नहीं पाता ।

कुण्डलिनी का जागरण तभी उपयोगी समझना जब वह हृदय-चक्र में प्रवेश कर ले । प्राणायाम, योग, श्वास-प्रेक्षा द्वारा, भावों के केन्द्रीकरण द्वारा कुण्डलिनी को जगा लो, तब भी एक ध्यान जरूर रखना कि आज्ञा-चक्र में प्रवेश हो जाए । रंगों से पार हो जाएँ । रंग आखिर हैं क्या ? रंग का अर्थ होता है राग- और रंगों से अलग होना है- विराग । सहस्रार में प्रवेश का भी अर्थ यही है ।

रंग व्यक्ति का आभामंडल है । यह मत समझना कि आभामंडल हमेशा उजला ही रहता है । व्यक्ति जिन भावों में जीता है, जिन चक्रों को छूता है, जिन लेश्याओं का स्पर्श करता है; उसके आभामंडल का रंग

भी उसी के अनुरूप होता है। आभामंडल नीला हो सकता है तो पीला भी। रात सोकर जब सुबह उठो तो अपने शरीर के इर्द-गिर्द ध्यानपूर्वक देखना, लगेगा कालिमा, मटमैलापन धुँए जैसा, अंधेरे जैसा। जो व्यक्ति अपने लेश्या-केन्द्रों और भाव-केन्द्रों पर जितना जागरूक होगा, उसे अपने आभा-मंडल के रंग उतने साफ नजर आएंगे। तुम्हारे आभा-मंडल को तुम्हीं देख पाओगे, किन्तु जहाँ आभा-मंडल अपनी उज्ज्वलताओं को पराकाष्ठा से छू लेगा, वहाँ वह दूसरों की नजरों में भी आ जाएगा।

सन्तों के चित्रों को तो आपने देखा ही है। क्या कभी सोचा है उनके सिर के पृष्ठ भाग में दिखाई देने वाला गोलाकार क्या है? वास्तव में कुण्डलिनी के, चैतन्य-शक्ति के परम ऊर्ध्वारोहण की दास्तान है।

हमें चलना है रंगों की उज्ज्वलता में। फिर रंगों के पार, वीतरागता में, अन्तर की शान्त झील में। हर जीवन तीनों लोकों का प्रतिबिम्ब है। स्वयं के आइने में निहार सकते हो, लोक की सम्भावना को। नाभि के नीचे का भाग अधो-लोक है। नाभि का स्थान मध्य-लोक है और ऊर्ध्व-लोक नाभि से ऊपर है। मध्य लोक में हम जीवित हैं। यात्रा करें ऊर्ध्व लोक की। अधर्म से पार चलें, धर्म के मार्ग पर; किन्तु जहाँ आत्म-पूर्णता की अनुभूति में डूबोगे, वहाँ जीवन-मुक्ति की बेला में धर्म भी छूट जाएगा। आखिर धर्म भी एक मार्ग है और जीवन-मुक्ति मार्ग की मंजिल है। शुभ से अशुभ को चीरो, मगर शुद्धत्व की भूमिका में अशुभ तो छूटेगा ही, शुभ भी अपने आप पीछे हट जाएगा। ध्यान ध्येय नहीं है; ध्येय का प्रवेश-द्वार है। ध्येय के महल में जब प्रवेश करोगे तो ध्यान भी अपने आप स्वयं से अलग हो जाएगा। यात्रा शुरू करें, स्वयं के द्वारा स्वयं में, स्वयं के ऊर्ध्व लोक में, जीवन की विराटता में।



तुर्या : भेद-विज्ञान की पराकाष्ठा

महावीर का वक्तव्य है कि मनुष्य अनेक चित्तवान है । चित्त की अनेकता को जानना महावीर की अत्यन्त मनोवैज्ञानिक खोज है । चित्त कोषागार है । संस्कारों और स्मृतियों की पर्त-दर-पर्त जमी है वहाँ । विश्व के ग्लोब जैसा ही ग्लोब है उसका । संसार एक है, परन्तु देश अनेक हैं । विश्व के नक्शे में इंच-इंच पर अलग-अलग राष्ट्रों का गवाह देने वाली रेखाएँ खींची हुई हैं । चित्त का नक्शा, विश्व के नक्शे से भी अधिक विस्तृत है । वर्तमान ही नहीं, अतीत का समूचा इतिहास चित्त के पटल पर दबा-उभरा रहता है ।

चित्त का अपना समाज और संसार होता है । इसकी अपनी सन्तानें और पाठशालाएँ होती हैं । न्यायालय और कारागृह भी इसके निजी होते हैं । यदि जन्मान्तर के अतीत को न भी उठाया जाये, सिर्फ वर्तमान के ही पन्ने पलटे जायें, तब भी चित्त के विश्वकोश की मोटाई को चुनौती नहीं दी जा सकती ।

‘चित्त’ तो पुस्तकालय है । पुस्तकालय तो एक है, पर दराजें कई । एक दराज में सैकड़ों पुस्तकें और एक पुस्तक में सैकड़ों पन्ने । पुस्तकें दराजों में दर्ज हैं और दराजें पुस्तकालय में । जीवन और परिवेश के ढेरों सूत्र इसी तरीके से चित्त से जुड़े हुए रहते हैं । जितनों से मिले, जितनों को जाना, चित्त के उतने ही परमाणु सक्रिय हुए । परमाणुओं का क्या, वे संख्यातीत/असंख्य हैं ।

मनुष्य का चित्त विकीर्ण है । रेगिस्तान के टीलों की तरह है वह । ऊपर से बड़ा सुहावना, पर हरितिमा के नाम पर बिल्कुल फसस । रेगिस्तान की रेती विकीर्ण ही हुआ करती है । जब तक उसका सही

संयोजन न किया जाये, तब तक वह हवाई झोंकों के साथ घर-घाट के बीच झूख मारती रहती है। जिन्दगी ऐसे ही तो तमाम होती है। जिन्दगी पूरी बीत जाती है। सार क्या हाथ लगता है झूख मारने के सिवा !

चित्त की अनेकता का अर्थ है, वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों की बहुलता। वृत्ति-बहुलता ही चित्त का बिखराव है। चित्त हमारे शरीर की सबसे सूक्ष्मतम किन्तु प्रबल ऊर्जा है। 'जाति-स्मरण' का अर्थ है चित्त का बारिकी से वाचन। ऊर्जा बिखराव के लिए नहीं होती, उपयोग और संयोजन के लिए होती है। जो चित्त आज भटक रहा है, यदि उसे सम्यक् दिशा में मोड़ दिया जाये, तो चित्त की प्रखरता हमारे जीवन के ऊर्ध्वारोहण में सर्वाधिक सहकारी बन सकती है।

योग का अर्थ और उद्देश्य चित्त के बिखराव को रोकना है। चित्त के समीकरण का उपनाम ही योग है। हमें ध्यान-योग से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि हम ऊर्जा के संवाहक हैं। हमें ऊर्जा का स्वामी होना है, उसका गुलाम नहीं। चित्त हमारा अंग है। हम चित्त के आश्रित नहीं। यही तो व्यक्ति की परतंत्रता है कि वह 'पराश्रित' के आश्रित हो गया। स्वप्न की उड़ानों के जरिये नींद की खुमारियों में चित्त आठों पहर व्यस्त है और मनुष्य है ऐसा, जिसने अपनी सम्पूर्ण समग्रता उसी की पिछलग्गू बना दी है। यह प्रश्न हर एक के लिए चिन्तनीय है कि मनुष्य चित्त का अनुयायी बने या चित्त मनुष्य का।

सम्बोधि का मतलब है, चित्त का बोध प्राप्त करना। आत्म-ज्ञान के लिए चित्त का बोध अनिवार्य पहलू है। चित्त को एकाग्र/एकीकृत किया जाना चाहिए। एकाग्रता से ही भीतर की प्रखरता और तेजस्विता आत्मसात् होती है।

सामान्य तौर पर चित्त की सम्बोधि के लिए हमें चित्त की दो वृत्तियों के प्रति सजग होना चाहिए— एक तो स्वप्न और दूसरी निद्रा। सजगता ही स्वप्न और निद्रा की बोधि एवं मुक्ति की आधार-शिला है। सजगता जागरण है और जागरण चित्त की एक वृत्ति है। मनुष्य जितना अधिक सोया, उतना ही श्मशान में रहा। सपनों में जितनी रातें बितायीं, उसने

उतना ही भव-भ्रमण किया, प्रेतात्मा की तरह हवा में भटका । जो जितना जागा, अस्तित्व को उतना ही आत्मसात् किया ।

आत्म-जागरण स्वप्न और निद्रा के ज्ञान से अवतरित होता है । चित्त की स्थिरता के लिए योग ने जो मार्ग चुने, उनमें यह भी एक है— 'स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनम् वा' > स्वप्न और निद्रा के ज्ञान के सहारे भी चित्त की स्थिरता और स्वच्छता उपलब्ध होती है ।

स्वप्न स्वयं में एक झूठ है । सत्य तो यह है कि सपनों से बड़ा झूठ और कोई नहीं है । पर मजे की बात यह है कि मनुष्य जितना स्वप्न में होता है उतना कहीं भी और कभी भी नहीं । स्वप्न मनुष्य की अभिव्यक्त वासना है । जो चित्त में दबा हुआ है, सपने में वही साकार होता है । स्वप्न चित्त-साक्षात्कार है, दमित की अभिव्यक्ति है ।

स्वप्न में जो देखा जाये, चित्त में उसकी सम्भावना न हो यह नामुमकिन है । खुली आँखों में तो जुबान बोलती है और बन्द आँखों में वृत्ति/वासना । एक भूखा आदमी भगवान का सपना नहीं देख सकता । भूखे का हर स्वप्न भोजन और पकवान से जुड़ा रहता है । दिन में दुष्पूर रहने वाली तृष्णा रात को सपने में गले तक पेट भर लेती है । धनवान को धन-सुरक्षा की चिन्ता रहती है, इसलिए वह चोरों के सपने देखता है । पति के सपने में कभी खुद की पत्नी नहीं आती । कभी पड़ोसिन आती है, तो कभी और कोई । स्वप्न दमित से रू-ब-रू है । जिसने मन में कुछ दबाया नहीं, उसे सपने कभी नहीं आ सकते ।

मनुष्य बीमार रहता है, सिर्फ तन से ही नहीं मन से भी । यदि मन अस्वस्थ है तो शरीर की स्वस्थता अपने आप निद्राल हो जायेगी । एक स्वस्थ शरीर की परिकल्पना के लिए मन की स्वस्थता अनिवार्य है । व्यक्ति को मानसिक बीमारियों से मुक्त करने के लिए मन का अध्ययन आवश्यक है और मन की नब्ज पकड़ने के लिए स्वप्न से बढ़िया कोई अच्छूक साधन नहीं । स्वप्न मन की अभिव्यक्ति है । मन की इस समय क्या स्थिति है, उसके अन्तर्भाव क्या हैं, यह जानने के लिए हम यह देखें कि हम स्वप्न में क्या देख रहे हैं ।

कहते हैं मन से बुरा न सोचा जाये । किसी को चाँटा लगाना गलत है, परन्तु यही नहीं मन में चाँटा लगाने का भाव लाना ही गलत है । मैं तो यों कहूँगा कि स्वप्न में भी किसी को चाँटा लगाना, अपराध का बीज बोना है । यदि स्वप्न में किसी को चाँटा लगा दिया तो एक बात तय है कि बीज का अंकुरण तो हो गया है, सम्भव है कांटे लग आने में कुछ समय लगे ।

बच्चा मन में क्या सोचता है, यह जानने के लिए हर रोज उससे यह पूछो कि आज तुमने क्या सपना देखा ।

बचपन से ही हर बच्चे के स्वप्न का अध्ययन किया जाना चाहिए । न केवल अध्ययन बल्कि स्वप्न के संकेतों के अनुसार जीवन को भी ढ़ाला जाना चाहिए । यदि बच्चा कहे कि उसने सपने में पड़ौस के बच्चे को थप्पड़ मारा है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसके भीतर मारने की वासना छिपी हुई है । हम चाहते हैं कि बच्चा बड़ा होकर सौम्य, सुशील और सरल बनें, तो हमें बचपन से ही उसके प्रति चौकन्ना रहना होगा । हम अपने बच्चे को पड़ौस के लड़के के पास भेजें और बच्चे से कहें कि जाओ, उससे क्षमा माँगो । उससे कहो कि मैंने तुम्हें चाँटा मारा, सपने में ही सही, पर मुझसे भूल हो गई ।

यह प्रक्रिया चित्त-शुद्धि की है । बुरे संस्कार कहीं चित्त में दमित न हो जायें, जड़ न पकड़ लें, इसलिये चित्त-शुद्धि और उसकी निर्मलता के उपाय किये जाने चाहिए ।

स्वप्न-वृत्ति की अगली कड़ी है निद्रा । स्वप्न का सम्बन्ध तो अतीत और भविष्य से है, जबकि नींद का सम्बन्ध वर्तमान से है । वर्तमान अतीत और भविष्य के दो किनारों को एक-दूसरे से मिलाने का सेतु है । जागरण वर्तमान के बनते-बिगड़ते रूप में ध्रुवता व शाश्वतता की खोज का अभियान है । समय की चक्की चलती रहती है । जाग्रत-पुरुष वह है जो स्वयं को कील/केन्द्र पर केन्द्रित कर लेता है । महावीर ने इसे सम्यक् दर्शन कहा है । ऊर्जा का केन्द्रीकरण और साक्षित्व का सर्वोदय ही सम्यक् दर्शन है ।

समय की धारा में अतीत और भविष्य से वर्तमान पर केन्द्रीकरण बेहतर है, परन्तु मनुष्य के लिए तो आत्म-श्रेयस्कर खुद-में-खुद-का-जगना ही है । सपने से नींद भली और नींद से जागृति ।

स्वप्न भटकाव है और नींद मूर्च्छा । नींद शरीर की आवश्यकता है, परन्तु यहां नींद का सम्बन्ध शरीर से नहीं, वरन् मन की मूर्च्छा से है । मूर्च्छा ही निद्रा है । निद्रा के ज्ञान का अर्थ है— मूर्च्छा का ज्ञान । मूर्च्छा को समझना ही मूर्च्छा से छूटने का आधार है ।

जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अलग-अलग हैं । तीनों के अलगाव का बोध जीवन में ज्ञान की क्रांति है । अध्यात्म की शुरुआत जागृति से होती है और उसकी पूर्णता सुषुप्ति में । हम जिसे जागना कहते हैं, वह तो ऊपर-ऊपर है । रात को सोये थे और सुबह आँखें खोलीं, यह नींद से उठना तो शारीरिक घटना हुई । इस जागरण से बाहर का जगत् तो दिखाई देगा, परन्तु भीतर के जगत् का कहीं कोई दर्शन न होगा । संसार को देखना आँखों का जागरण है और आत्मा को पहचानना अन्तर् के उपयोग का जागरण है ।

अभी तक मनुष्य को यह ज्ञान कहां है कि मैं कौन हूँ । उसे बाहर की तो सारी वस्तुएँ और हलचल दिखाई पड़ती है, पर यह कहाँ दिखाई देता है कि मैं कौन हूँ । सुई तो खोई पड़ी है घास के ढेर में । आत्मा का कहीं कोई अता-पता नहीं । हमने तो रात को सोना सुषुप्ति मान लिया और सुबह नींद से उठना जागृति ।

जागृति में बाहर के जगत् का ही मूल्य बना रहता है । सुषुप्ति सोना है । सोने में न तो बाहर के जगत् का महत्व है और न अन्तर-जगत् का । सोया आदमी जीवित मुर्दा है । सोने के बाद होश कहां रहता है । भीतर और बाहर का निजत्व और परत्व का सोना तो गहन अन्धकार में प्रवेश है ।

स्वप्न बाहर और भीतर दोनों से ही अलग यात्रा है । स्वप्न में अन्तर्जगत् से सम्बन्ध का तो कोई सवाल ही नहीं उठता । स्वप्न में तो होती हैं वे बातें, जिनका मन पर संसार का प्रतिबिम्ब बना है । चाँद नहीं

होता पानी में, चाँद की झलक होती है। स्वप्न में वे तैरते रहते हैं, जो हमने जागकर संसार से लिये हैं।

स्वप्न वास्तव में प्रतिबिम्बों का ज्ञान है। जागृति प्रतिबिम्बों के आधारों का ज्ञान है। सुषुप्ति ज्ञान-शून्य है।

हम न जागृत हैं, न स्वप्न और न सुषुप्त। हमारा व्यक्तित्व तीनों से अलग है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तो शरीर और चित्त के बीच चलने वाला गृह-युद्ध है। आत्मा का गृह-युद्ध से भला क्या सम्बन्ध? वह न कर्ता है, न भोक्ता। वह मात्र साक्षी है। साक्षी को कर्ता बना लेना ही माया और मिथ्यात्व है।

जो सोने, जगने और भटकने से अतिक्रमण कर लेता है, उसकी अवस्था परम है। इसे तुर्या-अवस्था कहते हैं। तुर्या-अवस्था परम ज्ञान है। परम ज्ञान के मायने हैं स्थिर-प्रज्ञता। तुर्या में प्रवेश अन्धकार से मुक्ति है, प्रकाश में प्रविष्टि है। यही वह अवस्था है, जिसे शंकर ने शिवत्व कहा है। जिनेश्वर का जिनत्व और बुद्ध का बुद्धत्व यही है। रवीन्द्र के शब्दों में—

जहाँ चित्त भय-शून्य, जहाँ सिर उन्नत
ज्ञान मुक्त; प्राचीर गृहों के, अक्षत
वसुधा का जहाँ न करके खण्ड-विभाजन
दिन-रात बनाते छोटे-छोटे आँगन।
प्रति हृदय-उत्स से वाक्य उच्छ्वसित होते
हों जहाँ, जहाँ कि अजस्र कर्म के सोते।
अव्याहत दिशा-दिशा, देश-देश बहते
चरितार्थ सहस्रों-विध होते रहते।

तुर्या ऐसी ही अवस्था है परम विकासमयी, प्रकाशमयी। तुर्या वह अवस्था है, जहाँ दृश्य भी रहता है और द्रष्टा भी। सिर्फ खो जाती है बीच की माया। टूट जाता है दोनों का सम्बन्ध-योजक तादात्म्य।

तुर्या की प्राप्ति के लिए सबसे कारगर उपाय है— भेद-विज्ञान। भेद-विज्ञान

महावीर की देन है। सत्य तो यह है कि महावीर के सम्पूर्ण तत्त्व-दर्शन को एक मात्र इसी शब्द से व्याख्यायित किया जा सकता है। भेद-विज्ञान का अर्थ है, स्वयं को चित्त से अलग मानना; जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति से अलग मानना; संसार, संसार के प्रतिबिम्ब और शारीरिक तन्द्रा से अलग मानना।

अभी तो सब एक-दूसरे से घुले-मिले हैं, रचे-बसे हैं। जगे हैं तो जुड़े हैं; सो रहे हैं तो सपनों में तैर रहे हैं। जबकि हमारा स्वभाव न तो सोना है, न सपने देखना। जो एकरसता है, वह तादात्म्य के कारण है। न तुम झूठे हो, न तुम्हारा पड़ौसी; न संसार झूठा है, न चाँद-सितारे। झूठा है तादात्म्य, सम्बन्धों-का-आरोपण, आरोहण और अवरोहण।

तादात्म्य ही दुःख का कारण है। दुःखी होने पर रोते हो और सुखी होने पर खुश नजर आते हो। जबकि सत्य तो यह है कि तुम तो सुख और दुःख दोनों से अलग हो। मैं अलग हूँ, यह बोध ही तो भेद-विज्ञान का मूल फार्मूला है। क्रोध है तो क्रोध से, लोभ है तो लोभ से, चोट है तो चोट से, भूख है तो भूख से, अपने आपको अलग जानो।

यदि क्रोध आये तो क्रोध को देखो और यह अनुभव करो कि क्रोध करने वाला मैं नहीं हूँ। मैं तो क्रोध की चिंगारी उठने से पहले भी था। उसके बुझ जाने के बाद भी मैं तो रहेगा। क्रोध तो क्षणिक है, मैं क्रोध नहीं हूँ।

चोट लगने पर यह अहसास न करें कि मुझे चोट लगी है। चोट तो शरीर को लगी है और मैं शरीर से भिन्न हूँ। सच्चाई तो यह है कि अगर भेद-विज्ञान सध जाये, तो चोट और दर्द की अनुभूति बड़ी क्षीण होगी। अत्यन्त सामान्य, न्यूनतम। शरीर के प्रति जितना लगाव होगा, शारीरिक वेदना हमें उतनी ही व्यथित करेगी। परिणाम जो होना होगा, सो तो होगा। भेद-विज्ञान परिणाम से पूर्व होने वाली चीख-चिल्लाहट को नहीं होने देता। दर्द और दुःख के बीच भी चेहरे पर उभरने वाली मुस्कान चेतना की प्रकाशमान् दशा है। असाध्य रोगियों के लिए तो यह पीड़ा से परे होने का अचूक साधन है।

भूख लगने पर भोजन अवश्य करें, परन्तु इस समझ के साथ कि

भूख शरीर का स्वभाव है। भोजन मैं नहीं कर रहा हूँ, शरीर को करवा रहा हूँ। वासना भी उठे, तो जानो वासना शरीर की उपज है। मैं वासना-ग्रस्त नहीं हूँ। देह का भान भूलने से शान्ति और स्फूर्ति दोनों का अनुभव होता है।

शरीर को जो चाहिये, उसे दीजिये। गर्मी लगे तो हवा की सुविधा दीजिये। मैल चढ़े तो उसे नहलाइये। भूख लगे, तो खिलाइये, पर इस स्मृति के साथ कि यह सब मैं नहीं हूँ। जब तक शरीर मेरे साथ है, उसे उसकी सुविधाएँ देंगे। मैं कौन हूँ— मैं इससे अलग हूँ।

अलगाव-बोध की यह प्रक्रिया भेद-विज्ञान है। ध्यान और अध्यात्म को जीवन में घटित करने के लिए यह परम विज्ञान है। सर्वप्रथम, दिन में यह विज्ञान आत्मसात् करें। दिन का अर्थ है वह समय जब आँखें खुली रहें; आदमी जगा रहे। सारे काम जागकर ही किये जाते हैं। इसलिए जागने से ही तुर्या की शुरुआत है। हम जो भी करें, जो भी देखें, जिसे भी छुएँ, सब करते हुए भी स्वयं को सबसे अलग जानें। ऐसा लगे मानो यह देखना, करना और छूना महज एक सपना है।

संसार एक सपना है। सपने को सपना मानना आत्म-जागरूकता को प्रोत्साहन है। धीरे-धीरे, रात को भी जो सपने आते हैं, उनके प्रति भी जागरूकता बढ़ेगी। सपना जैसे ही टूटे, उसकी असलियत को पहचानने की कोशिश करो, उसका सम्यक् निरीक्षण करो। चित्त की एकाग्रता बनेगी। शून्य उभरेगा। उसमें उतरो। शून्य को देखो, शून्य-द्रष्टा बनो।

आप पाओगे कि सपना खो गया। सुषुप्ति में जागरूकता/सजगता/सचेतनता अवतरित हो गई। जहान की निगाहों में हम सोये हैं, पर गीता कहेगी योगी सुषुप्ति के मन्दिर में जागा है। जाग्रत-सुषुप्ति का नाम ही समाधि है और स्वयं को ज्ञेय से भिन्न ज्ञाता मात्र जान लेना आत्मज्ञान है; यह तुर्यावस्था है, जहाँ साधक दिखने में आम आदमी जैसा ही होता है। पर बड़ा भिन्न-ज्ञाता-मात्र/साक्षी-मात्र; बुद्धि से परे, तर्क से परे, सिद्धत्व वरे।



चलें, बन्धन-के-पार

एक फकीर था । बड़ा औलिया । उसके चेहरे पर हमेशा एक रहस्य भरी मुस्कान रहती थी । उसकी एक आदत थी चोरी करने की । चोरियां भी वह कोई हजारों-लाखों की नहीं करता था । वह चोरी करता धिसे-पिटे झाड़ू की, अधजली लकड़ियों की, माटी के ठीकरों की । वह अब तक कई बार जेल की हवा खा चुका था, फिर भी उसकी चोरी की टेव न गयी । लोग उसका सम्मान भी करते थे । एक अचौर्य-संत द्वारा होने वाली चोरियाँ भी उनके लिए पहली बन गई ।

एक दिन फकीर के किसी हमदर्द ने उससे कहा, महाराज ! आपका बार-बार चोरी करना और जेल जाना मुझे अच्छा नहीं लगता । आपको जिन चीजों की जरूरत हो, मुझे कहें । मैं उनकी पूर्ति करूँगा । मगर मेहरबानी कर आप चोरी न करें ।

फकीर हँसा एक रहस्यमय ठहाके के साथ । फकीर ने कहा कि यह सम्भव नहीं है कि मैं चोरी न करूँ । हमदर्द ने पूछा आखिर क्यों ? फकीर ने गम्भीर होकर कहा, इसलिए ताकि मैं कारागृहों में जा सकूँ । मुझे चीजों की आवश्यकता है, इसलिए मैं चोरी नहीं करता । मैं तो कारागृहों में जाने के लिए चोरी करता हूँ । वहाँ हजारों बन्दी हैं । मैं उन्हें उस सन्देश का सप्राट बनाना चाहता हूँ, जिससे वे गिरा सकें अपने बन्धन, भीतर के बन्धन ।

मैं भी आना चाहता हूँ आपके कारागृह में । यहां सभी आबद्ध हैं । सभी की ग्रन्थियाँ हैं । क्या आप मुझे अनुमति देंगे अपने कारागृह में आने की ? सीखचों को छूने की ?

सारा संसार कारागृह है। आदमी इस कारागृह में जंजीरों से जकड़ा है, बेड़ियों से बंधा है। मनुष्य की नींद इतनी गहरी है कि वह अपने बन्धनों को बन्धन नहीं मान रहा है। घर की तो याद आती ही नहीं है। कारागृह को ही घर मान बैठा है। देख नहीं रहे हो कैदियों को ? जिन्होंने कारागृह के प्रकोष्ठों को भी फूलों और चित्रों से सजा रखा है। कारागृह से मुक्त तो वही हो सकता है, जो कारागृह को कारागृह माने।

बन्धन को आनन्द मानने वाला व्यक्ति प्रबुद्ध नहीं, वरन, पिंजरे का पंखी है। मुक्ति के गीत तो तब कहीं से सुनायी देते हैं, जब सीखचों को आत्म-स्वतन्त्रता का बाधक और बन्धन माना जाता है। उन लोगों को क्या कहेंगे, जिन्हें बीस वर्ष जेल में ही रहने के बाद जब मुक्त किया जाता है, तो वे उल्टा जेल में ही रहना चाहते हैं। जो प्रेम घर के प्रति होना चाहिए था, वह कारागृह के प्रति हो गया। जो अपना सम्पूर्ण ध्यान अपनी स्वतन्त्रता पर केन्द्रित करता है, वही आजादी के संदेश का मालिक है। बन्धन उसी के गिरते हैं। विनिर्मुक्त वही होता है। ऐसे ही लोग कहलाते हैं— निर्गन्ध और निर्बन्ध।

स्वतन्त्रता के लिए श्रम तो सभी कर सकते हैं, जरूरत है उस सम्बन्धि की, जो समझा सके हमें बन्धनों को।

राजा उदायन ने चण्डप्रद्योत से युद्ध किया। चण्डप्रद्योत हार गया। उसे बन्दी बना लिया गया। वह जंजीरों से जकड़ लिया गया। उदायन की यह विशेषता कि उसने प्रद्योत को उन जंजीरों से बाँधा था, जो सोने की थी। भले ही उदायन को इस बात की प्रसन्नता हो कि उसने सोने की जंजीरों से बाँध कर प्रद्योत को कुछ सम्मान दिया है। पर जिसने बन्धन को बन्धन मान लिया, चाहे वह लोहे की जंजीर का हो या सोने की, वह उससे मुक्त होना ही चाहेगा। राजा कभी बन्दी नहीं होता है और जो बन्दी होता है वह स्वयं को कभी सम्राट नहीं समझ पाता। सम्राट तो वह है जो स्वतन्त्र है, स्वयं के सन्देशों का स्वामी है।

हर मनुष्य सम्राट है, यदि नहीं है तो हो सकता है। हर कोई

सम्राट बने, यही तो मेरा प्रयास है ।

हर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने बन्धनों को समझे और फिर उन्हें गिराये । बन्धन को समझ जाने वाला ही बन्धन-मुक्ति के लिए अपने प्रयासों के पंख खोलता है । बन्धन यदि लोहे और सोने की जंजीरों के होते, तो शायद हम उन्हें बहुत जल्दी देख-समझ लेते । बन्धन तो भीतर के हैं । भीतर के बन्धनों को समझने के लिए भीतर की ही दृष्टि चाहिए । यह प्रज्ञा-क्रान्ति है, चैतन्य-स्फूर्ति है ।

इन्द्रियाँ बाहर के बन्धनों को देखती हैं, समझती हैं । इन्द्रिय-संलग्नता से दो इंच आगे बढ़ो । तभी समझ पाओगे अपने बन्धनों को ।

अन्तर्यात्रा भावनात्मक सफर है । अन्तर्यात्रा के लिए अतीन्द्रिय होना अनिवार्य है । जरा एक विहंगम दृष्टि तो दौड़ाओ बन्धनों पर, बन्धनों-पर-चढ़े-बन्धनों पर । गिनना मुश्किल होगा उन बन्धनों को । घास के ढेर में दबी-गुमी सुई को ढूँढना कठिन जरूर होगा, पर असम्भव नहीं । मकान तुम पर ढह गया, इसका मतलब यह तो नहीं कि तुम मकान से गायब हो गये । मलबे में कहीं फँसे हो तुम । स्वयं के सामर्थ्य से यदि बाहर निकल आओ तो बलिहारी है । नहीं तो सहयोग लो, जीवन के लिए, आत्म-स्वतन्त्रता के लिए ।

जहाज भटक जरूर गया, मगर वो देखो बड़ी दूरी पर कोई मशाल जल रही है । रोशनी की मशाल बनकर, ले चलो स्वयं को उसी प्रकाश-पुँज की ओर । मन के सागर में हमने जीवन की नैया उतार रखी है । नाविक तुम स्वयं हो । अन्तर्-बोधि और अन्तर्-दृष्टि की पतवारें अपने हाथ में थामो । जो मशाल दिखायी दे रही है वही है तुम्हारी प्रगति, वही है तुम्हारी प्रतिष्ठा । भँवर-जाल को देखकर घबराओ मत, घड़ियाल/मगरमच्छ से काँपो मत । मौत भले ही सामने खड़ी हो, पर रोओ मत । घड़ियाली आँसू गिराने से कुछ नहीं होगा । जीवन के लिए कुछ करना होगा । जो बिदक गया, वह खत्म हो गया और जो चल पड़ा साहसपूर्वक, उसने जिनत्व और बुद्धत्व की जोखिम भरी यात्रा पूरी कर ली । हमें चलना है पिंजरे से बाहर आकाश में, नीड़ से विराट में, राम से विराग में और विराग से

वीतराग में । स्वयं के रागात्मक बन्धनों को समझो और अपने चित्त को जीवन के वीतराग-विज्ञान पर ध्यानस्थ करो ।

पंतजलि कहते हैं— 'वीतराग विषयम् वा चित्तम्' । वह चित्त में स्थिर हो जाता है, जो वीतराग को अपना विषय बनाता है ।

मनुष्य का मन्दिर बना रहना चाहिए स्वयं के लिए । मनुष्य के मन्दिर गिरे और राग-द्वेष के खण्डहर उभरे, यह तो जीवन के नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक मापदण्डों से पलायन है । मनुष्य, भगवान का मन्दिर है । यह किसी से चिपकने व टूटने के लिए नहीं है । यह तो परमात्मा के बसने के लिए है, परमात्मा बने रहने के लिए है ।

राग का अर्थ है चिपकना-चोंटना, जैसे चीचड़ गाय के थनों से चोंटता है । राग प्रेम नहीं है । राग और प्रेम में फर्क है । प्रेम चोंटना नहीं है, दो फूलों का परस्पर मिलना है । अपने मन-के-पंजों से किसी से चोंट जाना राग है । द्वेष टूटना है, न केवल टूटना वरन् बौखलाना भी है । राग खतरनाक है पर द्वेष खौफनाक है । द्वेष के बजाय राग से मुक्त होना सरल है । राग वीतरागता में बदले, यह कोई जरूरी नहीं है । राग का विलय द्वेष में होता है । द्वेष से राग समाप्त नहीं होता, वरन् राग द्वेष की परछाई बन जाता है ।

विराग राग के विपरीत है । विराग राग से मुक्त होना नहीं है । वैरागी राग के विपरीत तो हो जाता है; किन्तु बोधपूर्वक नहीं, द्वेष-पूर्वक । चाहे किसी से राग करो या किसी से द्वेष, बन्धन की बेड़ियाँ तो दोनों में ही होंगी । चित्त-वृत्तियों से ऊपर उठने के लिए न तो राग से द्वेष हो और न ही द्वेष से राग हो । वीतराग न तो राग से द्वेष करता है और न द्वेष से राग ।

वीतराग तो जीवन की पराकाष्ठा है । विराग, राग और वीतराग दोनों के बीच का पैँडुलम है । वीतराग होने का अर्थ है राग से ऊपर उठना । राग के विपरीत होना अलग बात है, किन्तु राग से ऊपर उठ जाना द्वेष से भी मुक्त हो जाना है । इसलिए न तो किसी से चोंटो और न ही किसी से वैमनस्य रखो । ऊपर उठना ही शिखर-यात्रा है । पत्तियाँ

रहें तो रहें, काँटे रहें तो रहें, उनसे झगड़ा कैसा ? फूल का काम केवल खुद को खिलाना है । काँटों की ही खबर रखोगे, तो काँटों से ही बिंध जाओगे । फूल खिलता है निजता से, निजत्व के बोध से, स्वयं के सर्वोदय से । ऊपर उठो और खिलो । ध्यान केन्द्रित हो वीतराग पर ।

चित्त की स्थिरता के लिए वीतराग बेहतरीन विषय है । श्रमण-परम्परा ने तो अपना आराध्य उसी को चुना है, जो वीतराग है । वह तो तीर्थकरत्व और सिद्धत्व की अनिवार्य शर्त मानता है वीतरागता को । उसके अनुसार वह हर व्यक्ति अमृत-पुरुष है जो वीतराग है ।

वीतरागता का देवदार-वृक्ष घर में भी खिला सकते हो और साधु-संन्यासियों की तरह गृह-मुक्त होकर भी । वीतराग होने की पहल वही कर सकता है, जिसने जीवन के द्वार पर मृत्यु को पल-प्रति-पल उतरते हुए देख लिया है, जीवन के चारों ओर लगे दुःख-दर्द के घेरे को समझ लिया है । मृत्यु का दर्शन ही जीवन में संन्यास की क्रान्ति है । आगे कदम तभी बढ़ाना, जब स्वयं को काँटों में पाओ । यह बोध ही शून्य में छलांग भरने के लिए बेहद होगा कि घर में आग लगी है और मैं लपटों की व्यूह में फँसा हूँ । आग में हो तो आग से बाहर कूदो । बाहर सावन है । बरसाती रिम-झिम है । सुरक्षा का धरातल है । सब हैं तुम्हारे साथ, पर तुम अपने फूल को उनसे ऊपर ले उठो ।

परिवेश खतरनाक नहीं होता । खतरनाक परिवेश में स्वयं का प्रवेश होता है । संसार में रहना बुरा नहीं है । बुरा तो है स्वयं में संसार को बसा लेना । पानी में रहने के कारण कमल की आलोचना नहीं की जा सकती । कमल का सौरभ और सौन्दर्य तो तब धूल-धुसरित होता है, जब कीचड़ उस पर चढ़ आता है । वीतराग को अपना विषय बना लेने वाला चित्त राग-द्वेष के कर्दम से उपरत हो जाता है । बनें वीतराग, आराध्य हो वीतराग ।



करें, चैतन्य-दर्शन

कर्म का आधार विचार है और विचार का जन्म-स्थान मन है । फसल अंकुरण के कारण है और अंकुरण बीज के कारण । तीनों परस्पर सगे-सम्बन्धी हैं । प्रगाढ़ता इतनी है कि तीन में से किसी एक में होने वाली हलचल शेष को भी प्रभावित करती है ।

मन, वचन, शरीर जड़ भले ही हों, पर चेतना का सारा व्यवसाय इन तीनों की व्यूह-रचना के अन्तर्गत है ।

चित्त चेतना का ही स्तर है । यों समझिये कि चित्त वह कारवां है, जिसमें अच्छे-बुरे के दोस्त-दुश्मन संग-संग चलते हैं । अच्छे-बुरे के बीच होने वाला कलह ही मानसिक तनाव है । ध्यान है चित्त-का-अनुशास्ता । बिना इस अंकुश के चित्त का हाथी काबू से बाहर है । मानसिक स्वास्थ्य तो चित्त के अच्छे-बुरे संकल्पों के नियंत्रण से ही सम्भव है ।

विचार मन की सूक्ष्म तरंग है । कर्म और कुछ नहीं है, मन की सूक्ष्म तरंगों का अभिव्यक्ति है । लकवा खाये मन का कर्म कहाँ ! विचारों की तरंगों की प्रवाह मन के तन्त्र पर निर्भर है । बाहर से सम्पर्क का ईंधन न मिले, तो मन का मौन होना नैसर्गिक है । बिना तेल-पेट्रोल के कैसे चल पायेगा वाहन । ईंधन की कटौती और बढ़ोतरी पर ही वाहन की चाल है ।

मन का परिचय मैं भविष्य की कल्पना से कराऊँगा । चित्त मन से अलग अस्तित्व है । चित्त है अतीत का खण्डहर और मन है भविष्य की कल्पना । वर्तमान अतीत और भविष्य के प्रास्ताविक तथा उपसंहार के बीच का फैलाव है । दृष्टि चाहे अतीत में जाए या भविष्य में, साधक

साध्य से फिसला ही कहलाएगा ।

अतीत चित्त है और भविष्य मन । वर्तमान है— अतीत और भविष्य के मध्यवर्ती मार्ग पर पदचाप ।

वर्तमान व्यक्तित्व है । वर्तमान अतीत बने, भविष्य वर्तमान के द्वार पर दस्तक दे, उससे पहले वर्तमान शाश्वत के लिए पहल कर ले ।

मेरा विश्वास वर्तमान है, वर्तमान में है । वर्तमान में कैसी सुस्ती ! नींद लेने के लिए मना कहाँ है । पर नींद आज ही लेनी क्या जरूरी है ? नींद कल लेनी है, आज तो जागना है — पीले पड़ रहे पत्ते को । आज की जागृति आने वाले कल के लिए सुखद नींद है । समाधि उस नींद का ही तो अपर नाम है ।

समाधि की पहली सीढ़ी सम्बोधि है । समझ के साथ होने वाली जागरूकता ही सम्बोधि की परिभाषा है । अतीत को पढ़ना समझ है और भविष्य को चित्त पर संस्कार की परत के रूप में न जमने देना जागरूकता है । समझ का नाता मस्तिष्क से है, जबकि संस्कार का सम्बन्ध चित्त से है । संस्कार विचारों की लहर है । संस्कारों का काफिला बनता/बढ़ता है चेतना की बाहरी सैर से ।

विचारों का सरोवर शांत सोया रहे, तो अच्छा ही है । उसमें फेंका गया छोटा-सा कंकर मात्र एक ही लहर का कारण नहीं बनता, अपितु वह आंदोलित करता है सम्पूर्ण सरोवर को, सरोवर की ठेठ आखिरी बूंद को । सारा-का-सारा लहरों से तरंगित और विचलित हो उठता है । इसलिए मनुष्य को विचारों से वैसे ही निकल जाना चाहिये जैसे जंगल से रेलगाड़ी निकला करती है ।

वह मित्र गुफा में जाकर बैठा है । क्या यह पलायन है ? पलायन भगोड़े करते हैं । गुफा क्रांति की प्रतीक है । अन्तरराष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए वह योजना-कक्ष है । गुफावास चेतना की वापसी का अभियान है । मन शांत और अकम्प हो जाये, तो शहर भी महागुफा में प्रवेश है । आईनों में फिर खुद के चेहरे की झलक तो मुखर होती है, पर खत्म हो

जाती है प्रतिबिम्बों में बिम्ब को देखने की भावधारा ।

मन विचारों की तरंगों से शरीर को कर्म करने के लिए प्रेरित करे, उससे पहले उसकी दिशा मोड़ देनी चाहिये । प्रत्याहार ही प्राणायाम-से-फैलती प्राण-शक्ति को वापस लौटाता है । प्राणायाम से प्राणों का विस्तार होता है और प्रत्याहार से मूल स्रोत की ओर वापसी ।

बाहर की ओर श्वांस छोड़ना प्राणायाम है, भीतर की ओर श्वांस लेना प्रत्याहार है । प्राणायाम और प्रत्याहार की इस लयबद्धता का नाम ही जीवन है । यदि यही प्रक्रिया चेतना से जुड़ जाये, तो अनन्त उज्ज्वल सम्भावनाएँ साकार हो सकती हैं । व्यक्ति स्वयं को बाहर ले जाए अनन्त तक और भीतर ले जाए शून्य तक । महाजीवन की भगवत् सम्पदा भीतर की शून्यता और बाहर की पूर्णता में है । पहल के लिए जरूरत है प्राण-शक्तियों की, भीतर में बैठक बनाने की । अन्तरशक्तियों को स्थितप्रज्ञ बनाने का नाम ही कुम्भक है ।

चैतन्य-शिखर की यह यात्रा हमारे व्यक्तित्व के क्रिया-तन्त्रों का सम्मान है । शरीर, मन, विचार, चित्त या मस्तिष्क सबकी धमनियों में आखिर मौलिकता किसकी है, मूलतः अन्दर कौन है, किसका प्रवाह है, इसके प्रति जिज्ञासा होनी चाहिये । जिसने यह जानने की चेष्टा की कि मेरा जीवन-स्रोत क्या है, मैं कौन हूँ, वह सम्बोधि-मार्ग का पात्र है । जिज्ञासा सम्बोधि की सहेली है । समाधि तो वहाँ है, जिसकी स्वयं को जानने की चेष्टाएँ सफलता का प्रमाण-पत्र ले चुकी हैं ।

समाधि वह तट है, जिसे पाने के लिए कई तूफानों से लड़ना पड़ सकता है । जो तूफान से जूझने के लिए हर सम्भव प्रस्तुत है, उसके लिए हर लहर सागर का किनारा है ।

समाधि का सागर जीवन से जुदा नहीं है । जीवन और समाधि के बीच कुछ घड़ियों/अरसों का विरह हो सकता है, किन्तु शाश्वत विरह के पदचाप सुनाई नहीं दे सकते । यदि मनुष्य कृतसंकल्प हो और अपने संकल्पों के लिए सर्वतोभावेन समर्पित हो, तो समाधि का नौका-विहार भंवर के तूफानी गड्ढों में भी बेहिचक होता है ।

मुझे तो आखिर वो पाना है जो हकीकत में 'मैं' हूँ। उस 'मैं' की उपलब्धि हो तो महाजीवन के द्वार का उद्घाटन है। यदि मैं की उपलब्धि में मृत्यु भी हो जाए, तो वह मेरे द्वारा मेरे ही लिए होने वाली शहादत है। अरिहंत मेरी ही पराकाष्ठा है और अरिहंत की मृत्यु, मृत्यु नहीं, वरन् महाजीवन का महा-महोत्सव है। मैं ऐसी ही मजार का दिया जला रहा हूँ, जो जीवन को मृत्यु-मुक्त रोशनी दे। हमें पार होना है हर घेरे से, हर सीमा से, हर पर्दे से। आखिर असीम सीमा के पार ही मिल सकता है। सीमाओं के पार चलने के लिए स्वयं को दिया जाने वाला प्रोत्साहन ही जीवन का संन्यास है। यदि फैलाना हो तुम्हें अपने आपको, तो हाथ को ले जाओ अनन्त तक। यदि विस्तार से ऊब गये हो तो लौटा लाओ स्वयं को जीवन के महाशून्य में; बसा है जो शरीर-के-पार, विचार-के-पार, मन-के-पार।

शरीर का तादात्म्य दूटना ही विदेह-अनुभूति है। विचारों द्वारा मौनव्रत लेना ही जीवन में मुनित्व का आयोजन है।

मन के पार चलना ही अन्तरात्मा में आरोहण के लिए 'सिगनल' पाना है। 'मैं' तो मन से भी दो कदम आगे है। मुझे तो अभी तक पार करनी है कई सीढ़ियाँ।

आत्म-स्रोत रूंधा पड़ा है मन, वचन और शरीर के तादात्म्य की काली चट्टानों से। चट्टानों को हटाना ही स्रोत के विमोचन का आधार है। सौन्दर्य-दर्शन के लिए पर्दों और घुंघटों का उघाड़ना अनिवार्य है।

शरीर को अपने अनुशासन में रखने के लिए हठ-योग है और मन की वैचारिक फुदफुदी पर नियंत्रण पाने के लिए मंत्रयोग है। जिनका शरीर पर नियंत्रण है और विचारों पर अनुशासन है, वे बिना आसन और मंत्र-साधना के भी योगी हैं। सत्य तो यह है कि जीवन के बाहरी और भीतरी परिवेश पर नियंत्रण करना ही जीवन-योग से मुलाकात है। जीवन-योग हर योग से ऊँचा है। राज-योग जीवन-योग से दो इंच ऊपर नहीं है। जीवन-योग को साधने के लिए राज-योग है। विपश्यना या प्रेक्षा भी जीवन-योग के लिए है।

जीवन-योग का मतलब है उस तत्त्व से मिलन जो सिर्फ व्यक्ति के जीते-जी ही जीवित नहीं रहता है, अपितु मृत्यु के बाद भी जिसका अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं किया जा सकता। वह आत्म-तत्त्व ही जीवन-योग का आधार है। मृत्यु सत्य नहीं, मृत्यु एक झूठ है। उसकी पहुँच चोलों के परिवर्तन तक सीमित है। मैं तो पार हूँ मृत्यु की हर पैठ के।

शरीर, विचार और मन पदार्थ हैं, जबकि आत्मा ऊर्जा। अपनी ऊर्जा को अपने लिए समग्रता से उपयोग करना ही अन्तर-यात्रा है। इस यात्रा की शुरुआत है अपने आप से। मित्र ! जरा पूछो स्वयं से 'मैं कौन हूँ' ?

मैं कौन हूँ— यह मंत्र नहीं है, यह जिज्ञासा है। मैं अहंकार का प्रतीक नहीं है, बल्कि मैं उस संभावना को संबोधन है, जिसकी मौलिकता जीवन के नखशिख तक जुड़ी है। जीवन की एकाग्रता अपनी समग्रता के कन्धे पर मैं से ही फली-फूली है। मैं अहंकार का रूप तब लेता है, जब उसका पोषण जीवन के बाहरी परिवेश से होता है। जहाँ भाषा अन्तर्-जीवन से मैं की परिभाषा पूछती है, वहाँ तो उल्टा अहंकार दुलती मार खा बैठता है; किन्तु जहाँ अहंकार का मस्तक झुकता है, वहीं स्वयं से स्वयं की मौलिकता पूछने का भाव जन्मता है।

'मैं' पार है— मेरे शरीर से, मेरे विचार से, मेरे मन से। अन्तर् में आरोहण मन, वचन और शरीर की हर गतिविधि के पार है, इसलिए अपने आपसे यह पूछना मैं कौन हूँ। हत्तंत्री के तार-तार में 'मैं कौन हूँ' के मार्के का संगीत त्वरा से झंकृत करना अहम् से जन्मे 'मैं' को खुली चोट है। यह चोट जीवन के मौलिक 'मैं' की खोज का प्रयास है। अपने आप से पूछा जाने वाला यह प्रश्न चैतन्य-दर्शन के लिप्टे अपनी जिज्ञासा को प्रकट करता है।

जीवन की देहलीज पर आत्म-जागरण का प्रहरी चौबीस घण्टे लगाना जरूरी है। साधना जीवन से अलग-थलग नहीं है। जीवन जीवन्तता का परिचय-पत्र है और जीवन्तता जागरण की सगी बहिन है। जागरण और जीवन्तता की आपसपूरी का व्यवहार बिना किसी ननुनच के निभाना ही होता है। सोने का जागरण से कैसा संबंध ? दुश्मन को तो दूर से ही सलामी

अच्छी है। शरीर के द्वारा ली जाने वाली नींद तो शरीर का भोजन है, किन्तु अन्तःकरण द्वारा ली जाने वाली उबासियाँ प्रमत्तता की पृष्ठभूमि है। समाधि तो जागती हुई नींद का नाम है। समाधि एक ऐसी निमग्नता है, जिसमें जगी हुई नींद के सिवा कुछ भी नहीं बचता।

समाधि को जीवन की परछाई बनाने के लिए हमें जागरूकता के साथ सम को जीवन का हृदय बनाना होगा। सम की जरूरत है जीवन में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों में स्वयं को अनुद्विग्न और असन्तुलित होने से रोकने के लिए। सम का उपयोग है सन्तुलन के लिए।

जीवन की जमीन काफी उबड़-खाबड़ है। रोड़ों और भाटों की किलेबन्दी यहाँ कदम-कदम पर है। जीवन के मार्ग पर अवरोधक चिह्न आने नामुमकिन नहीं है, किन्तु उन अवरोधों से विचलित हुए बिना लक्ष्य की ओर बढ़ते चलना आत्म-संकल्पों के लिए साहसपूर्वक संघर्ष करना है।

जीवन में आने वाली हर सफलता और असफलता, अनुकूलता और प्रतिकूलता की दायीं-बायीं दिशाओं में स्वयं का अन्तर्-संतुलन बनाये रखना ही समाधि की व्यावहारिकता है। क्या तुमने नहीं देखा है बांस से बंधी रस्सियों पर नाच करते किसी कलाकार को? दायें-बायें के बीच संतुलन ही जीवन के रस्सी-नृत्य का आधार है।

इसलिए सम को जीवन का अभिन्न अंग बनाने वाला ही तनाव-मुक्त शांति-साम्राज्य में प्रवेश पाने का अधिकारी है। आखिर समाधि भी सम का ही विस्तार है। संवर भी सम से ही बना है। सम्यक्त्व और सम्बोधि भी सम की गोदी में ही किलकारियाँ भरते हैं। मन, वचन और काया की हर प्रवृत्ति के मध्य यदि सम को ही मध्यवर्ती बना दिया जाए, तो भौतिकता भी आध्यात्मिकता में लील जाएगी। मन, वचन, काया और कर्म का अन्तरात्मा से जगने वाला प्यार ही चैतन्य-दर्शन की प्राथमिक भूमिका है।



अन्तिम चरण – पूर्ण मुक्ति

योग हमारे जीवन की अस्मिता है । इस बात पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो या न हो, परन्तु योग का विरह जीवन के आँगन में सम्भव नहीं है । जगत चाहे भीतर का हो या बाहर का, सारे आयोजन योग के कारण हैं ।

अस्तित्व का हर अंश योगी है । योग का अर्थ है, जुड़ना । बहिर्जगत से जुड़ना भी योग है और अन्तर्जगत से जुड़ना भी । बहिर्जगत से मतलब उस जगत से है— जिसके साथ हमारे अपने बनाये हुए सम्बन्ध हैं । अन्तर्जगत का अर्थ शरीर के भीतरी भाग से नहीं है । जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, वह भीतरी रूप को धारण करके भी बहिर्जगत का ही अन्तःपुर कहलाएगा ।

शरीर, बहिर्जगत की देन है । माता-पिता से शरीर प्राप्त हुआ, इसलिए शरीर अन्तर्जगत नहीं है । वचन और मन भी अन्तर्जगत नहीं कहलाएंगे । महावीर ने उसे बहिरात्मा कहा है— जो मन, वचन और शरीर के परिवेश में जीता है । महावीर का मानना है कि परमात्मा का ध्यान तभी हो सकता है, जब व्यक्ति मन, वचन और काया के बहिरात्मपन से ऊपर ऊठकर अन्तरात्मा के गन्तव्य का सच्चा मुसाफिर है ।

मनुष्य बनाम आत्मा के तीन रूप हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । बहिरात्मा बाह्य जगत का योग है । अन्तरात्मा अन्तर्जगत का योग है । परमात्मा योग-मुक्ति है । वहाँ भीतर और बाहर के भेद नहीं रह जाते । जो भीतर भी परमात्मा को निहारे और बाहर भी चारों ओर परमात्मा-ही-परमात्मा को नजर मुहैया करे, वही परमात्म-पद पर प्रतिष्ठित है । वह ऐसा दीया है, जो देहरी पर विराजमान है । रोशनी की बरसात,

वह बाहर भी वैसी ही करेगा जैसी भीतर । इसलिए परमात्मा परम विकास है— अन्तःबाह्य का ।

अन्तर्जगत की मौलिक अस्मिता, विचार और मन से भी सवा कदम आगे है । मन शरीर है । मात्र देह ही शरीर नहीं है । हमारे विचार और हमारा मन भी शरीर के ही दायरे में आते हैं । देह स्थूल शरीर है । विचार देह से सूक्ष्म है । मन शरीर का सबसे सूक्ष्मतम रूप है । शरीर तो परमाणुओं का, पंचभूतों का मिश्रित संगठित, सम्पादित रूप है । मन शरीर की पारमाणविक शक्ति है । जैसे-जैसे शरीर का विकास होता है, उग्र का तकाजा मन पर भी लागू होता है ।

मन, वचन और शरीर ही बहिर्जगत के योग के आधार हैं । यदि इन्हें सम्यक् दिशा दे दी जाये, तो ये अन्तर्योग में भी सहायक की भूमिका अदा कर सकते हैं । अध्यात्म की भाषा में अन्तर्योग के लिए देहातीत शब्द का उल्लेख किया जाता है । देहातीत का अर्थ देह की स्थूलता से ऊपर उठना नहीं है । साधक को उपरत होना होता है, देह से भी और मन से भी । आखिर मन भी देह है और विचार भी । देहातीत कैवल्य-दशा है । वही व्यक्ति देहातीत है, जो है मनातीत, वचनातीत, कायातीत ।

देहातीत अनिवार्यतः कालातीत होता है । देहातीत का सम्बन्ध होता है आत्मा से और काल का सम्बन्ध होता है देह से । काल आत्मा को कुण्ठित नहीं कर सकता । काल का धर्म परिवर्तन है और परिवर्तन के सारे मापदण्ड देह से जुड़े होते हैं । जो देह से ऊपर उठ गया, वह काल से भी ऊपर हो गया । इसलिए देहातीत-पुरुष युग-पुरुष नहीं होता । वह होता है— अमर पुरुष, मृत्युंजय, अमृत-पुरुष ।

यद्यपि बहिर्जगत से होने वाला संयोग योग की ही पृष्ठभूमि है, परन्तु वह योग कालातीत और अपरिवर्तनशील नहीं है । जिसकी देह गई, उसका जग गया, देह जग से मिली और जग में समा गयी । देह में प्रवास करने वाला 'मैं' तो देह के साथ नहीं मरा । मैं तो कालमुक्त है और देह कालग्रस्त । शरीर और जगत् के साथ होने वाला योग आरोपित है । ध्रुवता के गीत ऐसे योग में झंकृत नहीं होते । साथ तो आखिर वह रहता

है, जो जन्म से पहले भी जीवित था और मृत्यु के बाद भी संजीवित रहेगा ।

जीवन में विभिन्न भूमिकाओं को देखते हुए, योग भी कई सांचों में ढला हुआ नजर आता है । बहिर्योग, अन्तर्योग और परमयोग, योग के ही प्रतिमान हैं । बहिर्योग बाहर के जगत से जुड़ना है । अन्तर्योग भीतर की ओर बैठक लगाना है । परमयोग भीतर और बाहर दोनों को ही भूल जाना है, अपने आपको परमात्मा में दूँढना/निहारना है । यह योग की पराकाष्ठा है । मुझे यह स्थिति बहुत प्यारी है । परन्तु यहाँ से आगे भी एक और स्थिति की सम्भावना है, मैं उसे योग न कहकर 'अयोग' कहूँगा ।

अयोग में सारे योग पीछे धकिया जाते हैं । संसार और शरीर का ही नहीं, परमात्मा के प्यार का भी यहाँ वियोग हो जाता है । परमयोग परमात्मा से प्यार है, परन्तु अयोग स्वयं परमात्मा हो जाना है । यह विशुद्ध कैवल्य-दशा है ।

कैवल्य का अर्थ है केवलता । यह वह परास्थिति है, जहाँ 'मैं' तो छूट ही जाता है, 'हूँ' भी पीछे रह जाता है । यहाँ रहती है, अस्तित्व-की-विशुद्धता, खुद-की-खालिसता ।

कैवल्य-स्थिति के लिए एक और प्रचलित शब्द है सर्वज्ञता । सर्वज्ञता का अर्थ होता है स्वयं की सर्वसत्ता का ज्ञान । यद्यपि सर्वज्ञता और कैवल्य दोनों एक ही घटना के एक नाम कहे जाते हैं, पर मुझे कैवल्य सर्वज्ञता से भी ऊंची चीज लगती है । ज्ञान चाहे स्वयं का ही क्यों न हो, ज्ञान की अनुभूति के लिए मन का संवेदनशील होना अनिवार्य है । इसलिए सर्वज्ञता अन्तर-योग और परम योग हो सकता है, परन्तु अयोग का विशुद्ध रूप तो कैवल्य की ही उपज है । समाधि तो सर्वज्ञता भी है और कैवल्य भी । सर्वज्ञता की स्थिति सबीज समाधि है और कैवल्य निर्बीज समाधि है ।

सबीज समाधि में स्मृति से वियोग नहीं होता, स्मृति का शुद्धिकरण होता है । मन की चंचलता समाप्त हो जाती है, परन्तु जरूरत पड़ने पर मन का भी उपयोग किया जाता है । विचार मौन हो जाते हैं, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर होठों से अभिव्यक्ति सम्भावित रहती है । सर्वज्ञता

बनाम सबीज समाधि में शरीर, विचार और मन तीनों ही बने तो रहते हैं, टूट जाता है सिर्फ तीनों का लगाव । बुद्धि का भी उपयोग होता है । यह वह बुद्धि नहीं है, जिसके खाते में सुमरने-बिसरने की नीतियाँ दर्ज हों । बुद्धि प्रज्ञा बन जाती है— सवितर्क, सम्प्रज्ञात, सानन्द, सदाबहार । वहाँ होती है प्रज्ञा ऋतम्भरा, यानि पूरी तरह विकसित/प्रकाशित— 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' ।

कैवल्य सबसे मुक्ति है, सारे सम्बन्धों से छुटकारा है । कैवल्य वह समाधि है, जिसमें वृक्ष तो रहता ही नहीं है, बीज भी खो जाता है । इसलिए कैवल्य वास्तव में निर्बीज समाधि है । कैवल्य तो अध्यात्म-प्रसाद है । अस्तित्व का सबसे बड़ा सौभाग्य है । कैवल्य वह स्थिति है, जिसके आगे और कोई गन्तव्य नहीं बचता । जहाँ जाकर सारे चरण रुक जाते हैं, बुद्धि अपने हथियार डाल देती है, तर्क तेजहीन हो जाते हैं, मन की चिंता बुझ जाती है ।

जहाँ सबका निरोध हो जाता है, सिर्फ स्वयं की मौलिकता बची रहती है, कृष्ण की भाषा में वह ईश्वर-प्राप्ति है, महावीर के शब्दों में वह मोक्ष है । बुद्ध उसे निर्वाण कहते हैं और पंतजलि उसे निर्बीज समाधि । ये सारे सम्बोधन घुमा-फिराकर उसी एक स्वरूप के उपनाम हैं, जिसे मैंने 'कैवल्य' कहा है, पूर्ण मुक्ति ।



जितयशा फाउंडेशन का उपलब्ध साहित्य (मात्र लागत मूल्य पर)

फाउंडेशन का साहित्य सदाचार एवं सद्दिचार का प्रवर्तन करता है। इस परिपत्र में जोड़ा गया साहित्य अलौकिक है, जीवन्त है। इस जीवन्त साहित्य को आप स्वयं संग्रहीत कर सकते हैं, मित्रों को उपहार के रूप में दे सकते हैं। इन अनमोल पुस्तकों के प्रचार/प्रसार के लिए आप सस्नेह आमंत्रित हैं।

ध्यान/अध्यात्म/चिन्तन

अप्य दीवो भवः महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

श्री चन्द्रप्रभ के अनमोल वचनों का संकलन; जीवन, जगत् और अध्यात्म के विभिन्न आयामों को उजागर करता चिन्तन कोष। पृष्ठ ११२, मूल्य १५/-

चलें, मन के पार : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

विश्व-स्तर पर प्रशंसित ग्रन्थ, जिसमें दरशाये गये हैं मनुष्य के अन्तर्-जगत् के परिदृश्य; सक्रिय एवं तनाव-रहित जीवन प्रशस्त करने वाला एक मनोवैज्ञानिक युगीन ग्रन्थ। पृष्ठ ३००, मूल्य ३०/-

व्यक्तित्व-विकास : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

हमारा व्यक्तित्व ही हमारी पहचान है, तथ्य को उजागर करने वाली पुस्तक, जो बचपन से पचपन की हर उम्र वालों के लिए उपयोगी। एक बाल-मनोवैज्ञानिक प्रकाशन। पृष्ठ ११२, मूल्य १०/-

संसार और समाधि : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

संसार पर इतना खूबसूरत प्रस्तुतीकरण पहली बार। संसार की क्षणभंगुरता में शाश्वतता की पहल। यह किताब बताती है कि संसार में रहना बुरा नहीं है। अपने दिल में संसार को बसा लेना वैसा ही अहितकर है, जैसे कमल पर कीचड़ का चढ़ना। पृष्ठ १६८, मूल्य १५/-

संभावनाओं से साक्षात्कार : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अस्तित्व की अनंत संभावनाओं से सीधा संवाद। पृष्ठ ९२, मूल्य १०/-

ज्योति जले बिन बाती : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

ध्यान-साधकों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक, जिसमें है ध्यान-योग की हर बारीकी का मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन। पृष्ठ १०८, मूल्य १०/-

आंगन में आकाश : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

तीस प्रवचनों का अनुठा आध्यात्मिक संकलन, जो आम आदमी को भी प्रबुद्ध करता है और जोड़ता है उसे अस्तित्व की सत्यता से। पृष्ठ २००, मूल्य २०/-

जीवन-यात्रा : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

सुप्रसिद्ध प्रवचनकार श्री चन्द्रप्रभ के मानक प्रवचनों का अनोखा संकलन। जीवन

के हर क्षितिज में कदम-कदम पर राह दिखाने वाला यात्रा-स्तम्भ । मौलिक जगत् में जीने वालों के लिए विशेष उपयोगी । पृष्ठ ३८६, मूल्य ५०/-

प्रेम के बन्ध में है भगवान : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर एक प्यारी पुस्तक, जिसे पढ़े बिना मनुष्य का प्रेम अधूरा है । पृष्ठ ४८, मूल्य ३/-

जित देखूँ तित तूँ : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर ईश्वर-प्रणिधान पर अनुपमेय पुस्तिका । अस्तित्व के प्रत्येक अणु में परमात्म-शक्ति को उपजाने का श्लाघनीय प्रयत्न । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

चलें, बन्धन के पार : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर बन्धन-मुक्ति के लिए क्रान्तिकारी सन्देश । प्रवचनों में है बन्धन की पहचान और मुक्ति का निदान । आम नागरिक के लिए उपयोगी । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

वही कहता हूँ : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर अध्यात्म के उपदेष्टा ललितप्रभजी के दैनिक समाचार-पत्रों में प्रकाशित स्तरीय प्रवचनांशों का संकलन, लोकोपयोगी प्रकाशन । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

शिवोऽहम् : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर ध्यान की ऊँचाइयों को आत्मसात् करने के लिए एक तनाव-मुक्त स्वस्थ मार्गदर्शन । जीवन-कल्प के लिए एक बेहतरीन पुस्तक । पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

विराट सच की खोज में : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर सत्य की अनन्त संभावनाओं को दर्शाने वाला एक ज्योतिर्मय चिंतन । पृष्ठ ६४, मूल्य ६/-

आत्म-दर्शन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर समस्त साधकों की साधना का सार है आत्म-दर्शन । अखिल भारतीय विद्वत् परिषद की प्रशस्त प्रकाशन-प्रस्तुति । पृष्ठ ४०, मूल्य २/-

तुम मुक्त हो, अतिमुक्त : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर समस्त विश्व के लिए नवसृजन का आह्वान । आत्म-क्रान्ति के अमृतसूत्र । पृष्ठ १००, मूल्य ७/-

रोम-रोम रस पीजे : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर जीवन के हर कदम पर मार्ग दर्शाते चिन्तन-सूत्रों का बेहतरीन दस्तावेज । थोड़े शब्द, अनमोल विचार । पृष्ठ ८८, मूल्य १०/-

ध्यान : क्यों और कैसे : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर हमारे सामाजिक जीवन में ध्यान की क्या जरूरत है, ध्यान का तरीका क्या हो सकता है, इस सम्बन्ध में सीधी और स्वच्छ राह दिखाती एक शालीन पुस्तक । पृष्ठ ८६, मूल्य १०/-

प्रेम और शान्ति : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर मन की शान्ति एवं सुख की उपलब्धि के लिए एक प्रज्ञा-मनीषी द्वारा मार्गदर्शन । कम पत्रों में ज्यादा सामग्री । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

महक उठे जीवन-बदरीवन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
व्यक्तित्व के निर्माण एवं समाज के विकास के लिए बुनियादी बातों का खुलासा ।
पढ़िये जीवन को चमन करने के लिए । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

तीर्थ और मन्दिर : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
तीर्थ और मंदिर केवल श्रद्धास्थल हैं या और भी कुछ ? जानकारी के लिए पढ़िये
यही पुस्तक । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

अमृत-संदेश : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
सद्गुरु श्री चन्द्रप्रभ के अमृत-संदेशों का सार-संकलन । पृष्ठ ५६, मूल्य ३/-

प्याले में तूफान : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
इन्सानियत एवं समाज में आई कमियों की ओर इशारा, आम आदमी से लेकर
सम्पूर्ण विश्व के दिल में भड़कते तूफान का बेबाक आकलन; सभी लेख स्तरीय
और अनिवार्यतः पठनीय । पृष्ठ ९०, मूल्य १०/-

पयुर्षण-प्रवचन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
पयुर्षण-महापर्व के प्रवचनों को घर-घर पहुँचाने के लिए एक प्यारा प्रकाशन;
भाषा सरल, प्रस्तुति मनोवैज्ञानिक । पढ़ें कल्पसूत्र को अपनी भाषा में ।
पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

ध्यान : प्रयोग और परिणाम : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
ध्यान के विभिन्न पहलुओं पर जीवन्त विवेचन । भगवान महावीर की निजी
साधना-पद्धति का स्पष्टीकरण । पृष्ठ ११२, मूल्य १०/-

लाईट-दू-लाईट : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
ध्यान में अभिरुचिशील लोगों के लिए 'माइल-स्टोन' । विश्व के दूर-दराज तक
फैली ध्यान-पुस्तिका । पृष्ठ ९२, मूल्य १०/-

द प्रिजर्विंग ऑफ लाइफ : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
मानव-चेतन के विकास के हर संभव पहलू पर प्रकाश । पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

आगम/शोध/कोश

आयार-सुतं : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
एक आदर्श धर्म-ग्रन्थ का मूल एवं हिन्दी अनुवाद के साथ अभिनव प्रकाशन, जो
सद्दिचार के सूत्रों में सदाचार का प्रवर्तन करता है । शुद्ध मूलानुगामी अनुवाद
छात्रों के लिए विशेष उपयोगी । ग्रन्थ का फैलाव सीमित, किन्तु प्रस्तुतीकरण
सर्वोच्च । विज्ञान एवं चिन्तन के क्षेत्र में एक खोज । पृष्ठ २६०, मूल्य ३०/-

समवाय-सुतं : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
विश्वविद्यालय-पाठ्यक्रम के स्तर पर तैयार किया गया जैन-आगम समवायांग
का सीधा-सपाट मूलानुगामी अनुवाद । पृष्ठ ३१८, मूल्य ३०/-

खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
जैन धर्म की क्रांतिकारी परंपरा का दस्तावेज; खरतरगच्छ द्वारा विचार-शुद्धि एवं

आचार-शुद्धि के लिए की गई पहल का ऐतिहासिक विवरण । खरतरगच्छ
महासंघ, दिल्ली का पठनीय प्रकाशन । पृष्ठ २६०, मूल्य ३०/-

चन्द्रप्रभ : जीवन और साहित्य : डॉ. नागेन्द्र
महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर जी की साहित्यिक सेवाओं का विस्तृत लेखा-जोखा ।
एक समीक्षात्मक अध्ययन । पृष्ठ १६०, मूल्य १५/-

उपाध्याय देवचन्द्र : जीवन, साहित्य और विचार : महो. ललितप्रभ सागर
महान् तत्त्वविद् उपाध्याय श्रीमद् देवचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विभिन्न
पहलुओं पर प्रशस्त प्रकाश डालने वाला एक शोध प्रबन्ध ।
पृष्ठ ३२०, मूल्य ५०/-

हिन्दी सूक्ति-सन्दर्भ कोश : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
हिन्दी के सुविस्तृत साहित्य से सूक्तियों का ससन्दर्भ संकलन; भारतीय सन्तों एवं
मनीषियों के चिन्तन एवं वक्तव्यों का सारगर्भित सम्पादन; आम पाठकों के
अलावा लेखकों के लिए खास कारगर; एक आवश्यकता की वैज्ञानिक आपूर्ति ।
दो भागों में । पृष्ठ ७५०, मूल्य १००/-

पंच संदेह : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
पुस्तक में है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर कालजयी
सूक्तियों का अनूठा सम्पादन । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

सन्त-वाणी

महाजीवन की खोज : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
आचार्य कुन्दकुन्द, योगीराज आनंदघन एवं श्रीमद् राजचन्द्र जैसे अमृत-पुरुषों के
चुने हुए अध्यात्म-पदों पर बेबाक खुलासा । घर-घर पठनीय प्रवचन-संग्रह । हर
मुमुक्षु एवं साधक के लिए उपयोगी । पृष्ठ १४८, मूल्य १०/-

बूझो नाम हमारा : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर
योगीराज आनंदघन के पदों पर किया गया मनोवैज्ञानिक विवेचन, जो पाठक का
मौलिक व्यक्तित्व से परिचय करवाता है । पृष्ठ ६८, मूल्य ४/-

देह में देहातीत : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
प्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता आचार्य कुन्दकुन्द की टेढ़ी गाथाओं पर सीधा संवाद ।
विशिष्ट प्रवचन । पृष्ठ ७२, मूल्य ५/-

भगवत्ता फैली सब ओर : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
आचार्य कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड़ ग्रन्थ से ली गई आठ गाथाओं पर बड़ी मार्मिक
उद्भावना । इसे तन्मयतापूर्वक पढ़ने से जीवन-क्रांति और चैतन्य-आरोहण बहुत
कुछ सम्भव । पृष्ठ १००, मूल्य १०/-

सहज मिले अविनाशी : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
पतंजलि के प्रमुख योग-सूत्रों पर पुनर्प्रकाश; योग की एक अनूठी पुस्तक ।
पृष्ठ ९२, मूल्य १०/-

अंतर के पट खोल : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
पतंजलि के दस सूत्रों पर पुनर्प्रकाश; योग की अनूठी पुस्तक । पृष्ठ ११२, मूल्य ७/-
हंसा तो मोती चुगै : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर
भगवान महावीर के कुछ अध्यात्म-सूत्रों पर सामयिक प्रवचन ।

पृष्ठ ८८, मूल्य १०/-

कथा-कहानी

सिलसिला : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

कहानी-जगत की अनेक आजाद वारदातें, पशोपेश में पड़े इंसान के विकल्प को तलाशती दास्तान । बालमन, युवापीढ़ी, प्रौढ़ बुजुर्गों के अन्तर्मन को समान रूप से छूने वाली कहानियों का संकलन । पृष्ठ ११०, मूल्य १०/-

संसार में समाधि : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

समाधि के फूल संसार में कैसे खिल सकते हैं, सच्चे घटनाक्रमों के द्वारा उसी का सहज विन्यास । हर कौम के लिए शान्ति और समाधि का संदेश ।

पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

लोकप्रिय कहानियाँ : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

जैन संस्कृति को उजागर करने वाली सुप्रसिद्ध कथा-कहानियों का सार-संक्षेप । सहज भाषा में जैनत्व की धड़कन । पृष्ठ ४८, मूल्य ३/-

संत हरिकेशबल : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अस्पृश्यता-निवारण के लिए बोलती एक रंगीन कहानी । बच्चों के लिए सौ फीसदी उपयोगी । पृष्ठ २४, मूल्य ४/-

दादा दत्त गुरु : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

पहले दादा गुरुदेव आचार्य जिनदत्तसूरि की सर्वप्रथम प्रकाशित चित्र-कथा; ज्ञानवर्धक, रोचक भी । पृष्ठ २४, मूल्य ४/-

सत्य, सौन्दर्य और हम : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

सुन्दर, सरस प्रसंग, जिनमें सच्चाई भी है और युग की पहचान भी ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

घट-घट दीप जले : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित चन्द्रप्रभजी की उन कहानियों का संकलन, जिनमें जीवन-दीप की आत्मा हर शब्द में फैल रही है । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

कुछ कलियाँ, कुछ फूल : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

संसार के विभिन्न कोनों में हुए सदगुरुओं की उन घटनाओं का लेखन, जिनमें छिपे हैं जीवन-क्रान्ति और विश्व-शान्ति के सन्देश । पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

काव्य-कविता

बिम्ब-प्रतिबिम्ब : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

जीवन की उधेड़बुन को प्रस्तुत करने वाली एक सशक्त प्रौढ़ काव्य-कृति । सत्य के संगान का अभिनव प्रयत्न । पृष्ठ ८४, मूल्य ७/-

छायातप : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

अदृश्य प्रियतम की कल्पना की रंगीन बारीकियों का मनोज्ञ चित्रण । रहस्यमयी छायावादी कविताओं का एक और अभिनव प्रस्तुतिकरण ।

पृष्ठ १०८, मूल्य १०/-

जिन-शासन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

एक अनूठी काव्यकृति, जिसमें है सम्पूर्ण जैन शासन का मार्ग-दर्शन । काव्य-शैली में जैनत्व को समग्रता से प्रस्तुत करने वाला एक मात्र सम्पूर्ण प्रयास ।

पृष्ठ ८०, मूल्य ३/-

अधर में नटका अध्यात्म : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

दिल की गहराइयों को छू जाने वाली एक विशिष्ट काव्यकृति । पढ़िए, मस्तिष्क के परिमार्जन एवं जीवन के सम्यक् संस्कार के लिए ।

पृष्ठ १५२, मूल्य ७/-

• गीत-भजन-स्तोत्र

प्रार्थना : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

चौबीस तीर्थंकरों की भक्ति-वन्दना; नई लयों में रस-भावों की अभिव्यक्ति । प्रत्येक तीर्थंकर के नाम स्वतंत्र प्रार्थना और भजन ।

पृष्ठ ५२, मूल्य ५/-

महान् जैन स्तोत्र : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

अत्यन्त प्रभावशाली एवं चमत्कारी जैन स्तोत्रों का विशाल संग्रह ।

पृष्ठ १२०, मूल्य १०/-

श्रद्धांजलि : महोपाध्याय ललितप्रभ सागर

भजनों और गीतों का सम्पूर्ण संग्रह । प्रभात-वन्दना एवं भजन-संध्या में नित्य उपयोगी ।

पृष्ठ ३२, मूल्य २/-

जैन भजन : महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर

लोकप्रिय तर्जों पर निर्मित भावपूर्ण गीत-भजन । छोटी, किन्तु प्यारी पुस्तक ।

पृष्ठ ४८, मूल्य २/-



रजिस्ट्री चार्ज एक पुस्तक पर ८/-, सम्पूर्ण सेट डाक-व्यय से मुक्त । धनराशि श्री जितयशाश्री फाउंडेशन (SRI JIT-YASHA SHREE FOUNDATION) कलकत्ता के नाम पर बैंक-ड्राफ्ट या मनीआर्डर द्वारा भेजें । आज ही लिखें और अपना ऑर्डर भेजें ।

:::: सम्पर्क सूत्र :::

श्री जितयशाश्री फाउंडेशन

९ सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट, (रूम नं. २८) कलकत्ता - ७०० ०६९

दूरभाष : २०-८७२५/३५०-०४१४

[६]

